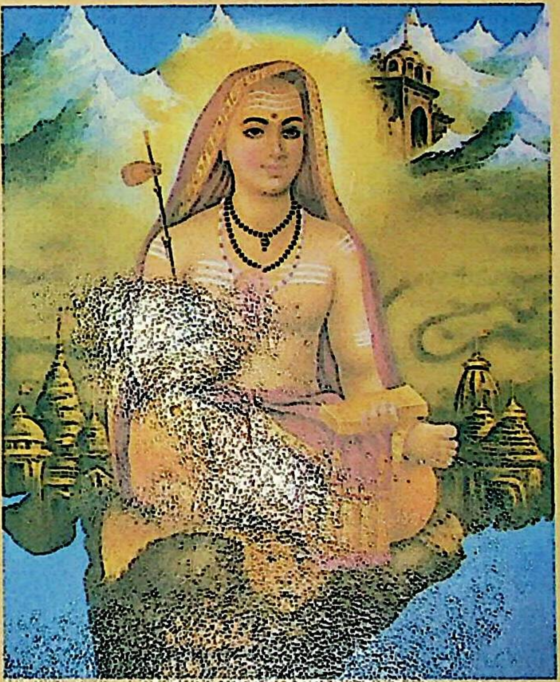
॥ श्रीमदभिनवचन्द्रेश्वरो विजयतेतराम् ॥

तैत्तिरीयोपनिषत्

(TAITTIRIYOPANISHAD)

सटिप्पणसंस्कृतहिन्दीटीकाद्वयसंवलितशाङ्करभाष्यसमेता



जगद्गुरु भगवत् [illegible] भगवत्पाद

'विद्यानन्दीमिताक्षरा' व्याख्याकार [illegible] एवं निर्देशक

श्रीकैलासपीठाधीश्वर [illegible] आचार्य महामण्डलेश्वर

श्रीमत्स्वामी विद्यानन्द गिरि [illegible], वेदान्त-सर्वदर्शनाचार्य

चतुर्थ कैलासपीठाधीश्वर

आचार्य म. मं. स्वामी गोविन्दानन्द गिरि जी महाराज



स्वामी गोविन्दानन्द गिरि जी महाराज का जन्म अविभाजित भारत के पञ्जाब प्रदेश के जेहलम जनपद में हुआ था। काशी में सम्पूर्ण व्याकरण शास्त्र के अध्ययन के बाद कई वर्षों तक उसी पावन नगरी में अध्यापन कार्य में आप संलग्न रहे। तत्पश्चात् वेदान्त अध्ययन की अभिलाषा से आप कैलास आश्रम के संस्थापक स्वनाम धन्य आचार्य महा-मण्डलेश्वर अनन्त श्री स्वामी धनराज गिरि जी महाराज के पास ऋषिकेश आये। आचार्य श्री से संन्यास दीक्षा ग्रहण कर विधिवत् प्रस्थान त्रयी का अध्ययन आपने किया। असाधारण मेधा शक्ति सम्पन्न आपको प्रस्थान त्रयी भाष्य कण्ठ थे, अतः नेत्रबन्द कर आप इसकी आवृत्ति किया करते थे। आप अध्ययन की गहराईयों में उतर कर यथार्थ की खोज करते रहते जिसके फलस्वरूप ग्रन्थों के पाठ संशोधन तथा टिप्पण लिखने में आपकी प्रवृत्ति हुई। इस क्रम में आपने प्रस्थान त्रयी मूलपाठ, शांकर भाष्य आनन्द गिरि टीकादि तथा अन्य ग्रन्थों पर अपनी प्रासादिक टिप्पणियाँ लिखीं। फलतः विशुद्ध शांकर सम्प्रदायानुसार अध्ययन में सटिप्पण अध्ययन का एक नया क्रम कैलास आश्रम में आप द्वारा प्रवर्तित हुआ। आपके विद्यार्थियों में सर्वाधिक स्नेहभाजन स्वामी विष्णुदेवानन्द गिरि जी थे जिनको आपने अपनी अमूल्य विद्या निधि को सौंपा तथा उन्हें विद्यावाचस्पति की उपाधि से अलंकृत किया। आपका आशीर्वाद प्राप्त कर उन्होंने आपसे अधीत टिप्पणियों का परिष्कार कर उन्हें शास्त्रों में यथा स्थान स्वलेखिनी द्वार पुनः अंकित किया। कैलास आश्रम से प्रकाशित ग्रन्थों में उन्हीं परिष्कृत टिप्पणियों को "गोविन्दप्रसादिनी टिप्पणी" संज्ञा देकर प्रकाशित किया गया है।

आप स्वभाव से ही एकाग्रचित्त और विरक्त महापुरुष थे। देहाध्यास को आपने जीते जी तिलाञ्जलि दे दी थी। आप सदा अपने सच्चिदानन्द स्वरूप में सहज भाव से प्रतिष्ठित रहते थे। कैलास ब्रह्मविद्या पीठ का स्थान रिक्त होने पर सन्तों और भक्तों की अनेक प्रार्थना पर वि. सं. १९८४ में आपने पीठासीन होना स्वीकार किया। उस समय आप की आयु लगभग ७५ वर्ष की थी। आप की प्रेरणा से अनेकों भक्तों ने कैलास आश्रम में निर्माण कार्य करवाये। आपने १० वर्षों तक कैलास पीठ को सुशोभित किया। वि. सं. १९९६ में आप ब्रह्मलीन हुये। यह अत्यन्त गौरव का विषय है कि इस शताब्दी में वेदान्त शास्त्र के अध्ययन में एक नये युग के निर्माण करने का श्रेय आप चतुर्थ कैलास पीठाधीश्वर जी को प्राप्त हुआ।

।।श्री अभिनवचन्द्रेश्वरो विजयतेतराम् ।।

'श्रीकैलासविद्यालोकस्य चतुश्चत्वारिंशः (४४) सोपानः

तैत्तिरीयोपनिषत्

सटिप्पणसंस्कृतहिन्दीटीकाद्वयसंवलितशाङ्करभाष्यसमेता

'गोविन्दप्रसादिनी' टिप्पणीकार विद्यावाचस्पति

महामण्डलेश्वर श्री स्वामी विष्णुदेवानन्द गिरि जी महाराज

'विद्यानन्दीमिताक्षरा' व्याख्याकार वेदान्त-सर्वदर्शनाचार्य यतीन्द्रकुलतिलक श्रीकैलासपीठाधीश्वर

परमादर्श आचार्य महामण्डलेश्वर श्री स्वामी विद्यानन्द गिरि जी महाराज

सम्पादक

डॉ० उमेशानन्द शास्त्री

एम. ए., एल. एल. बी., पी. एच. डी., व्याकरणाचार्य

एवं

स्वर्ण लाल तुली

बी. इ., डी. डी. इ. (न्यूज़ीलैण्ड)

प्रकाशक

श्री कैलास आश्रम शताब्दी समारोह महासमिति

कैलास गेट, हृषीकेश (उ० प्र०)

दूरभाष :
०१३५–४३०५९८

देवानुग्रह त्रिदशक महोत्सव प्रसंग

ISBN 81 - 900625 - 9 - x

प्रथम आवृत्ति २००० वि० सम्वत् २०४० सन् १९८३

द्वितीय आवृत्ति ३००० वि० सम्वत् २०५५ सन् १९९९

मूल्य : ७५ रुपये

ग्रन्थ प्राप्ति स्थान —

१. श्री कैलास आश्रम, मुनि की रेती, ऋषिकेश-२४९२०१
२. श्री दशनाम संन्यास आश्रम, भूपतवाला, हरिद्वार-२४९४०१
३. श्री कैलास आश्रम, उजेली, उत्तरकाशी-२४९१९३
४. श्री राम आश्रम, समानामण्डी, पटियाला-१४७१०१
५. श्री कैलास विद्यातीर्थ, (आदि शंकराचार्य स्मारक) ६, भाई वीर सिंह मार्ग, नई दिल्ली-११०००१
६. श्री कैलास आश्रम, मॉडल टाऊन, रोहतक - १२४००१
७ श्री कैलास विद्यातीर्थ, गिरियक रोड, राजगीर (नालन्दा)-८०३११६
८. श्री कैलास विद्याधाम, रूप नगर, जम्मू तवी
९. श्री शंकर ब्रह्मविद्याकुटीर, ८३ - ए, द्वारका पुरी, मुजफ्फर नगर-२५१००१

मुद्रक :–

सम्पादकीय

श्री कैलास आश्रम शताब्दी समारोह महासमिति ऋषिकेश की ओर से प्रकाशित तैत्तिरीयोपनिषत् को पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए हमें सहज सन्तोष हो रहा है। इस प्रकाशन के साथ श्री कैलास आश्रम की प्रकाशन शृंखला का मूलभूत उद्देश्य पूरा हो जाता है। श्री कैलास आश्रम के पूर्वाचार्यों की संजोई हुई ब्रह्मविद्या की मार्मिक अनुभूतियों का आनन्द अब सब विद्वान् एवं वेदान्त के रसिक ले सकेंगे।

तैत्तिरीयोपनिषत् अन्य सभी उपनिषदों में अद्वितीय स्थान रखता है। आचार विषयक चर्चा को कहीं उपनिषदों का परम प्रयोजन अन्यथा न समझ लिया जाए, इस कारण आचार्य शङ्कर प्रत्येक वल्ली के आदि और अन्त में श्रुति के सारगर्भित अर्थ की सविस्तर चर्चा करते हैं। द्वैतवादी भय में निमग्न रहते हैं, श्रुति अभय होना सिखाती है। ब्रह्मसूत्र में भी अनेक स्थलों पर तैत्तिरीयोपनिषद् के मन्त्रों का तात्पर्य समझाने में भगवान् शङ्कराचार्य ने ब्रह्मानन्दवल्ली को ब्रह्मात्मैक्य प्रतिपादक माना है। कहीं कहीं आचार्य शङ्कर अन्य दार्शनिकों के मतों का विश्लेषण करते हुए उन्हें इतनी सूक्ष्मता से समझाते हैं, लगता है मानो सामने बैठे प्रतिपक्षी उनकी युक्ति और शास्त्रनिष्ठा के प्रति पूर्ण समर्पित होते जा रहे हों। भाष्य में आचार्य श्री की अद्वैत सिद्धान्त को सर्वोपरि स्थापित करने वाली छवि अनेक स्थलों पर मिलती हैं।

तैत्तिरीयोपनिषत् पर आनन्दगिरि टीका संक्षिप्त एवं भाष्य के मर्म का प्रकाश करती है। किन्तु विद्यावाचस्पति स्वामी विष्णुदेवानन्द गिरि जी महाराज की "गोविन्दप्रसादिनी" टिप्पण सुस्पष्ट एवं अति विस्तृत है जिससे मूल भाष्य एवं टीका के सभी दुरूह स्थल बुद्धिगम्य हो जाते हैं।

मूलमन्त्र एवं भाष्य का अनुवाद यतीन्द्रकुलतिलक कैलासपीठधीश्वर स्वामी विद्यानन्द गिरि जी महाराज आचार्य महामण्डलेश्वर ने किया है। इसमें किसी प्रकार की स्वयं की कल्पना को स्थान न देकर भाष्यकार के भावों को ही सुस्पष्ट करने की चेष्टा की गई है। कठिन दार्शनिक स्थलों को समझाने में अनुवाद की अपनी अद्वितीय उपादेयता है।

इस ग्रन्थ के सम्पादन में नवरात्र एवं दीपावली गङ्गा के तट पर ही व्यतीत हुई जिसे मैं अपना सौभाग्य समझता हूँ। कैलास आश्रम के परमादर्श आचार्य महामण्डलेश्वर स्वामी विद्यानन्द गिरि जी महाराज के उपनिषद्विद्या के प्रकाशन रूप सत्संकल्प की आज पूर्ति कर मैं अद्वैत वेदान्त के ब्रह्म की तरह निरुपाधिक हो गया हूँ। तात्त्विक निरुपाधिकता की मञ्जिल की ओर बढ़ने में सभी को इस ग्रन्थ से प्रेरणा मिलेगी, ऐसी आशा है।

श्री कृष्णार्पणमस्तु
दीपमालिका २०४०
ऋषिकेश

भगवदीय
डॉ. उमेशानन्द शास्त्री

प्रस्तावना

दिशन्तु शम्मे गुरुपादपांसवः।

* * *

"नवाधिकशतं शाखा यजुषो मारुतात्मज" इस मुक्तिकोपनिषद् वाक्य के अनुसार किसी समय यजुर्वेद की १०९ शाखाएँ थीं। जिनमें से वायुपुराण, विष्णुपुराण, प्रतिज्ञापरिशिष्ट, शब्दकल्पद्रुम और चरणव्यूह में लगभग ४३ के नाम लिखे हैं। इस वेद के कृष्ण और शुक्ल नामक दो प्रधान भेद हैं। शुक्लयजुर्वेद (वाजसनेयी संहिता) की काण्व और माध्यन्दिनी शाखा कुछ भिन्न पाठ के साथ उपलब्ध है। कृष्णयजुर्वेद की सबसे बड़ी शाखा तैत्तिरीय है जिसके सम्बन्ध में विष्णुपुराणान्तर्गत तृतीयांश पञ्चमाध्याय की गाथा प्रसिद्ध है। व्यासशिष्य वैशम्पायन के २७ शिष्य थे। जिनमें ब्रह्मरात का पुत्र याज्ञवल्क्य भी था। एक दिन मुनियों ने निश्चय किया कि जो सप्ताह के भीतर मेरुपर्वत पर नहीं पहुँचेगा, उसे ब्रह्महत्या का पाप लगेगा। वैशम्पायन जी किसी कारण से न पहुंच सके। वैशम्पायन का भानजा उनके पैर से चोट लगने पर मर गया। उन्होंने अपने शिष्यों को बुलाकर कहा कि तुम मेरे लिए प्रायश्चित्त का अनुष्ठान करो। इस बात को सुनकर याज्ञवल्क्य ने कहा कि अल्प तेज वाले बालकों के साथ मैं व्रतानुष्ठान किस प्रकार करूँ। इस पर क्रोधावेश में आकर वैशम्पायन ने कहा कि इन ब्राह्मण बालकों को निस्तेज बतलाते हुए तूने मेरी आज्ञा भङ्ग की है। अतः तू मेरा शिष्य होने के योग्य नहीं, तूने जो कुछ मुझसे पढ़ा है, उसे त्याग दो। याज्ञवल्क्य ने वैशम्पायन से पढ़ी हुई विद्या वमन कर दी। वह रुधिराक्त छर्दित विद्या भूमि पर पड़ गयी। जिसे वैशम्पायन के अन्य शिष्यों ने तित्तिररूप धारण कर चुग लिया। इसीलिये उनकी शाखाओं का नाम तैत्तिरीय पड़ गया। तत्पश्चात् सूर्योपासना के फलस्वरूप याज्ञवल्क्य कई शाखाओं के मन्त्रद्रष्टा ऋषि हुए। यह कथा उपनिषदों और ब्राह्मणों में कहीं भी नहीं है। पाणिनि जी ने लिखा है कि "तित्तिरिणा प्रोक्तमधीयते तैत्तिरीयः (४।३।१०२)" ऐसा ही कृष्णयजुर्वेद की अनुक्रमणिका में लिखा है—वेदव्यास शिष्य वैशम्पायन ने यास्क को और यास्क ने तित्तिरि को दिया। उनके शिष्य तैत्तिरीय हुए।

कृष्णयजुर्वेद का ब्राह्मण तैत्तिरीय ब्राह्मण के नाम से तीन काण्डात्मक ग्रन्थ प्रसिद्ध है, जो तैत्तिरीयसंहिता का दूसरा भाग माना जाता है। ऐसे ही तैत्तिरीय ब्राह्मण के आगे की विधि को स्पष्ट करने वाला तैत्तिरीय आरण्यक भी है। जिसके दशभाग हैं। इसी तैत्तिरीय आरण्यक के सप्तम, अष्टम और नवम भाग को तैत्तिरीय उपनिषद् कहते हैं और दशम भाग को महानारायणोपनिषद् कहते हैं।

तैत्तिरीयोपनिषद् की प्रथम शिक्षावल्ली को संहितोपनिषद् और शेष दो वल्ली को वारुणी उपनिषद् भी कहते हैं। महत्त्व की दृष्टि से वारुणी उपनिषद् प्रधान है क्योंकि उसमें विशुद्ध ब्रह्मविद्या का निरूपण किया गया है। पर ब्रह्मज्ञान के लिए चित्तशुद्धि और आचार्य की अनुकम्पा की आवश्यकता है। अतः प्रथम शिक्षावल्ली में विविध प्रकार की उपासनाओं और शिष्टाचार का निरूपण किया गया है जिनके आश्रयण करने से औपनिषद सिद्धान्त को हृदयङ्गम करना सरल हो जाता है।

इस प्रकार भाष्य लिखते समय भगवान् भाष्यकार ने मोक्ष का साधन एकमात्र कैवलाद्वैत ब्रह्मज्ञान को ही युक्ति और शास्त्र प्रमाण से सिद्ध किया है। मीमांसकों के अभिमत स्वर्ग और उसके साधनों को अनित्य बतलाया है। शिक्षावल्ली के अनुवाक्यों की संक्षिप्त व्याख्या करते हुए अन्त में भाष्यकार ने कुछ विशद विचार किया है। इस समस्त वल्ली में प्रायशः गृहस्थोचित सदाचार का निरूपण होने के कारण किसी को शङ्का हो सकती है कि

यही मोक्ष का प्रधान साधन है। अतः आचार्य ने मोक्ष के साक्षात् साधन के निर्णय के लिए पाँच विकल्प किए हैं। मोक्ष कर्म से या ज्ञान सापेक्ष कर्म से, या कर्म सापेक्ष्य ज्ञान से या ज्ञानकर्म के समुच्चयानुष्ठान से अथवा केवल ज्ञान से मोक्ष मिलता है? इनमें से प्रथम चार पक्षों का खण्डन कर ज्ञान को ही मोक्ष का साक्षात् साधन सिद्ध किया है। कर्म और उपासना चित्तशुद्धि एवं चित्तैकाग्रय के साधन होने के कारण परम्परा से मोक्ष के साधन हैं। द्वितीय ब्रह्मानन्द वल्ली में ब्रह्मविद्या का प्रतिपादन किया गया है। ब्रह्म और ब्रह्मवित् के स्वरूप का विचार ही ब्रह्मविद्या है। जिसका फल परतत्त्व की प्राप्ति है। इन्हीं बातों का विचार इस वल्ली में किया गया है। जिसका सूत्रभूत वाक्य है "ब्रह्मविदाप्नोति परम्"। "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इस वाक्य से ब्रह्म का स्वरूप लक्षण कहा गया है। इस लक्षण से लक्षित ब्रह्म की उपलब्धि का द्वार पञ्चकोशों का विवेक कहा है जो इन पञ्चकोशों के अन्तरतम आधाररूप से प्रतिष्ठित है। उस ब्रह्म को सत् कहने वाले पुरुष की प्रशंसा और असत् मानने वाले की निन्दा की गयी है। वस्तुतः असत् शब्द का अर्थ अव्याकृत ब्रह्म है, अत्यन्ताभाव अर्थ नहीं है। वह ब्रह्म इस स्वरूप वाला है जिसे प्राप्तकर जीव इस रूप (आनन्दस्वरूप) हो जाता है। उसी आनन्द के लेश से सभी प्राणी सजीव हो रहे हैं। उस परमात्मा से अभेदभाव को प्राप्तकर ब्रह्मवित्पुरुष सर्वथा अभय हो जाता है किन्तु थोड़ा भी अन्तर देखने वाला पुरुष भय को प्राप्त करता है।

इस प्रकार ब्रह्मनिष्ठ की अभय प्राप्ति का वर्णन कर ब्रह्म के सर्वान्तर्यामित्व को बतलाते हुए ब्रह्मज्ञानी के आनन्द की सर्वोत्कृष्टता दिखलायी गयी है। मनुष्य, मनुष्य गन्धर्व, देवगन्धर्व, पितृगण, आजानजदेव, कर्मदेव, देव, इन्द्र, बृहस्पति, प्रजापति और ब्रह्मा के उत्तरोत्तर शतगुण आनन्द आप्तकाम, आत्मकाम ब्रह्मवेत्ता को प्राप्त होता है क्योंकि सर्वात्मा ब्रह्म के साथ अभिन्न होने के कारण सर्वरूप से वही तो सारे आनन्दों का भोक्ता है। इतना ही नहीं, सर्व आनन्द स्वरूप ब्रह्म का ही लेश आनन्द सर्वत्र है जिससे सभी जीव आनन्दित हो रहे हैं।

इसके बाद हृदयपुण्डरीकस्थ और आदित्यमण्डलस्थ पुरुष को अभेदरूप से जानने वाले को दृष्टादृष्ट विषय समूह से निवृत्त होकर समष्टि अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय एवं आनन्दमय आत्मा के साथ तादात्म्य होना कहा गया है। सम्पूर्ण विश्व को अपना स्वरूप समझने के कारण न तो वह किसी से भयभीत होता है और न उससे दूसरा कोई भय खाता है। क्योंकि भय सदा परिच्छिन्न में होता है, अपरिच्छिन्न में नहीं होता।

इस प्रकार ब्रह्मानन्दवल्ली निरूपित ब्रह्मविद्या की प्राप्ति का प्रधान साधन पञ्चकोशों के विवेक को दिखलाने के लिए भृगुवल्ली में वरुण और भृगु का आख्यान दिया गया है। आत्मतत्त्व का जिज्ञासु भृगु अपने पिता वरुण के पास जाकर प्रश्न करता है कि सभी भूतों की उत्पत्ति, स्थिति और लय का जो कारण है, उस तत्त्व का उपदेश मुझे करें। इसके बाद वरुण ने अग्नि, प्राण, चक्षुः, श्रोत्र, मन और वाणी ये छः ब्रह्म की उपलब्धि के मार्ग हैं—ऐसा कहा और साथ ही उसे तप करने का आदेश भी दिया। भृगु ने मनःसमाधान रूप तप द्वारा क्रमशः अन्नादि को ब्रह्म समझकर और उनमें दोष देखकर अन्त में आनन्द को ब्रह्मरूप से निश्चय किया। इन विभिन्न उपासनाओं द्वारा अपने सर्वात्मभाव का अनुभव कर भृगु कृतकृत्यता को व्यक्त करते हुए लोकातीत आनन्द में निमग्न हो विस्मय पूर्वगानेलगताहै—"अहमन्नमहमन्नमहमन्नम्।अहमन्नादोऽऽहमन्नादोऽऽहमन्नादः।अहँश्लोककृदहँश्लोककृदहँश्लोककृद्" इत्यादि। यह उसकी उन्मत्तोक्ति अनुभूति तथा कृतकृत्यता का हार्दिक उद्गार है। एवं आध्यात्मिक विजय का डिण्डिम उद्घोष है। इस प्रकार विचार करने पर यह उपनिषद् ब्रह्मविद्या प्रधान सिद्ध होती है।

इसके अतिरिक्त ग्रन्थों के तात्पर्य निर्णायक षड्विधलिङ्गों द्वारा विचार करने पर भी तैत्तिरीयोपनिषद् का तात्पर्य अद्वय ब्रह्म में ही निश्चित होता है। यथा—

१— "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" (२।१ ब्रह्मज्ञानी परब्रह्म को प्राप्त कर लेता है) इस उपक्रम और "स यश्चायं

पुरुषे यश्चासावादित्ये स एकः" (२।८ जो यह पुरुष में है तथा जो यह आदित्य है, वह एक ही है।) इस उपसंहार की एक वाक्यता है।

२—अभ्यास-"तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः" (२।१) उसी इस आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ। "यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनिरुक्तेऽनिलयने" (२।७) जब भी यह ज्ञानी इस अदृश्य, शरीर, वाणी के अविषय और सर्वाधार अनाधार आत्मा में अभय प्रतिष्ठा प्राप्त करता है। "भीषास्माद्वातः पवते" (२।८) इसी परमात्मा के भय से वायु बहता है। ये सब अभ्यास हैं।

३— अपूर्वता-"यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह" (२।४) जहाँ से प्राप्त किये बिना ही मनके सहित वाणी लौट आती है। इस वाक्य द्वारा मन-वाणी से उपलक्षित सभी प्रमाणों का अविषय बतलाकर अपूर्वता ही कही गयी है।

४—फल-"सोऽश्नुते सर्वान्कामान्सह ब्रह्मणा विपश्चिता" (२।१) वह ज्ञानी चिद्रूप ब्रह्म के साथ अभिन्न हुआ सभी भोगों को एकसाथ प्राप्त कर लेता है। इस वाक्य से फल बतलाया गया है। ५—अर्थवाद-"यदुदरमन्तरं कुरुते। अथ तस्य भयं भवति" (२।७) जो थोड़ा भी भेद करता है, उसे तत्काल भय होता है। इस वाक्य से भेददर्शन की निन्दा और कृतकृत्यता के ज्ञान से विद्वान् की स्तुति की गयी है, यही अर्थवाद है। ६—उपपत्ति—"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते –" (३।१) जिससे ये सभी भूत उत्पन्न होते हैं— "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्" (२।६) उसकी सृष्टि कर उसी में प्रविष्ट हो गया! इत्यादिसे कार्यकारण के अभेदबोधक सृष्टि वाक्य द्वारा तथा प्रवेष्टा प्रवेश्य के अभिन्नत्व बोधक वाक्य द्वारा उपपत्तिरूप अन्तिम लिङ्ग से केवलाद्वैत ब्रह्मबोधन में ही इस श्रुति का परम तात्पर्य है।

कैलास आश्रम शताब्दी प्रसङ्ग पर प्रस्तावित प्रकाशनों में तैत्तिरीयोपनिषद् का प्रकाशन अपना विशिष्ट स्थान रखता है। अव तक विभिन्न प्रकाशनों में केवल संस्कृत टीका सहित अथवा हिन्दी या आङ्गलादि भाषा में किये गये अनुवाद के सहित तैत्तिरीयोपनिषद् का प्रकाशन हो पाया था। पर प्रस्तुत प्रकाशन में मूलमन्त्र, उसकी हिन्दी व्याख्या, शाङ्कर भाष्य, उसकी आनन्दगिरि टीका और हिन्दी व्याख्या एवं कैलास आश्रम की प्राचीनतम टिप्पणियाँ भी दी गयी हैं। जिससे यह प्रकाशन पूर्व के सभी प्रकाशनों को अतिक्रमण कर जाता है। इसे विज्ञ पाठक स्वयं ही समझेंगे। इसके शाङ्कर भाष्य पर व्याख्या लिखते समय हमारे विचारों को लिपिबद्ध करने एवं टिप्पणों की प्रेस कापी में ब्रह्मचारी श्री रामानन्द जी शास्त्री ने अथक परिश्रम किया है। इसके सम्पादन में डॉ० उमेशानन्द जी शास्त्री एवं स्वर्ण लाल तुली जी ने बुद्धि कौशल का अपूर्व परिचय दिया है। अतः हम इन सभी महानुभावों की भूरिशः मङ्गल कामना करते हैं। पाठकगण इस प्रकाशन से लाभ उठाकर अपने जीवन को सफल बनायें।

प्रथमावृत्ति की अपेक्षा इस द्वितीयावृत्ति में कम्प्यूटर यंत्र का उपयोग होने के कारण पाठकों को सौविध्य होगा। इस विश्वास के साथ लेखनी को विश्राम दे रहे हैं।

इत्योंशम्

भगवत्पादीयः

अनन्त चतुर्दशी — परमादर्श आचार्य महामण्डलेश्वर स्वामी विद्यानन्द गिरि

वि० सं० २०४० — कैलास आश्रम ब्रह्मविद्यापीठ, ऋषिकेश (उ० प्र०)

शारदीयनवरात्रि वि० सं० २०५५

ॐ

विषयानुक्रमणिका

शिक्षावल्ली

ब्रह्मानन्दवल्ली

भृगुवल्ली

ॐ

अथ तैत्तिरीयोपनिषन्मन्त्राणां वर्णानुक्रमणिका

हरि ॐ तत्सत्।

ॐ तत्सद्ब्रह्मणे नमः।

कृष्णयजुर्वेदीयतैत्तिरीयारण्यकान्तर्गता

तैत्तिरीयोपनिषत्

* * *

सटिप्पणसंस्कृतहिन्दीटीकाद्वयसंवलितशांकरभाष्यसमेता

(श्रीमच्छङ्करभगवत्पादाचार्यविरचितं भाष्यम्)

यस्माज्जातं जगत्सर्वं यस्मिन्नेव प्रलीयते।
येनेदं धार्यते चैव तस्मै ज्ञानात्मने नमः।।१।।
यैरिमे गुरुभिः पूर्वं पदवाक्यप्रमाणतः।
व्याख्याताः सर्ववेदान्तास्तान्नित्यं प्रणतोऽस्म्यहम्।।२।।

(श्रीमदानन्दगिर्याचार्यकृता टीका)

सत्प्रकाशसुखाभिन्नं यन्[1]मन्त्रेण प्रकाशितम्। विवृतं [2]ब्राह्मणे तत्स्या[3]मदृश्यं ब्रह्म [4]निर्भयम्।।

यजुर्वेदशाखाभेदं तैत्तिरीयकोपनिषदं व्याचिख्यासुर्भगवान्भाष्यकारस्तत्प्रतिपाद्यं ब्रह्म जगज्जन्मनादिकारणत्वेन तटस्थलक्षणेन मन्दमतीन्प्रति सामान्येनोपलक्षितं सत्यज्ञानादिना च स्वरूपलक्षणेन विशेषतो विनिश्चितं नमस्कारच्छलेन संक्षेपतो दर्शयति —

यस्माज्जातमिति। निमित्तोपादनत्वयोः पञ्चम्याः साधारण्यादुभयविधमपि हेतुत्वमिह विवक्षितम्। कार्यविलयस्य प्रकृतावेव नियतत्वाद्विशेषतः प्रकृतित्वमाह — यस्मिन्निति। कार्यधारणस्य निमित्ते धर्मादावपि प्रसिद्धत्वाद् धारणकारणत्वमाह — येनेति। ज्ञानात्मन इति स्वरूपलक्षणसूचनम्।।१।।

गुरुभक्तेर्विद्याप्राप्तावन्तरङ्गसाधनत्वं ख्यापयितुं गुरून्प्रणमति—

यैरिति। [5]पदानि च[6]वाक्यानि च प्रमाणं चानुमानादि तद्विवेचनेन व्याख्याता इत्यर्थः।।२।।

(स्वामी विद्यानन्दगिरिकृत 'मिताक्षरा' टीका)

सम्बन्ध भाष्य

जिससे सम्पूर्ण जगत् उत्पन्न हुआ है, जिसमें ही लीन होता है और जिसके द्वारा धारण किया जाता है; उस ज्ञान स्वरूप को मेरा नमस्कार है ।।१।।

पद, वाक्य और प्रमाणों के द्वारा पूर्वकाल में जिन गुरुजनों ने इन सम्पूर्ण उपनिषदों की व्यांख्या की है; उन्हें मैं सदा प्रणाम करता हूँ ।।२।।

(विद्यावाचस्पतिस्वामिविष्णुदेवानन्दगिरिकृतटिप्पणम्)

१. मन्त्रेणेति—सत्यं ज्ञानमित्यादिमन्त्रेणेत्यर्थः। २. ब्राह्मणे—तस्माद्वा एतस्मादित्यादिग्रन्थे। ३. अदृश्यमिति—निहितं गुहायाम्। एतस्मिन्नदृश्य इत्यर्थसंग्रहः। ४. न बिभेति अभयं प्रतिष्ठां, भीषास्मादित्याद्यर्थं, गृह्णाति—निर्भयमिति। ५. पदानीति—तत्त्वमादीनीत्यर्थो बहुवचनादवगम्यते। ६. वाक्यानि अवान्तराणि महान्ति चेत्यर्थः। व्याकरणमीमांसे वा पदवाक्ये।

[1]तैत्तिरीयकसारस्य मयाऽऽचार्यप्रसादतः।
विस्पष्टर्थरुचीनां हि व्याख्येयं संप्रणीयते।।३।।

नित्यान्यधिगतानि कर्माण्युपात्तदुरितक्षयार्थानि, काम्यानि च फलार्थिनां [2]पूर्वस्मिन्ग्रन्थे।

इदानीं कर्मोपादानहेतुपरिहाराय ब्रह्मविद्या प्रस्तूयते। कर्महेतुः कामः स्यात्। प्रवर्तकत्वात्। आप्तकामानां हि कामाभावे स्वात्मन्यवस्थानात्प्रवृत्त्यनुपपत्तिः। आत्म-

---

चिकीर्षितं निर्दिशति—

तैत्तिरीयकेति। व्युत्पन्नस्य पदेभ्य एव पदार्थस्मृतिसंभवात्पदस्मारितपदार्थानां संसर्गस्यैव वाक्यार्थत्वात्सूत्रकारेणोपनिषत्तात्पर्यस्य निरूपितत्वाच्च व्यर्थः पृथग्व्याख्यारम्भ इत्याशङ्क्याऽऽह — विस्पष्टार्थेति। मन्दमतीनां स्वत एव निःशेषपदार्थस्मरणासंभवादुपनिषद्गतनिःशेषपदार्थानां विशिष्य निःसंशयं ज्ञानं ये रोचयन्ते तेषामुपकारायेत्यर्थः।।३।।

कर्मविचारेणैवोपनिषदो गतार्थत्वादुपनिषत्प्रयोजनस्य निःश्रेयसस्य कर्मभ्य एव संभवात्पृथग्व्याख्यारम्भो न युक्त इत्याशङ्कामपनेतुं कर्मकाण्डार्थमाह — नित्यानीति। "अथातो धर्मजिज्ञासा" इति जैमिनिना। धर्मग्रहणेन सिद्धवस्तुविचारस्य पर्युदस्तत्वान्नोपनिषदो गतार्थत्वमित्यर्थः। तानि च कर्माणि संचितदुरितक्षयार्थानि "धर्मेण पापमपनुदति" (महाभा० १६-१२) इति श्रुतेर्न निःश्रेयसार्थानि। न केवलं जीवतोऽवश्यकर्तव्यान्यधिगतानि फलार्थिनां काम्यानि च। न तान्यपि निःश्रेयसार्थानि। "स्वर्गकामः" "पशुकामः" इत्यादिवन्मोक्षकामोऽदः कुर्यादित्यश्रवणात्। अतः संसार एव कर्मणां फलमित्यर्थः।

कर्मकाण्डार्थमुक्त्वा तत्राविचारितमुपनिषदर्थमाह — इदानीमिति। कर्मणामुपादानेऽनुष्ठाने यो हेतुस्तन्निवृत्त्यर्थं ब्रह्मविद्याऽस्मिन्ग्रन्थ आरभ्यते। अतः सनिदानकर्मोन्मूलनार्थत्वादुपनिषदः कर्मकाण्डविरुद्धत्वान्न गतार्थत्वमित्यर्थः। कर्मानुष्ठाने हेतुर्नियोगस्तस्य प्रमाणसिद्धत्वान्न विद्यया विरोध इत्याशङ्क्याऽऽह — कर्महेतुरिति। अस्येदं साधनमित्येतावच्छास्त्रेण बोध्यते। यस्य यत्राभिलाषः स तत्र प्रवर्तते कामत एव। अतो न नियोगस्य प्रवर्तक(त्व)संभावनाऽपीत्यभिप्रायः। सति कामे प्रवृत्तिरित्यन्वय उक्तः। कामाभावे न प्रवृत्तिरिति व्यतिरेकमाह — आप्तेति। अभिलषितविषयप्राप्तिः कामनिवृत्तौ हेतुः। न विद्या। अतः कथं कर्महेतुपरिहाय विद्यारम्भ इत्याशङ्क्याऽऽह — आत्मकामत्वे

विस्पष्ट अर्थ जानने की इच्छा वाले पुरुषों के लिये आचार्य की कृपा से मैं तैत्तिरीय शाखा के सारभूत इस उपनिषद् की व्याख्या करता हूँ।।३।।

जिनका मुख्य प्रयोजन संचित पापों का क्षय करना ही है, ऐसे नित्य कर्मों का तथा फलकाम पुरुषों के लिये विहित काम्य कर्मों का इससे पूर्ववर्ती कर्मकाण्ड ग्रन्थ में परिज्ञान हो चुका है।

अव कर्मानुष्ठान के उपादान कारण अविद्या की निवृत्ति के लिये ब्रह्मविद्या प्रारम्भ की जाती

---

१. तैत्तिरीयकसारस्येति—तैत्तिरीयकशाखासारभूताया उपनिषद इत्यर्थः। २. पूर्वस्मिन् ग्रन्थ इति—ब्रह्म सन्धत्तं तन्मे जिन्वतमित्यादिकाण्डत्रयात्मके तैत्तिरीयब्राह्मण इत्यर्थः। हे ग्रहौ शुक्रमन्थिपात्रौ युवां ब्रह्म यजमानसम्बन्धिनीं ब्राह्मणजातिं सन्धत्तं स्वोचितधर्मराहित्यं यथा न भवति तथा सम्पादयतम् इति निर्दिष्टवाक्यार्थः।

कामत्वे चाऽऽप्तकामता। आत्मा हि ब्रह्म। तद्विदो हि परप्राप्तिं वक्ष्यति। अतोऽविद्यानिवृत्तौ स्वात्मन्यवस्थानं परप्राप्तिः। "अभयं प्रतिष्ठां विन्दते" (तै० २.७) "एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रामति" (तै० २.८) इत्यादिश्रुतेः।

काम्यप्रतिषिद्धयोरनारम्भादारब्धस्य चोपभोगेन क्षयान्नित्यानुष्ठानेन प्रत्यवायाभावादयत्नत एव स्वात्मन्यवस्थानं मोक्षः। अथवा निरतिशयायाः प्रीतेः स्वर्गशब्दवाच्यायाः कर्महेतुत्वात्कर्मभ्य एव मोक्ष इति चेन्न। कर्मानेकत्वात्। अनेकानि

चेति। कामितविषयप्राप्त्या कामस्य तात्कालिकोपशममात्रं नतूच्छेदः। पुनर्विषयाकाङ्क्षादर्शनात्। आप्तकामताऽपि(आत्यन्तिकी) निरङ्कुशाऽऽत्मैव वस्तु नान्यत्ततोऽस्तीत्येवंरूपाऽऽत्मकामत्वे सति भवति। कामयितव्याभावादेवाऽऽत्मानं ह्यद्वयानन्दरूपमजानन्नेव व्यतिरिक्तं विषयं पश्यन्कामयते। ततः कामस्याऽऽत्माविद्यामूलत्वादात्मविद्यैव तन्निवृत्तिहेतुरित्यर्थः। भवत्वात्मविद्या कामविरोधिनी कर्महेतुपरिहाणाय ब्रह्मविद्या प्रस्तूयत इति कथमुक्तं तत्राऽऽह — आत्मेति। [1]आनन्दमयं परमात्मानमादाय [2]श्रुतिरुदाहृता।

एवं तावत्कर्मकाण्डेनागतार्थत्वात्कर्मभ्यो ऽसंभाव्यमाननिःश्रेयसप्रयोजनत्वाच्चोपनिषदो व्याख्यारम्भं संभाव्य पुनरनारम्भवादिनोऽभिप्रायमुद्भावयति — काम्यप्रतिषिद्धयोरिति। आत्यन्तिकागामिशरीरानुत्पादे स्वरूपावस्थानं निःश्रेयसं, शरीरानुत्पादश्च हेत्वभावादेव सेत्स्यति किं ज्ञानार्थोपनिषदारम्भेणेत्यर्थः। मतान्तरमाह — अथवेति। यदेव स्वर्गसाधनं ज्योतिष्टोमादि तदेव मोक्षसाधनं निरतिशयप्रीतेः स्वर्गपदार्थस्य मोक्षादन्यत्रासंभवात्सति शरीरे क्लेशावश्यंभावादित्यर्थः। [3]ऐकभविकपक्षमाद्यं मतं प्रत्याख्याति — नेत्यादिना। यद्यपि वर्तमाने देहे काम्यं प्रतिषिद्धं च नाऽऽरभेत मुमुक्षुस्तथाऽपि संचितस्यानेकस्य संभवाद्धेत्वभावोऽसिद्ध इत्यर्थः। [4]प्रायेणानभिव्यक्तानि सर्वाण्येव कर्माणि

है। कर्म का कारण कामना ही हो सकती है क्योंकि कामना कर्म का प्रवर्तक है। आप्तकाम पुरुषों में कामनाओं का अभाव हो जाने पर स्वरूप में स्थिति हो जाने से कर्म में प्रवृत्ति होना सम्भव नहीं है। आत्म-दर्शनाभिलाषा पूर्ण होने पर ही आप्तकामता आती है क्योंकि आत्मा ही ब्रह्म है और ब्रह्मवेत्ता को परब्रह्मकी प्राप्ति श्रुति आगे बतलाने वाली है। अतः अविद्या की निवृत्ति हो जाने पर अपने आत्मा में स्थिति हो जाना ही परमात्मा की प्राप्ति है। ऐसा ही "अभय पद को प्राप्तकर लेता है" "इस आनन्दमय आत्मा को प्राप्त कर लेता है" इत्यादि श्रुतियों से सिद्ध होता है।

पूर्वपक्षः—काम्य और निषिद्ध कर्मों के आरम्भ न करने से प्रारब्ध कर्मों का भोग द्वारा क्षय हो जाने पर तथा नित्य कर्मों के अनुष्ठान द्वारा प्रत्यवायों का अभाव हो जाने से अनायास ही अपने आत्मा में स्थिति रूप मोक्ष प्राप्त हो जायगा अथवा स्वर्ग शब्द वाच्य निरतिशय प्रीति कर्म जनित होने के कारण कर्मों से मोक्ष हो सकता है। यदि ऐसा माना जाय तो कैसा रहेगा?

---

१. आनन्दमयं परमात्मानमादायेति— आनन्दमयोऽभ्यासादित्यत्र वृत्तिकारमतेनानन्दमयः परमात्मैव निश्चित इति तन्मतेनानन्दमयं परमात्मानं विवक्षित्वा न तु कोशमेव पञ्चममित्यर्थः। २. श्रुतिः एतमानन्दमयमात्मानमित्यादिका। ३. ऐकभविकेति—एको भवः प्रयोजनमस्येति विग्रहः। ४. जातमृते मृतजाते वा व्यभिचारं पश्यन्नाह—प्रायेणेति। नासौ मुक्त इति शक्यमभ्युपगन्तुं संसारमोचकमतानुपेक्षाप्रसंगादित्यवधेयम्।

ह्यारब्धफलान्यनारब्धफलानि चानेकजन्मान्तरकृतानि विरुद्धफलानि कर्माणि संभवन्ति। अतस्तेष्वनारब्धफलानामेकस्मिञ्जन्मन्युपभोगक्षयासंभवाच्छेषकर्मनिमित्तशरीरारम्भोपपत्तिः कर्मशेषसद्भावसिद्धिश्च। "तद्य इह रमणीयचरणाः" (छा० ५-१०-७) "[१]ततः शेषेण" इत्यादिश्रुतिस्मृतिशतेभ्यः। इष्टानिष्टफलानामनारब्धानां क्षयार्थानि नित्यानीति चेन्न। अकरणे [२]प्रत्यवायश्रवणात्। प्रत्यवायशब्दो ह्यनिष्टविषयः। नित्याकरणनिमित्तस्य प्रत्यवायस्य दुःखरूपस्याऽऽगामिनः परिहारार्थानि नित्यानीत्यभ्युपगमान्नानारब्धफलकर्मक्षयार्थानि। यदि नामानारब्धकर्मक्षयार्थानि नित्यानि कर्माणि तथाऽप्यशुद्धमेव क्षपयेयुर्न शुद्धम्। विरोधाभावात्। न हीष्टफलस्य कर्मणः शुद्धरूपत्वान्नित्यैर्विरोध उपपद्यते। शुद्धाशुद्धयोर्हि

संभूयैकं शरीरमारभन्ते तत्र सर्वेषामुपभोगेन क्षयि (पि) तत्वात्संचितं कर्मैव नास्तीतिशङ्कानिराकरणायोक्तम् — विरुद्धफलानीति। स्वर्गनरकफलानां ज्योतिष्टोमब्रह्महत्यादीनामेकस्मिन्देहे भोगेन क्षयासंभवात्प्रायेणा[३]स्य सर्वाभिव्यञ्जकत्वे प्रमाणाभावाद्बलवता प्रतिबद्धस्य दुर्बलस्यावस्थानं संभवतीत्यर्थः। संभावनामात्रमेतन्नात्र प्रमाणमस्तीत्याशङ्क्याऽऽह — कर्मशेषेति। प्रेत्य स्वकर्मफलमनुभूय ततः शेषेण जन्म प्रतिपद्यन्त इति स्वर्गादवरोहतां कर्मशेषं (ष) सद्भावं दर्शयतीत्यर्थः। संचितकर्मसद्भावमङ्गीकृत्य देहान्तरारम्भो न भविष्यतीत्याह — इष्टेति। एतद्ध (द्धा) ट्टानां सिद्धान्तविरुद्धमित्याह — नेति। [४]मुमुक्षुणाऽनुष्ठितस्य नित्यादेः संचितकर्मक्षयार्थत्वाभ्युपगमेऽपि ना[५]भिमतसिद्धिरित्याह — यदि नामेति।

सिद्धान्तीः—ऐसा मानना ठीक नहीं; क्योंकि कर्म अनेकों हैं। अनेक जन्मान्तरों में किये गये ऐसे अनेकों विरुद्ध फल वाले कर्म हो सकते हैं। उनमें से कुछ तो फल देने के लिए उन्मुख हो चुके हैं और कुछ अभी फलोन्मुख नहीं हुये हैं उनका एक जन्म में नाश होना असम्भव होने के कारण उन अनारब्ध शेष कर्मों से पुनः शरीर का आरम्भ होगा ही। "इस लोक में जो शुभकर्म करने वाले हैं वे शुभ योनि को प्राप्त करते हैं" "शेष कर्मों द्वारा (जीवन को आगामी शरीर प्राप्त होता है)" इत्यादि सैकड़ों श्रुति स्मृतियों से प्रारब्धातिरिक्त कर्मों के सद्‌भाव की सिद्धि हो जाती है।
पूर्वपक्षः— इष्ट और अनिष्ट फल देने वाले संचित कर्मों के क्षय के लिये ही नित्य कर्म माने जाएँ (नित्य कर्म हैं, ऐसा मानें) तो;
सिद्धान्तीः— यह भी ठीक नहीं है क्योंकि नित्य कर्मों के न करने पर प्रत्यवाय होना सुना जाता है। प्रत्यवाय शब्द अनिष्ट का ही वाचक है। नित्य कर्मों के न करने से जो भावी दुःखरूप प्रत्यवाय होता है उसी के नाश हेतु नित्य कर्म किये जाते हैं। ऐसा मानने पर संचित कर्मों के नाश के लिये उन्हें मानना उचित होगा नहीं और जिनका फल अभी आरम्भ नहीं हुआ है, ऐसे अनारब्ध

---

१. गौतमस्मृ० (२.२१.) ११ अध्याय भा० "वर्णा आश्रमाश्च स्वकर्मनिष्ठाः प्रेत्य कर्मफलमनुभूय ततः शेषेण विशिष्टदेशजातिकुलरूपायुःश्रुतवृत्तवित्तसुखमेधसो जन्म प्रतिपद्यन्ते" इति स्मृत्येकदेशमुपादत्ते ततः शेषेणेति। २. प्रत्यवायश्रवणादिति अकुर्वन् विहितं कर्म। एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्तीत्यादावित्यर्थः। ३. अस्य वर्तमानस्य देहस्येत्यर्थः। ४. भाट्टपक्षस्य निरसिष्यमाणत्वादाह—मुमुक्षुणेत्यादि। कथमन्यथा स्वर्गफलकमपि कर्म निष्कामेणानुष्ठीयमानं शुद्ध्यर्थमुपगम्येत। दृष्टं च मारकमपि केवलविषादि अनुपानादिना पुष्टिकरमिति भावः। ५. अभिमतेति–कर्मसामान्याभावेत्यर्थः।

विरोधो [1]युक्तः।

न च कर्महेतूनां कामानां ज्ञानाभावे निवृत्त्यसंभवादशेषकर्मक्षयोपपत्तिः। [2]अनात्मविदो हि कामोऽनात्मफलविषयत्वात्स्वात्मनि च कामानुपपत्तिर्नित्यप्राप्तत्वात्स्वयं चाऽऽत्मा परं ब्रह्मेत्युक्तम्। नित्यानां चाकरणमभावस्ततः प्रत्यवायानुपपत्तिरिति।

---

[3]यच्चोक्तं "मुमुक्षुः[4]काम्यानि वर्जयेत्" इति तदप्य[5]सति विवेकबले दुर्घटम्। सति मूलाज्ञाने कामोद्भवस्य दुर्निवारत्वादित्याह — न च कर्महेतूनामिति। ननु कामो नाज्ञानमूलः [6]आत्मविदामपि कामदर्शनादित्यत आह — स्वात्मनि चेति। सर्वमात्मेति पश्यतां तत्त्वतो विषयाभावादेव कामानुपपत्तिः। [7]अशनादिप्रवृत्तिनिमित्तं तु [8]कामाभास एव [9]वास्तवाभिनिवेशाभावादित्यर्थः। तेषामप्यचिरादिमार्गेण ब्रह्मप्राप्तिकामनाऽस्तीति नाऽऽशङ्कनीयमित्याह — स्वयं चेति। यच्चोक्तमकरणनिमित्तप्रत्यवायपरिहारार्थानि नित्यानीति तत्रा[10]ऽऽह — नित्यानां चेति। आगामि दुःखं प्रत्यवाय उच्यते। तस्य भावरूपस्य नाभावो निमित्तम्। "पापः पापेन" (बृ. ४/४/५) इति श्रुतेः निषिद्धाचरणनिमित्तत्वाद्दुःखस्येत्यर्थः।

"अकुर्वन्विहितं कर्म निन्दितं च समाचरन्।
प्रसज्जंश्चेन्द्रियार्थेषु नरः पतनमृच्छति"।। (म. स्मृ. ११.४४)

कर्मों के नाश के लिये नित्य कर्म यदि माने भी जायँ तो भी वे अशुद्ध कर्मों को ही नाश करेंगे; शुद्ध कर्मों को नहीं क्योंकि शुद्ध कर्म के साथ नित्य कर्म का कोई विरोध नहीं है। इष्ट फल वाले कर्मों को शुद्ध होने के कारण उनका नित्य कर्म के साथ विरोध मानना सम्भव नहीं है; क्योंकि शुद्ध और अशुद्ध कर्मों का ही विरोध मानना युक्तिसंगत है।

इसके अतिरिक्त कर्म के हेतु कामनाओं की निवृत्ति भी ज्ञान के विना असम्भव होने के कारण उन नित्यकर्मों के द्वारा सम्पूर्ण संचित शुभकर्मों का क्षय होना सम्भव नहीं है; क्योंकि अनात्म फल विषयिणी होने के कारण कामना आत्मज्ञान शून्य पुरुषों को ही हुआ करती है। आत्मा में कामना

---

१. युक्त इति—अशुद्धक्षपणार्थमेव शुद्धात्मकप्रायश्चित्तस्य विधानात्। नहि शुद्धक्षपणायापि शुद्धं विहितं दृष्टमिति भावः। २. अनात्मविदो हि कामोऽवश्यंभावीति शेषः। तत्र हेतुः—अनात्मेति। तद्विषयस्यानात्मफलस्य सत्त्वादित्यर्थः। सति विषये चाविवेकिनः कामावश्यंभावादिति भावः। अनात्मफलं कामयमानः कुतो मुमुक्षुरिति चेन्मुमुक्षातारतम्यात् तदेतत्सूचयतोक्तमसति विवेकबल इति टीकायां मुमुक्षुमात्रं चात्र लक्ष्यमिति भावः। ३. यच्चोक्तमिति— काम्यप्रतिषिद्धयोरनारम्भादिति भाष्य इत्यर्थः ४. काम्यानीति प्रतिषिद्धस्याप्युपलक्षणं भाष्यानुरोधात् प्रतिषिद्धस्यापि काममूलत्वाविशेषादित्यवधेयम्। ५. विवेकप्रबले संभवादाह असतीत्यादि। ६. आत्मविदामपि कामदर्शनादिति— तथा च व्यतिरेकव्यभिचारादिति भावः। "काम जानामि ते मूलं संकल्पात्किल जायस" इति वचनाच्चेत्यपि द्रष्टव्यम्। ७. दर्शनमन्यथयति—अशनादीति। ८. कामाभास इति—न च तदर्थमप्यज्ञानमपेक्ष्यते तस्य तत्संस्कारमात्रनिर्वाह्यत्वात्, अविद्यासंस्कारस्य चाविद्योपादानकत्वेऽप्यविद्यानाशेऽपि यावत्प्रारब्धक्षयं पटनाशेऽपि क्षणं तद्रूपवदवस्थानसंभवान्न तदर्थमपि सा कामयितव्या 'काम जानामी'त्यादि तु संकल्पस्याप्यज्ञानमूलत्वादेव समाधेयमित्यलम्। रूपनाशस्य पटनाशप्रतीक्षेव संस्कारनाशस्याप्रतिबद्धस्याविद्यानाशस्य प्रतीक्षा स च प्रारब्धक्षये सत्येवेति विभावनीयम्। ९. वास्तवमित्यादि—वास्तवमित्यनाग्रहादित्यर्थः। १०. तत्राऽऽहेति—प्रसङ्गस्तत्प्रत्याचष्ट इत्यर्थः। अन्यथा ह्यपर्युदस्तमनुमतं भवतीति न्यायात्तदनुमतं प्रसज्येतेति।

अतः [1]पूर्वोपचितदुरितेभ्यः प्राप्यमाणायाः [2]प्रत्यवायक्रियाया नित्याकरणं लक्षणमिति "अकुर्वन्विहितं कर्म" (म.स्मृ. ११-४४) इति हि शतुर्नानुपपत्तिः।

अन्यथाऽभावाद्भावोत्पत्तिरिति सर्वप्रमाणव्याकोप इति। अतोऽयत्नतः स्वात्मन्य-

---

इति शतृप्रत्ययादकरणस्यापि प्रत्यवायनिमित्तत्वमवगतमित्याशङ्क्याऽऽह — अतः पूर्वेति। यदि यथावन्नित्यनैमित्तिकानुष्ठानमभविष्यत्तदा संचितदुरितक्षयोऽभविष्यत्। न चायं विहितमकार्षीदतः प्रत्यवायी भविष्यतीति शिष्टैर्लक्ष्यते। यथा [3]विचिकित्सञ्श्रोत्रिय इति। ततः शतृप्रत्ययस्यान्यथाऽप्युपपन्नत्वान्न तद्बलादकरणे हेतुत्वमवगन्तुं शक्यत इत्यर्थः।

ननु — "लक्षणहेत्वोः क्रियाया" (सू. ३-२-१२६) व्या. इति शतृप्रत्ययस्योभयत्र विधाने सति [4]किमिति हेतुत्वमेव न गृह्यते तत्राऽऽह — अन्यथेति। भावरूपस्य कार्यस्य भावरूपमेव कारणमिति प्रत्यक्षादिभिरवगतं, शतृप्रत्ययादभावस्य हेतुत्वाभिधाने सर्वप्रमाणविरोधः स्यादित्यर्थः। ननु त्वयाऽप्यकरणस्य प्रत्यवायलक्षणत्वमिष्टम्। भाट्टैश्चानुपलम्भस्याभावप्रमितिहेतुत्वमिष्यते। तार्किकैश्च प्रतिबन्धकाभावस्य तत्तत्प्रागभावस्य च तत्तत्कार्यव्यवस्थापकत्वमिष्यते। तत्कथं भावस्यैव कारणत्वम्। तदुक्तम् — "भावो यथा तथाऽभावः कारणं कार्यवन्मतम्" इति। उच्यते। अस्माभिस्तावदभावस्य स्वरूपेण कारणत्वं नेष्टम्। किंतु [5]तज्ज्ञानस्य प्रत्यवायगमकत्वमिष्टम्। [6]तेन च रूपेण न प्रत्यवायजनकत्वमि[7]ष्यते। नित्याकरणाज्ञाने प्रत्यवायाभावप्रसङ्गात्। भाट्टानामपि च [8]केषांचिज्[9]ज्ञानस्य योग्यानुपलम्भस्याभावप्रमितिहेतुत्वं सत्तया तु प्रमितिहेतुत्वेऽभावप्रमायाः [10]प्रत्यक्षत्वापातः। तार्किकाणामपि प्रतिबन्धकाभा-

---

का होना असम्भव है क्योंकि वह नित्य प्राप्त है। स्वयं आत्मा ही परब्रह्म है, ऐसा कहा जा चुका है और नित्य कर्मों का अनुष्ठान न करना अभाव रूप है, उससे प्रत्यवाय का होना असम्भव है। अतः नित्य कर्मों का न करना यह पूर्व संचित पापों से प्राप्त होने वाली प्रत्यवाय क्रिया का ही लक्षण है। इसीलिये "विहित कर्मों को न करने वाला" इसके अकुर्वन् पद में शतृ प्रत्यय का होना असंगत नहीं है।

अन्यथा अभाव से भाव की उत्पत्ति होने लग जायेगी जो सभी प्रमाणों से विरुद्ध माना जायगा।

---

१. पूर्वोपचितदुरितेभ्यः प्राप्यमाणाया इति—तेभ्यो हेतुभ्यो जनिष्यमाणाया इत्यर्थः। २. प्रत्यवायक्रियाया इति—दुःखस्येति यावत्। दुःखानुकूलनिन्दिताचारादेरिति वार्थः। ३. विचिकित्सञ्श्रोत्रिय इति—विचिकित्सा श्रोत्रियलक्षणमित्यर्थः। भोजनादिव्यवहारेषु युक्तायुक्तत्वादि संशयस्य श्रोत्रियत्वमूलकत्वादिति भावः। ४. किमितीति—युक्तं हि तद्ग्रहणं साहचर्यादिति भावः। ५. तज्ज्ञानस्येति—तज्ज्ञानश्चानुपलब्धित एवेति न ज्ञानं प्रत्यपि तस्य विषयतया कारणत्वम्। अनुपलब्धिश्च साक्षिभास्यैवेति न तस्या अपि स्वरूपतः कारणत्वं, नाप्यनुपलब्ध्यन्तरं तदर्थमाश्रयितव्यमिति भावः। ६. तेन च रूपेणेति—ज्ञानत्वेनेत्यर्थः। ७. इष्यते त्वयेति शेषः। ८. केषांचिदिति-तदेकदेशिनामित्यर्थः। ९. ज्ञानस्य योग्यानुपलम्भस्येति—तत्र चानवस्थां प्रसज्य "तस्मात् स्वसंवेद्या तन्मात्रसंविदेव दृश्यस्य प्रतियोगिनोऽभावो न तत्त्वान्तरमि"त्युक्तं शास्त्रदीपिकायां तत्र च "घटाद्यभावोऽस्ति प्रमेयं योग्यप्रमाणानुदयश्च तस्य सत्तामात्रेणैव नेत्रादिवद्बोधको न ज्ञाततया यतोऽनवस्था स्यादिति सिद्धान्तितत्वादुक्तम्। १०. प्रत्यक्षत्वापात इति—स्वरूपसत्ता करणेन प्रत्यक्षप्रमाजननस्य चक्षुरादौ नियतत्वादिति भावः।

वस्थानमित्यनुपपन्नम्।

यच्चोक्तं निरतिशयप्रीतेः स्वर्गशब्दवाच्यायाः कर्मनिमित्तत्वात्कर्मारब्ध एव मोक्ष इति। तन्न। नित्यत्वान्मोक्षस्य। [1]न हि नित्यं किंचिदारभ्यते। लोके यदारब्धं तदनित्यमिति। अतो न कर्मारब्धो मोक्षः। [2]विद्यासहितानां कर्मणां नित्यारम्भसामर्थ्यमिति

वस्य कारणत्वे[3]ऽन्योन्याश्रयत्वप्रसङ्गान्न प्रामाणिकत्वम्। प्रागभावस्यापि ज्ञातरूपेण [4]जन्मज्ञापकत्वमेव। यस्मादिदं प्राङ्नाऽऽसीत्तस्मादिदानीं जातमिति। न तु जनकत्वं प्रागभावस्य नियतप्राग्भावित्वेन कारणत्वे प्राक्कालस्य [5]स्ववृत्तितापातः। प्राग्भावित्वमपि नान्यथासिद्धमित्युक्तं तत्त्वालोके। यस्मादकरणनिमित्तप्रत्यवायपरिहारार्थं न नित्यं कर्म किंतु "कर्मणा पितृलोकः" (बृ. उ. १-५-१६) "सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति" (छा.२/२३/१) इतिश्रुतेः [6]पितृलोकप्राप्तिफलम्, तस्मान्न यथोक्तचरितस्य शरीरानुत्पाद इत्याह — इत्यत इति।

द्वितीयमतमनूद्य दूषयति — यच्चोक्तमित्यादिना। विद्यासहितेनापि कर्मणाऽऽरभ्यश्चेन्मोक्षस्तर्ह्यनित्य एव। यत्कृतकं तदनित्यमिति व्याप्तिदर्शनादित्युक्तं तत्र [7]व्याप्तिभङ्गं [8]मन्वानः शङ्कते-

---

अतः ऐसा मानना सर्वथा असंगत है कि पूर्वपक्षोक्त रीति से कर्मानुष्ठान द्वारा अनायास ही आत्मस्वरूप में स्थितिरूप मोक्ष प्राप्त हो जायगा।

और जो आपने कहा कि स्वर्गशब्द वाच्य निरतिशय प्रीति कर्म निमित्तक होने के कारण कर्म से ही मोक्ष मिल जायगा। ऐसा कहना ठीक नहीं; क्योंकि मोक्ष नित्य है और कोई भी नित्य वस्तु आरम्भ नहीं की जाती है। लोक में जो भी आरम्भ होने वाली वस्तु है, वह अनित्य ही देखी गयी है।

---

१. मोक्षो न कर्मारब्धो नित्यत्वादित्यत्र व्याप्तिं दर्शयति—न हीति। आत्मादिरत्र दृष्टान्तः। अनुकूलतर्कमाह—लोक इति। यद्यनारब्धत्वं न स्यात्तदा नित्यत्वमपि न स्यादित्यर्थः। अत्रापि तर्कान्तरं सूचयति—इतीति। नियमादिति शेषः। हेतोर्निरुपाधित्वादिति यावत्। न च ध्वंसभिन्नत्वमुपाधिस्तस्य निरसिष्माणत्वादिति भावः। निगमयति—अतो नेति। २. विद्यासहितानि कर्माणि नित्यारम्भकाणि विद्यासहितत्वाद्व्यतिरेकेण केवलकर्मवदिति विवक्षित्वाह—विद्यासहितानामिति। ३. अन्योन्याश्रयत्वप्रसंगादिति—अभावस्य कारणत्वे सिद्धे तत्प्रतियोगिनः प्रतिबन्धकत्वं, प्रतियोगिनः प्रतिबन्धकत्वे च तदभावस्य कारणत्वमित्यन्योऽन्याश्रयादित्यर्थः। कारणीभूताभावप्रतियोगिन एव तैः प्रतिबन्धकत्वाभ्युपगमादिति भावः। ४. जन्मज्ञापकत्वमेवेति—कार्यस्योत्तरकालीनत्वनियामक एव ज्ञातः प्रागभावः कारणत्वनियामिका तु कारणशक्तिरेव कार्योत्पत्तिगम्येति भावः। उक्तं ज्ञापकत्वमेवाभिनयति—यस्मादित्यादिना। ५. स्ववृत्तितापात इति—आधेयतया प्राक्कालविशिष्टस्याभावस्य प्राक्कालवृत्तित्वे विशेषणीभूतस्य प्राक्कालस्यापि प्राक्कालवृत्तित्वावश्यकतया आत्माश्रयत्वं स्यादित्यर्थः। ननु रूपोपहितस्य दण्डादेरिव पूर्वकालोपहितस्यैवाभावस्य कारणत्वं न तु तद्विशिष्टस्येति नोक्तदोष इत्याशङ्क्याऽऽह—प्राग्भावित्वमपि नान्यथासिद्धमिति। कालस्य कार्यमात्रं प्रति कारणत्वाभ्युपगमेन सामग्र्यन्तःपातितयाऽन्यथासिद्धत्वासंभवात्। न हि चक्रोपहितमेव दण्डं कारणं मत्वा चक्रस्यान्यथासिद्धत्वमभ्युपगम्यत इति भावः। किञ्च प्रागभावस्यापि प्राग्भावित्वेन कारणत्वे व्यर्थविशेषणत्वमव्यभिचारादित्याह— प्राग्भावित्वमपि चान्यथासिद्धत्वमिति। इति पाठान्तरपक्षः। ६. पितृलोकप्राप्तिफलमिति—शोधकस्यापि ज्ञानात्प्राग्देहपाते पुण्यलोकफलकत्वमानुषङ्गिकमित्यवधेयम्। ७. व्याप्तिभङ्गं व्यभिचारमित्यर्थः। ८. मन्वान इति—अनेन व्यभिचाराभिमान एव वादिनो न तु वस्तुतो व्यभिचार इति सूच्यते।

चेत्। [१]न। विरोधात्। नित्यं चाऽऽरभ्यत इति च विरुद्धम्। [२]यद्विनष्टं तदेव नोत्पद्यत [३]इति। प्रध्वंसाभाववन्नित्योऽपि मोक्ष आरभ्य एवेति चेन्न। मोक्षस्य भावरूपत्वात्। प्रध्वंसाभावोऽप्यारभ्यत [४]इत्यभावस्य विशेषाभावाद्विकल्पमात्रमेतत्। भावप्रतियोगी ह्यभावः।

यद्विनष्टमिति। भावरूपत्वादिति। यद्भावरूपं कार्यं तदनित्यमिति व्याप्तेस्तव च मोक्षस्य निरतिशय-प्रीतेर्भावत्वादनित्यत्वं स्यादेवेत्यर्थः। प्रध्वंसाभावस्य कार्यत्वमभ्युपगम्य यत्प्रध्वंसातिरिक्तकार्यं तदनित्यमिति व्याप्तिर्व्याख्याता। वस्तुतस्तु प्रध्वंसस्य कार्यत्वमपि नास्तीत्याह —प्रध्वंसेति। जन्याश्रयत्वं तावत्प्रध्वंसस्य न कार्यत्वम्। जनेर्नैरुक्तैर्भा (क्ते भा)वविकारत्वाभ्युपगमात्। नापि प्रागसतः [५]सत्ता-समवायादिलक्षणम्[६]तदनभ्युपगमात्। नाप्युत्तरकालयोगः। कालेन[७]संबन्धाभावात्। [८]अवच्छेद्यावच्छेदक-भावस्य [९]संबन्धान्तरमूलकत्वदर्शनादुत्तरकालस्य प्रध्वंसावच्छेदकत्वं [१०]स्वभावश्चेद[११]न्यावच्छेदकत्वं स्वभावो न स्यात्। [१२]तस्मादभावस्य निर्विशेषकत्वात्कार्यत्वं कल्पनामात्रमिति भावः। किंच, अभावस्य भावनिषेधमात्रस्वभावत्वाद्भावविरोधित्वाच्च न भावरूपो धर्मः संभवतीत्याह — भावेति।

अतः मोक्ष कर्म से आरम्भ नहीं हो सकता। पूर्वपक्षः-यदि ज्ञान सहित कर्मों में नित्य मोक्ष आरम्भ करने की शक्ति मानें तो? सिद्धान्तीः- ऐसा मानना भी ठीक नहीं; क्योंकि ऐसा मानने में विरोध है। मोक्ष नित्य है और वह कर्म से आरम्भ किया जाता है ऐसा कहना परस्पर विरुद्ध है। पूर्वपक्षः- जो वस्तु नष्ट हो गयी वही पुनः उत्पन्न नहीं होती है। अतः प्रध्वंसाभाव के समान नित्य होता हुआ भी मोक्ष कर्म से आरम्भ करने योग्य ही है। यदि ऐसा माने तो? सिद्धान्तीः- ऐसा मानना भी ठीक नहीं क्योंकि मोक्ष भावरूप है, प्रध्वंसाभाव भी आरम्भ किया जाता है। ऐसा मानना सम्भव नहीं है क्योंकि अभाव में कोई विशेषता न होने के कारण यहाँ केवल विकल्पमात्र ही है। भाव का प्रतियोगी ही अभाव कहलाता है।

---

१. विशिष्टकर्मारभ्योऽपि मोक्षो न नित्यः कार्यत्वाद्घटवदित्यभिप्रेत्याह—न। विरोधादिति। २. यद्विनष्टमिति—यन्नित्यं तन्नोत्पद्यत इति नास्ति नियमो ध्वंसे व्यभिचारात्। किं तर्हि यद्विनाशप्रतियोगि संजातं तदेव पुनर्नोत्पद्यते घटादि तद्विनाशस्तु नित्योऽपि सन्नुत्पद्यत एवेत्यभिप्रायः। इति नियमादित्यर्थः। नित्यत्वमत्र ध्वंसाप्रतियोगित्वमात्रमित्यवधेयम्। ४. इति विकल्पमात्रमेतदित्यन्वयः। तत्र हेतुमाह—अभावस्य विशेषाभावादिति। अधिकरणातिरेकायोगादिति यावत्। अधिकरणमेवाभावत्वेन विकल्प्यत इति भावः। यद्वा प्रध्वंसाभावस्याभावान्तरेभ्यो विशेषाभावादित्यर्थः। तथा च ध्वंसोऽकार्यमभावत्वादत्यन्ताभावादिवदित्यभिप्रायः। वस्तुतस्तु ध्वंसस्य कार्यत्वविशेषाभाववत्त्वादित्यर्थः। तथाच टीकोक्तजन्याश्रयत्वादिरूपकार्यविशेषासंभवात् कार्यत्वसामान्याभावः साध्यते-आरम्भ्यत इति विकल्पमात्रमेतदिति। ५. सत्तासमवायादीत्यादिना—द्रव्यसमवायसंग्रहः। तत्रापि प्रागसत इत्यनुवर्तत एव ६. तदनभ्यु-पगमादिति-द्रव्यगुणकर्मणामेव तथात्वाङ्गीकारात्त्वयेति भावः। ७. संबन्धाभावादिति - संयोगस्य द्रव्ययोरेव समवायस्य च गुणगुण्यादिष्वेव स्वीकारादिति भावः। ८. अवच्छेद्यावच्छेदकभावसम्बन्धं शङ्कित्वाऽऽह—अवच्छेद्येति। ९. सम्बन्धान्तरेति—समवायादिनैव हि वह्नित्वादेः साध्यताद्यवच्छेदकत्वं दृष्टमिति भावः १०. स्वभाव इति—न हि स्वभावः (सम्बन्धान्तरादि) निमित्तमपेक्षत इति भावः। ११. अन्यावच्छेदकत्वमिति— तथाच कार्यस्य घटादेः कारणापेक्षयोत्तरकालावच्छिन्नत्वं न स्यादिति भावः। १२. ध्वंसकार्यत्वविशेषाणां निरूपयितुमशक्यत्वादभावात् कार्यत्वसामान्याभाव इत्याह—तस्मादित्यादिना।

यथा ह्यभिन्नोऽपि भावो घटपटादिभिर्विशेष्यते। भिन्न इव घटभावः पटभाव इत्येवं निर्विशेषोऽप्यभावः क्रियागुणयोगाद्[१]द्रव्यादिवद्विकल्प्यते। न ह्यभाव उत्पलादिवद्विशेषण-सहभावी। विशेषणवत्त्वे भाव एव स्यात्। विद्याकर्मकर्तृनित्यत्वाद्विद्याकर्मसंतानजनितमोक्ष-नित्यत्वमिति चेत्। गङ्गास्रोतोवत्। न। कर्तृत्वस्य दुःखरूपत्वात्। कर्तृत्वोपरमे च मोक्षविच्छेदात्। तस्मादविद्याकामकर्मोपादानहेतुनिवृत्तौ स्वात्मन्यवस्थानं मोक्ष इति। स्वयं चाऽऽत्मा ब्रह्म तद्विज्ञानादविद्यानिवृत्तिर्मोक्ष इति ब्रह्मविद्यार्थोपनिषदारभ्यते।

ननु—अभावश्चतुर्विधः। तत्रानित्यः प्रागभावः। प्रध्वंसादयस्तु नित्याः। ततः कथं निर्विशेष-त्वमित्याशङ्कयाऽऽह — यथा हीति। [२]भावप्रत्ययस्यैकाकारत्वादेक एव [३]भावो यथाऽवच्छेदकभेदाद्भिन्न इव प्रकाशते। तथा निषेधप्रत्ययस्यैकाकारत्वादेक एवाभावोऽवच्छेदकभेदाद्भिन्न इव प्रकाशते। जायते नश्यति चेति क्रियायोगा[४]त्संख्यागुणयोगाद्द्रव्यवदभावो विकल्प्यते। न तु तत्त्वतः सविशेष इत्यर्थः। इतश्च न तत्त्वतः सविशेष इत्याह — न हीति। विशेषणं हि विशेष्यान्वयि प्रसिद्धम्। प्रतियोगिना च विशेषणेन नाभावस्य सहभावोऽस्ति। घटप्रध्वंसस्य नित्यत्वे घटस्यापि नित्यत्वप्रसङ्गात्। घटसह-भावित्वे च तदभावत्वव्याघाताद्भावाभावयोः सहानवस्थानरूपविरोधाभ्युपगमात्। ततः प्रतियोगि-विशेषादभावः सविशेषः कार्यत्वादिधर्मवानिति विभ्रममात्रमित्यर्थः। एवं प्रध्वंसदृष्टान्तेन शङ्कितं नित्यत्वं परिहृत्य प्रकारान्तरेणाऽऽशङ्क्य निषेधति — विद्याकर्मेत्यादिना। विद्याकर्मणोः कर्ता नित्य इति साधनसांतत्यात्साध्यसांतत्यं न वाच्यम्। कर्तृत्वस्यानुपरमेऽनिर्मोक्षप्रसङ्गादुपरमे च साधनसांतत्याभा-वान्मोक्षस्य विच्छित्तिः स्यादित्यर्थः। यस्मान्निःश्रेयसं [५]ब्रह्मज्ञानं विना दुष्प्रापं तस्मादित्युपसंहारः।

जिस प्रकार भाव वस्तुतः भिन्न होता हुआ भी घट-पटादि विशेषणों के कारण भिन्न की भाँति घटभाव पटभाव आदिरूप से विशेषित किया जाता है, इसी प्रकार अभाव निर्विशेष होता हुआ भी क्रिया और गुण के सम्बन्ध से द्रव्यादि के समान विकल्पित होता रहता है। कमल आदि पदार्थों के अभाव विशेषण के साथ रहने वाला नहीं है और विशेषण युक्त मानने पर तो वह भाव ही हो जायगा अभाव नहीं रहेगा। पूर्वपक्ष :- विद्या और कर्म का कर्ता नित्य होने के कारण विद्या और कर्म के सतत प्रवाह जनित मोक्ष को नित्य ही होना चाहिए। यदि ऐसा माना जाय तो? सिद्धान्तीः- नहीं, गंगा प्रवाह की भाँति कर्तृत्व तो दुःखरूप ही है और कर्तृत्व से मोक्ष मानने पर कर्तृत्व के निवृत्त होते ही मोक्ष का विच्छेद हो जायगा। ब्रह्मज्ञान के विना मोक्ष असम्भव होने के कारण अविद्या काम कर्म के उपादान कारण की निवृत्ति करके अपनी आत्मा में स्थित रहना मोक्ष है। आत्मा ही स्वयं ब्रह्म है आत्मविज्ञान से अविद्या की निवृत्ति हो जाती है, यही मोक्ष है। अतः ब्रह्मविद्या के लिए अब उपनिषत् प्रारम्भ की जाती है।

---

१. द्रव्यादिवदित्येव युक्तम्। २. भावप्रत्ययस्येति—अत्र विधिप्रत्ययस्येति पाठान्तरम्। ३. भावः सत्ता। ४. संख्यागुण-योगादिति—एको द्वाविति संख्यात्मकगुणारोपाद्द्रव्यवदभावो विकल्प्यते व्यवह्रियत इति भावः। ५. ब्रह्मज्ञानं विनेति—एतेन समुच्चयवादिनो विध्येत्युपासनाऽभिप्रेतेति ध्वन्यते।

हरिॐ

शं नो मित्रः शं वरुणः। शं नो भवत्वर्यमा। शं न इन्द्रो बृहस्पतिः। शं नो विष्णुरुरुक्रमः। नमो ब्रह्मणे। नमस्ते वायो। त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि। त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि। ऋतं वदिष्यामि।

मित्र (प्राणवृत्ति और दिन का अभिमानी सूर्यदेव) हमारे लिए सुख रूप हो। (अपानवृत्ति और रात्रि का अभिमानीदेव) वरुण (हमारे लिए) सुखप्रद होवे। (नेत्र और सूर्य का अभिमानी) अर्यमा हमारे लिए सुखावह हो। बलाभिमानी इन्द्र तथा वाणी और बुद्धि का अभिमानी बृहस्पति हमारे लिए शान्तिवाहक हो और विस्तृत पाद वाला (पादाभिमानी) विष्णु देवता सुखदायक हो। (समस्त कर्मों का फल वायु के अधीन होने से) ब्रह्म रूप वायु को नमस्कार है। हे वायो! तुम्हें नमस्कार है। तुम्हीं प्रत्यक्ष ब्रह्मरूप हो अतः मैं तुम्हीं को प्रत्यक्ष ब्रह्म कहूँगा। तुम्हीं को ऋत (शास्त्र

उपनिषदिति विद्योच्यते। तच्छीलिनां गर्भजन्मजरादिनिशातनात्तदवसादनाद्वा ब्रह्मणो वोपनिगमयितृत्वादुपनिषण्णं वाऽस्यां परं श्रेय इति। [१]तदर्थत्वाद्ग्रन्थोऽप्युपनिषत्।

शं सुखं प्राणवृत्तेरह्नश्चाभिमानी देवतात्मा मित्रो नोऽस्माकं भवतु। तथैवापानवृत्ते रात्रेश्चाभिमानी देवतात्मा वरुणः। चक्षुष्यादित्ये चाभिमान्यर्यमा। बल इन्द्रः। वाचि बुद्धौ च बृहस्पतिः। विष्णुरुरुक्रमो विस्तीर्णक्रमः पादयोरभिमानी। एवमध्यात्म-

---

ब्रह्मविद्यायामुपनिषच्छब्दप्रसिद्धिरपि विद्याया एव निःश्रेयससाधनत्वे प्रमाणमित्याह— उपनिषदिति। निशातनाच्छिथिलीकरणादित्यर्थः। अस्यां विद्यायां निमित्तभूतायां परं श्रेयो ब्रह्म, जीवस्योपनिषण्णमा[२]त्मतयोपस्थितं भवतीत्यर्थः।

एवमुपनिषदो व्याख्यारम्भं संभाव्य प्रतिपदं व्याख्यामारभते — शं सुखमित्यादिना। शं नो भवत्विति। सुखकृद्भवत्वित्यर्थः। अध्यात्मप्राणकरणाभिमानिनीनां देवतानां सुखकृत्त्वं किमिति

(ब्रह्मविद्या) सेवन करने वाले पुरुषों के गर्भ जन्म और जरा आदि का उच्छेद करने अथवा उनका नाश करने के कारण ब्रह्मविद्या ही उपनिषत् शब्द से कही जाती है अथवा ब्रह्म के समीप पहुँचाने वाली होने से या उपनिषत् में परम श्रेय ब्रह्म उपस्थित है, इसीलिए भी ब्रह्मविद्या उपनिषत् कही गयी है। ऐसी विद्या का सम्पादक होने के कारण ग्रन्थ भी उपनिषत् शब्द से कहा गया है।

शिक्षावल्ली का शान्तिपाठ

प्राणवृत्ति और दिन का अभिमानी मित्र देवता हमारे लिये सुख रूप हों वैसे ही अपानवृत्ति और रात्रि का अभिमानी देवता वरुण, नेत्र और सूर्य का अभिमानी अर्यमा, बल में अभिमान करने वाला इन्द्र, वाणी और बुद्धि का अभिमानी वृहस्पति तथा विस्तीर्णपाद विक्षेप वाला पादाभिमानी देवता विष्णु इत्यादि सभी अध्यात्म देवता हमारे लिये सुखप्रद होवें। "भवतु" इस क्रिया का सम्बन्ध

---

१. नन्वेवं ब्रह्मविद्यार्थोपनिषदारभ्यत इति व्याहतं स्वस्य स्वप्रयोजनकत्वासंभवादित्याशङ्क्याऽऽह—तदर्थत्वाद्ग्रन्थोऽप्युपनिषदिति। २. स्वात्मतयेति पाठः।

सत्यं वदिष्यामि। तन्मामवतु। तद्वक्तारमवतु। अवतु
माम्। अवतु वक्तारम्। ॐ शान्तिः शान्तिःशान्तिः।।
सत्यं वदिष्यामि पञ्च च।।
इति कृष्णयजुर्वेदीयतैत्तिरीयोपनिषदि शीक्षाध्याये
प्रथमोऽनुवाकः।।१।।

एवं स्वकर्तव्यानुसार निश्चित अर्थरूप) कहूँगा और सत्य (शरीर-वाणी से सम्पादन किये जाने वाला कार्य रूप सत्य भी मैं तुम्हीं को) कहूँगा। अतः आप (मुझ विद्यार्थी को विद्या प्रदान कर), मेरी रक्षा करो। (वक्तृत्व-सामर्थ्य प्रदान कर) ब्रह्म के निरूपण करने वाले आचार्य की भी रक्षा करो, मेरी रक्षा करो एवं वक्ता की रक्षा करो। त्रिविध ताप की शान्ति हो।

।। इति प्रथमोऽनुवाकः।।

देवताः। शं नो भवत्विति सर्वत्रानुषङ्गः। तासु हि सुखकृत्सु विद्याश्रवणधारणोपयोगा अप्रतिबन्धेन भविष्यन्तीति तत्सुखकर्तृत्वं प्रार्थ्यते—शं नो भवत्विति।

ब्रह्मविविदिषुणा नमस्कारवन्दनक्रिये वायुविषये ब्रह्मविद्योपसर्गशान्त्यर्थं क्रियेते सर्वक्रियाफलानां तदधीनत्वाद्। ब्रह्म वायुस्तस्मै ब्रह्मणे नमः। प्रह्वीभावं करोमीति वाक्यशेषः। नमस्ते तुभ्यं हे वायो। नमस्करोमीति परोक्षप्रत्यक्षाभ्यां वायुरेवाभिधीयते। किंच त्वमेव चक्षुराद्यपेक्ष्य बाह्यं संनिकृष्टमव्यवहितं प्रत्यक्षं ब्रह्मासि यस्मात्तस्मात्त्वामेव

प्रार्थ्यते तत्राऽऽह — तासु हीति। श्रवणं गुरुपादोपसर्पणपूर्वकं वेदान्तानां तात्पर्यावधारणम्। धारणं [१]श्रुतस्याप्यविस्मरणम्। उपयोगः शिष्येभ्यो निवेदनम्।

अन्यद्ब्रह्म वायुश्चान्य इति नाऽऽशङ्कनीयमित्याह — परोक्षेति। ब्रह्मण इति पारोक्ष्येण स ब्रह्म त्यदित्याचक्षत इति श्रुतेः। वायुशब्देन च प्रत्यक्षतया निर्देशः। प्राणस्य प्रत्यक्षत्वादित्यर्थः। यद्यपि सूत्रात्मरूपेण वायुः परोक्षस्तथाऽप्याध्यात्मिकप्राणरूपेण ब्रह्मशब्दवाच्यत्वेऽप्यपरोक्षत्वमित्याह — किंचेति। बाह्यं चक्षुरादि रूपदर्शनाद्यनुमेयत्वाद्व्यवहितम्। प्राणस्त्व[२]व्यवधानेन साक्षिवेद्यः [३]संनिहितश्च भोक्तुरिति चक्षुराद्यपेक्षया प्रत्यक्ष इत्यर्थः। बृंहणाद्ब्रह्म। प्राणकृतेन [४]श्वसनादिना शरीरादेर्बृंहणं प्रसिद्धमित्यर्थः। यथा राज्ञो दौवारिकं कश्चिद्राजदिदृक्षुराह त्वमेव राजेति तथा हार्दस्य ब्रह्मणो द्वारपं प्राणं हार्दं ब्रह्म दिदृक्षुर्मुमुक्षुराह — त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामीति। ब्रह्मवदनक्रिया

सभी वाक्यों के साथ है। उनके सुखप्रद होने पर ही ज्ञान के साधन श्रवण, धारण और उपयोग निर्विघ्नता से हो सकेंगे। इसीलिये 'शन्नो भवतु' इत्यादि मन्त्र द्वारा उनकी सुखदायकता की प्रार्थना की जाती है।

तत्पश्चात् ब्रह्मजिज्ञासुओं द्वारा ब्रह्मविद्या के विघ्नों की निवृत्ति के लिये वायु विषयक नमस्कार और वन्दन किये जाते हैं। समस्त कर्मों का फल वायु के अधीन होने के कारण ब्रह्म वायुरूप है, उस वायुरूप ब्रह्म को मैं नमस्कार करता हूँ। यहाँ पर "करोमि" यह क्रिया पद वाक्यशेष है। हे

---

१. श्रुतस्यापीति—श्रुतस्यापि विस्मरणं संभवति तदभावस्तु धारणमिति संभावनायामपिशब्दो व्याख्येयः। २. मानान्तरं विनैव। ३. अन्तरेण प्राणव्यापारं भोगासंभवात्। ४. अशनायादिनेति पाठः।

अथ शीक्षाध्याये द्वितीयोऽनुवाकः

ॐ शीक्षां व्याख्यास्यामः। वर्णः स्वरः। मात्रा बलम्।

अब हम शिक्षा की व्याख्या करेंगे। (अकारादि) वर्ण, (उदात्त, अनुदात्त और स्वरित) स्वर (ह्रस्व-दीर्घ-प्लुत) मात्रा, (वर्णोच्चारण में प्राणों का विशेष रूप) बल, मध्यम वृत्ति से उच्चारण

प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि। ऋतं यथाशास्त्रं यथाकर्तव्यं बुद्धौ सुपरिनिश्चितमर्थं तदपि त्वदधीनत्वात्त्वामेव वदिष्यामि। सत्यमिति वाक्कायाभ्यां संपाद्यमानः सोऽपि त्वदधीन एव संपाद्य इति त्वामेव सत्यं वदिष्यामि। तत्सर्वात्मकं वाय्वाख्यं ब्रह्म मयैवं स्तुतं सन्मां विद्यार्थिनमवतु वक्तारमिति पुनर्वचनमादरार्थम्। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्ति-रिति त्रिर्वचनमाध्यात्मिकाधिभौतिकाधिदैविकानां विद्याप्राप्त्युपसर्गाणां प्रशमार्थम्।।१।।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ तैत्तिरीयोपनिषच्छीक्षाध्यायभाष्ये प्रथमोऽनुवाकः।।१।।

अर्थज्ञानप्रधानत्वादुपनिषदो ग्रन्थपाठे यत्लोपरमो मा भूदिति शीक्षाध्याय

प्राणदेवतास्तुत्यर्था। स्तुत्यन्तरमाह — ऋतमित्यादिना।।१।।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छुद्धानन्दपूज्यपादशिष्यानन्दज्ञानविरचितायां तैत्ति-रीयोपनिषच्छांकरभाष्यटीकायां शीक्षाध्याये प्रथमोऽनुवाकः।।१।।

यत्लोपरम इति। स्वरोष्मव्यञ्जनादिप्रमादो मा भूदित्यर्थः। अन्यथा विवक्षितार्थसिद्धिरेव न स्यात्।

तदुक्तम्—

"मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्" इति।।

वायो! तुम्हें नमस्कार है, मैं तुम्हें नमस्कार करता हूँ। इस प्रकार यहाँ पर परोक्ष और प्रत्यक्षरूप से वायु ही कहा गया है। इसके अतिरिक्त बाह्य चक्षुरादि की अपेक्षा समीपवर्ती अव्यवहित प्रत्यक्ष तुम ब्रह्म ही हो। इसलिये तुम्हीं को मैं प्रत्यक्ष ब्रह्म कहूँगा। तुम्हीं को ऋत अर्थात् शास्त्र और अपने कर्तव्यानुसार बुद्धि में सम्यक् रूप से निश्चित किया हुआ अर्थ कहूँगा क्योंकि वह ऋत तुम्हारे ही अधीन है। वाणी और शरीर से सम्पादन किये जाने वाला वह अर्थ ही सत्य कहा जाता है, वह भी तुम्हारे ही अधीन सम्पादन किया जाता है, अतः तुम्हीं को मैं सत्य कहूँगा। वह वायु नामक सर्वात्मक ब्रह्म इस प्रकार मेरे द्वारा स्तुति किये जाने पर मुझ विद्यार्थी को विद्या से युक्त करके रक्षा करे, वही ब्रह्म वक्तृत्व-सामर्थ्य से युक्त कर वक्ता आचार्य की रक्षा करे, मेरी रक्षा करे और वक्ता की रक्षा करे। इस प्रकार दो बार आदर के लिये कहा गया है। "ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः" ऐसा तीन बार उच्चारण विद्या प्राप्ति में आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक विघ्नों की निवृत्ति के लिये किया गया है।

साम संतानः। इत्युक्तः शीक्षाध्यायः।।१।।

शीक्षां पञ्च।।

इति कृष्णयजुर्वेदीयतैत्तिरीयोपनिषदि शीक्षाध्याये द्वितीयोऽनुवाकः।।२।।

करना रूप) साम तथा सन्तान (संहिता, बस! ये ही इस शिक्षा अध्याय में सीखने योग्य विषय है।) इस प्रकार शिक्षा अध्याय कह दिया गया है ।।१।।

।।इति द्वितीयोऽनुवाकः।।

आरभ्यते—शिक्षा शिक्ष्यतेऽनयेति वर्णाद्युच्चारणलक्षणम्। शिक्ष्यन्त इति वा शिक्षा वर्णादयः[१]। शिक्षैव शीक्षा। दैर्घ्यं छान्दसम्। तां शीक्षां व्याख्यास्यामो विस्पष्टमासमन्तात्कथयिष्यामः। चक्षिङो वा ख्याञादिष्टस्य व्याङ्पूर्वस्य व्यक्तत्वात्क-(वाक्क)र्मण एतद्रूपम्। तत्र वर्णोऽकारादिः। स्वर उदात्तादिः। मात्रा ह्रस्वाद्याः। बलं प्रयत्नविशेषः। साम वर्णानां मध्यमवृत्त्योच्चारणं समता। संतानः संततिः। संहितेत्यर्थः। एष हि शिक्षितव्योऽर्थः। शिक्षा यस्मिन्नध्याये सोऽयं शीक्षाध्याय [२]इत्येवमुक्त उदित उक्त इत्युपसंहार[३]उत्तरार्थः।।१।।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छंकर-भगवतः कृतौ तैत्तिरीयोपनिषच्छीक्षाध्यायभाष्ये द्वितीयोऽनुवाकः।।२।।

लक्षणमिति। लक्षणं शास्त्रम्। ऋटुरषाणां मूर्धा, इचुयशानां तालिवत्यादि। तस्यान्यत्रैव सिद्धत्वादिह कर्मव्युत्पत्तिरेव शिक्षाशब्दस्य ग्राह्या। (रूपमिति) "चक्षिङः ख्याञ्" "वा लिटि" इति सूत्रेण ख्याञादिष्टो यस्य तस्येदं रूपं न "ख्या प्रकथने" इत्यस्य तस्य [४]सोपसर्गस्य, प्रयोगानभिधानादित्यर्थः।।१।।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छुद्धानन्दपूज्यपादशिष्यानन्दज्ञानविरचितायां तैत्तिरी-योपनिषच्छांकरभाष्यटीकायां शीक्षाध्याये द्वितीयोऽनुवाकः।।२।।

शिक्षा की व्याख्या

अर्थज्ञान की प्रधानता होने के कारण उपनिषत् ग्रन्थ के अध्ययन में प्रयत्न शिथिल न हो जाए एतदर्थ पहले शिक्षा अध्याय प्रारम्भ किया जाता है। जिससे वर्णादि का उच्चारण सीखा जाय उसे शिक्षा कहते हैं अथवा जो सीखे जाएं, ऐसे वर्ण आदि शिक्षा हैं। शिक्षा को ही शीक्षा कहा गया है, यहाँ पर दीर्घत्व वैदिक है। उस शिक्षा का हम सर्वतोभावेन विस्पष्ट वर्णन करेंगे। "व्याख्यास्यामः"

---

१. आदिना स्वरादिग्रहः। २. शिक्षाध्यायस्यासमाप्तत्वादितिशब्दं प्रकारार्थे व्याचष्टे—इत्येवमिति। ३. उत्तरार्थ इति—न समाप्त्यर्थः। किन्त्वित्वेमादिरूपः पूर्वाचार्यैरुक्तः शिक्षाध्यायो वक्ष्यत इत्यर्थक इत्यभिप्रायः। ४. सोपसर्गस्येति—"संस्थानत्वं नमः ख्यात्रे" इत्यादि प्रतिबन्धकसहितस्येत्यर्थः। प्रयोगानभिधानादिति—प्रयोगस्यासार्वत्रिकत्वादिति यावत्। यथाश्रुतं तु चिन्त्यम्। व्याख्यातीत्यादिप्रयोगदर्शनात्।

अथ शीक्षाध्याये तृतीयोऽनुवाकः।

सह नौ यशः। सह नौ ब्रह्मवर्चसम्। अथातः सꣳहिताया उपनिषदं व्याख्यास्यामः। पञ्चस्वधि-करणेषु। अधिलोकमधिज्यौतिषमधिविद्यमधिप्रज-

(संहितादि उपासना के परिविज्ञान से प्राप्त होने वाला) यश हम शिष्य और आचार्य दोनों को साथ-साथ प्राप्त हो और (उसके निमित्त से होने वाला) ब्रह्म तेज भी हमें साथ-साथ प्राप्त हो। (ग्रन्थ के अध्ययन में अत्यन्त आसक्त बुद्धि वाले पुरुष की सहसा प्रवृत्ति अर्थज्ञान करने में नहीं होती) अतः अव हम पाँच अधिकारियों में संहिता संबन्धिनी उपासना की व्याख्या करेंगे। अधिलोक (लोक

अधुना संहितोपनिषदुच्यते। तत्र संहिताद्युपनिषत्परिज्ञाननिमित्तं यद्यशः प्राप्यते तन्नावावयोः शिष्याचार्ययोः सहैवास्तु। तन्निमित्तं च यद्ब्रह्मवर्चसं तेजस्तच्च सहैवास्त्विति शिष्यवचनमाशीः। शिष्यस्य ह्यकृतार्थत्वात्प्रार्थनोपपद्यते नाऽऽचार्यस्य। कृतार्थत्वात्। कृतार्थो ह्याचार्यो नाम भवति।

अथानन्तरम[1]ध्ययनलक्षणविधानस्य पूर्ववृत्तस्य यतोऽत्यर्थं ग्रन्थभाविता बुद्धिर्न शक्यते सहसाऽर्थज्ञानविषयेऽवतारयितुमित्यतः संहिताया उपनिषदं संहिताविषयं दर्शनमित्ये-

---

संहिता वर्णानां संनिकर्षस्तद्विषयमुपासनं प्रथमं कथ्यत इत्याह – अधुनेति। [2]संनिधानाच्च स्वशाखासंहितैव ग्राह्या। शं नो मित्र इत्याशीर्वादः कृत्स्नोपनिषच्छेषः। संहितोपनिषच्छेष-माशीर्वादान्तरमाह – तत्रेति।

वस्तूपासनं हित्वा प्रथमतः शब्दोपासनविधाने हेतुरतःशब्देनोक्त इत्याह – यतोऽत्यर्थमिति।

यह पद 'वि' और 'आङ्' उपसर्ग पूर्वक 'चक्षिङ्' धातु के स्थान में वैकल्पिक 'ख्याञ्' आदेश करने से निष्पन्न होता है। जिसका अर्थ होता है विस्पष्ट उच्चारण। वहाँ अकारादि वर्ण, उदात्तादि स्वर, ह्रस्वादि मात्राएँ, वर्णों के उच्चारण में बाह्याभ्यन्तर विशेषरूप वल वर्णों को मध्यमवृति से उच्चारण करने रूपी क्षमता तथा संहिता, बस यही शिक्षणीय विषय है। जिस अध्याय में शिक्षा है और इस प्रकार वही यह अध्याय कह दिया गया। यहाँ पर उक्त पद उपसंहार के लिये है।

पंचविध संहितोपासना

अव संहिता से सम्बन्धित उपासना कही जाती है, उस संहितादि सम्बन्धी उपासना के परिज्ञान के कारण जिस यश की याचना की जाती है, वह यश शिष्य और आचार्य हम दोनों को एक साथ ही प्राप्त हो तथा यश निमित्तक जो ब्रह्मतेज होता है, वह भी हम दोनों को साथ-साथ ही मिले। इस प्रकार शिष्य का कामना विषयक वाक्य है क्योंकि अकृतार्थ होने के कारण शिष्य के लिये ही प्रार्थना सम्भव है; आचार्य के लिए नहीं क्योंकि आचार्य कृतार्थ हो चुका है। कृतार्थ पुरुष ही आचार्य कहलाता है।

---

१. अध्ययनलक्षणविधानस्येति—अध्ययनं लक्ष्यतेऽवगम्यते अनेनेति अध्ययनलक्षणम्। वर्णः स्वर इत्यादि शिक्षा तद्विधानानन्तरमित्यर्थः। २. संनिधानाच्चेत्यादि—अथात इत्यादिवक्तुराचार्यस्य प्रकृतशाखयैव संनिधानाद्यजुर्वेदीयसंहितैव ग्राह्येत्यर्थः।

मध्यात्मम्। ता महासꣳहिता इत्याचक्षते। अथाधि-
लोकम्। पृथिवी पूर्वरूपम्। द्यौरुत्तररूपम्। आकाशः
संधिः।।१।।

विषयक दर्शन), अधिज्यौतिष, अधिविद्य, अधिप्रज और अध्यात्म, ये ही पाँच आश्रय हैं। (विद्वान् लोग) इन्हें महासंहिता इस नाम से कहते हैं। अब अधिलोक उपासना का वर्णन किया जाता है। संहिता के पूर्व वर्ण में पृथिवी दृष्टि करनी चाहिए। अंतिम वर्ण द्युलोक है, मध्यभाग आकाश है।।१।।

तद्[1]ग्रन्थसंनिकृष्टामेव व्याख्यास्यामः। पञ्चस्वधिकरणेष्वाश्रयेषु ज्ञानविषयेष्वित्यर्थः। कानि तानीत्याह—अधिलोकं लोकेष्वधि यद्दर्शनं तदधिलोकम्। तथाऽधिज्यौतिषमधिविद्यमधिप्रजमध्यात्ममिति। ता एताः पञ्चविषया उपनिषदो लोकादिमहावस्तुविषयत्वात्संहिताविषयत्वाच्च महत्यश्च ताः संहिताश्च महासंहिता इत्याचक्षते कथयन्ति वेदविदः। अथ तासां यथोपन्यस्तानामधिलोकं दर्शनमुच्यते। दर्शनक्रमविवक्षार्थोऽथशब्दः

पञ्चस्विति सप्तमी तृतीयार्थे विपरिणेया। अधिकरणशब्दश्च विषयपर्यायः। पञ्चभिः पदार्थैर्विशेषितं ज्ञानं वर्णेषु कर्तव्यम्। यथा विष्णुदर्शनं प्रतिमायामित्यर्थः। लोकेष्वधीति। लोकानधिकृत्योपादाय ध्येयत्वेनेत्यर्थः। विद्याशब्देन विद्याप्रतिबद्ध आचार्यादिर्विवक्षितः। तथैव प्रजाशब्देन प्रजापतिबद्धः पित्रादिर्विवक्षितः। अध्यात्ममिति। आत्मानं भोक्तारमधिकृत्य यद्वर्तते जिह्वादि तद्विवक्षितम्। सर्वत्र तत्तदभिमानिनी देवतैव ग्राह्या। अन्यस्योपास्यत्वासंभवादिति। विधिशेषमर्थवादमाह—ता एता इति। संहितोपनिषदः कर्तव्या इत्यु[2]त्पत्तिविधिरुक्तः। कथं कर्तव्या इत्याकाङ्क्षायां [3]विनियोगविधिमाह— अथ तासामित्यादिना। कर्तुरेकत्वादनुष्ठेयानां बहुत्वादवश्यंभाविनि क्रमे विशेषनियमार्थोऽथशब्दः।

अथ-पूर्वोक्त अध्ययनरूप विधान के अनन्तर, अतः-क्योंकि ग्रन्थ के अध्ययन में अत्यन्त आसक्त बुद्धिवाले पुरुष को सहसा अर्थ ग्रहण करने में प्रवृत्त नहीं किया जा सकता है, इसीलिये हम ग्रन्थ के निकटवर्ती संहिता से सम्बन्धित दृष्टि के ज्ञान के विषय पांच अधिकरणों में व्याख्या करेंगे अर्थात् वर्णों के विषय में पांच प्रकार का ज्ञान बतलाएँगे। वे पाँच अधिकरण कौन-कौन से हैं? इसे कहते हैं जो लोक विषयक दर्शन हो उसे अधिलोक कहते हैं। ऐसे ही अधिज्यौतिष, अधिविद्य अधिप्रजा और आध्यात्मिक भी समझना चाहिए। वे ही ये पंच विषयक सम्बन्धी उपनिषदें लोकादि महावस्तु विषयक और संहिता विषयक होते हैं। इसीलिये इन्हें वेद के रहस्यवेत्ता पुरुष महासंहिता कहकर पुकारते हैं। अब उपर्युक्त पाँच प्रकार की उपासनाओं में से पहले अधिलोक दर्शन को कहा जाता है। यहाँ दर्शन क्रम बतलाना अभीष्ट है। अतः अथ शब्द की अनुवृत्ति सर्वत्र करनी चाहिए। पृथिवी पूर्वरूप है अर्थात् पूर्ववर्ण ही पूर्वरूप कहा गया है। इससे यही बतलाना अभीष्ट है कि सन्धि के पूर्ववर्ण में

---

१. ग्रन्थसंन्निकृष्टामेव — ग्रन्थाधिष्ठानमेवेत्यर्थः। २. उत्पत्तिविधिरिति—कर्मस्वरूपमात्रबोधको विधिरुत्पत्तिविधिः यथाऽग्निहोत्रं जुहोतीति। ३. विनियोगविधिमिति—अङ्गसम्बन्धबोधको विधिर्विनियोगविधिः यथा दध्ना जुहोतीति।

वायुः संधानम्। इत्यधिलोकम्। अथाधिज्यौतिषम्।
अग्निः पूर्वरूपम्। आदित्य उत्तररूपम्। आपः
संधिः। वैद्युतः संधानम्। इत्यधिज्यौतिषम्।
अथाधिविद्यम्। आचार्यः पूर्वरूपम्।।२।।
अन्तेवास्युत्तररूपम्। विद्यासंधिः। प्रवचनꣳसंधानम्।
इत्यधिविद्यम्। अथाधिप्रजम्। माता पूर्वरूपम्।
पितोत्तररूपम्। प्रजा संधिः। प्रजननꣳसंधानम्।
इत्यधिप्रजम्।।३।

और वायु उसका परस्पर सम्बन्ध कराने वाला है, (संहिता में ऐसी दृष्टि करने के लिए) यह अधिलोक दर्शन कहा गया इसके बाद अधिज्यौतिष दर्शन कहा जाता है। यहाँ पर पूर्व वर्ण में अग्नि दृष्टि करनी चाहिए, अंतिम वर्ण द्युलोक है, जल मध्य भाग है और विद्युत् परस्पर सम्बन्ध कराने वाली है। (अधिज्यौतिष उपासक को संहिता में ऐसी दृष्टि करने के लिए) यह अधिज्यौतिष दर्शन कहा गया। इसके बाद अधिविद्य दर्शन कहा जाता है। यहाँ पर संहिता के प्रथम वर्ण में आचार्य दृष्टि करे।।२।।

अंतिम वर्ण शिष्य है, विद्या दोनों का सम्बन्ध कराने वाली संधि है। (और प्रश्नोत्तर रूप) प्रवचन दोनों का संधान है, (अधिविद्य उपासक को ऐसी दृष्टि करने के लिए) यह विद्या सम्बन्धी दर्शन कह दिया। अब अधिप्रज कहा जाता है। यहाँ पर संधि के पूर्व वर्ण में मातृ दृष्टि करे, अंतिम वर्ण पिता है, सन्तान सन्धि है और (ऋतुकाल में भार्याभिगमन रूप) प्रजनन सन्धान है। (अधिप्रज उपासक को ऐसी दृष्टि करने के लिए) यह सन्तान सम्बन्धी उपासना बतलायी गयी है।।३।।

सर्वत्र। पृथिवी पूर्वरूपं पूर्वो वर्णः पूर्वरूपम्। संहितायाः पूर्वे वर्णे पृथिवीदृष्टिः कर्तव्येत्युक्तं भवति। तथा द्यौरुत्तररूपमाकाशोऽन्तरिक्षलोकः। संधिर्मध्यं पूर्वोत्तररूपयोः संधीयेते अस्मिन्पूर्वोत्तररूपे इति।।

वायुः संधानम्। संधीयतेऽनेनेति[1]संधानम्। इत्यधिलोकं दर्शनमुक्तम्। अथाधिज्यौतिषमित्यादि समानम्।

पृथिवी दृष्टि करनी चाहिए। वैसे ही द्युलोक उत्तरवर्ण, अन्तरिक्ष पूर्वोत्तर वर्णों का मध्यभागरूप सन्धि है क्योंकि इसी में पूर्व और उत्तरवर्ण एकत्रित किये जाते हैं।

वायु सन्धान है। जिससे सन्धि की जाय, उसे सन्धान कहते हैं। इस प्रकार अधिलोक दर्शन बतला दिया गया। इसी के समान 'अथाधिज्यौतिषम्' इत्यादि मन्त्रों की व्याख्या कर लेनी चाहिये।

---

१. संधानमिति—पूर्वोत्तराक्षरयोः संबन्धहेतुर्यत्नविशेष इत्यर्थः।

अथाध्यात्मम्। अधरा हनुः पूर्वरूपम्। उत्तरा हनुरुत्तररूपम्। वाक्संधिः। जिह्वा संधानम्। इत्यध्यात्मम्। इतीमा महासꣳहिताः। य एवमेता महासꣳहिता व्याख्याता वेद। संधीयते प्रजया पशुभिः। ब्रह्मवर्चसेनान्नाद्येन सुवर्ग्येण लोकेन।।४।।

संधिराचार्यः पूर्वरूपमित्यधिप्रजं लोकेन।।
इति कृष्णयजुर्वेदीयतैत्तिरीयोपनिषदि शीक्षाध्याये
तृतीयोऽनुवाकः।।३।।

यहाँ पर सन्धि के प्रथम वर्ण में नीचे के हनु दृष्टि करे, अन्तिम वर्ण ऊपर का हनु है। वाणी सन्धि है और जिह्वा दोनों के सम्बन्ध कराने वाली है। अध्यात्म उपासक को ऐसी दृष्टि करने के लिए यह अध्यात्म दर्शन कहा गया है। इस प्रकार ये महासंहिताएँ कही जाती हैं। जो उपासक इस प्रकार व्याख्या की गयी इन महासंहिताओं की उपासना करता है, वह प्रजा, पशु, ब्रह्मतेज, अन्न तथा स्वर्ग लोक से सम्बन्ध प्राप्त कर लेता है।।४।।

।।इति तृतीयोऽनुवाकः।।

इतीमा इत्युक्ता उपप्रदर्श्यन्ते। यः कश्चिदेवमेता महासंहिता व्याख्याता वेदोपास्ते। वेदेत्युपासनं स्या[1]द्विज्ञानाधिकारात् "[2]इति प्राचीनयोग्योपास्स्व" (तै.उ.१-६) इति वचनात्। उपासनं च यथाशास्त्रं तुल्यप्रत्ययसंततिरसंकीर्णा चातत्प्रत्ययैः शास्त्रोक्ता-

---

"हृदयस्याग्रेऽवद्यत्यथ जिह्वाया अथ वक्षसः" इतिवत्। उपप्रदर्श्यन्ते परामृश्यन्ते[3]ऽधिकारविधि-प्रदर्शनाय। यथा दर्शादयः [4]षड्यागाः समुच्चिताः फलसाधनम[5]धिकारांशेनाभेदात्, तथा पञ्चोपनिषदः समुच्चिताः प्रजादिफलकामस्यानुष्ठेया इत्याह — यः कश्चिदित्यादिना। फलकामिनाऽनुष्ठीयमानं संहि-

---

'इति' और 'इमाः' इन शब्दों द्वारा पूर्वोक्त दर्शनों का परामर्श किया जाता है। जो कोई अधिकारी पुरुष इस प्रकार व्याख्या की गयी महासंहिता की उपासना करता है, यहाँ उपासना का प्रकरण होने के कारण वेद शब्द का अर्थ उपासना किया गया है। ऐसा ही "इति प्राचीनयोग्योपास्स्व" इस आगे कहे जाने वाले वचन से सिद्ध होता है। शास्त्रानुसार तुल्यवृत्ति के प्रवाह को उपासना कहते हैं, वह प्रवाह विजातीय वृत्तियों से रहित और शास्त्रोक्त आलम्बन को विषय करने वाला होना

---

१. विज्ञानाधिकारात्— उपासनाप्रकरणात्। २.विज्ञानाधिकारे लिङ्गं दर्शयति—इतीति। (पृष्ठ ३२) ३. अधिकारविधीति—फलस्वाम्यबोधको विधिरधिकारविधिः। फलस्वाम्यञ्च कर्मजन्यफलभोक्तृत्वम्। स च यजेत स्वर्गकाम इत्येवंरूपः। अनेन हि स्वर्गमुद्दिश्य यागं विदधता स्वर्गकामस्य यागजन्यफलभोक्तृत्वं प्रतिपाद्यते। ४. षड्यागा इति —सांनाय्ययागावाग्नेयश्चेति दर्शे यागत्रयम्। आग्नेयाग्नीषोमीयावुपांशुश्चेति पौर्णमास्यां यागत्रयमिति षड्यागा इत्यर्थः। ५. अधि-कारांशेनाभेदादिति—एकाधिकारिकत्वेनैक्यादिति यावत्।

अथ शीक्षाध्याये चतुर्थोऽनुवाकः

यश्छन्दसामृषभो विश्वरूपः। छन्दोभ्योऽध्यमृता-त्संबभूव। स मेन्द्रो मेधया स्पृणोतु। अमृतस्य देव धारणो भूयासम्। शरीरं मे विचर्षणम्। जिह्वा

जो (प्रणव) वेदों में (श्रेष्ठ होने के कारण) ऋषभ और (सम्पूर्ण वाणी में व्याप्त होने के कारण) सर्वरूप है तथा वेद रूप अमृत से प्रधान रूप में प्रादुर्भूत हुआ है, वह (ओंकार सम्पूर्ण कामनाओं का स्वामी होने से) परमेश्वर मुझे मेधा द्वारा प्रसन्न या सबल करे। हे देव! मैं अमृतत्व (के हेतुभूत ब्रह्मज्ञान) का धारण करने वाला होऊँ तथा मेरा शरीर योग्य हो। मेरी जिह्वा अतिशय

लम्बनविषया च। प्रसिद्धश्चोपासनशब्दार्थो लोके गुरुमुपासते (स्ते), राजानमुपास्त इति, यो हि गुर्वादीन्संततमुपचरति स उपास्त इत्युच्यते। स च फलमाप्नोत्युपासनस्य। अतोऽत्रापि च य एवं वेद संधीयते प्रजादिभिः स्वर्गान्तैः प्रजादिफलान्याप्नोतीत्यर्थः।।१-४।।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ तैत्तिरीयोपनिषच्छीक्षाध्यायभाष्ये तृतीयोऽनुवाकः।।३।।

यश्छन्दसामिति। मेधाकामस्य श्रीकामस्य च तत्प्राप्तिसाधनं जपहोमावुच्येते।

तोपासनं कामितफलाय भवति। फलानभिसंधिना त्वनुष्ठीयमानं ब्रह्मविद्यार्थं भवति। मेधाहीनेन ब्रह्मणोऽवगन्तुमशक्यत्वान्मेधाकामस्य जपोऽपि ब्रह्मविद्यार्थो भवति। श्रीविहीनेन सत्त्वशुद्ध्यर्थं यागाद्य-नुष्ठातुं न शक्यत इति श्रीकामस्य होमोऽपि परम्परया ब्रह्मविद्योपयोगीति महत्तात्पर्यं विद्यासंनिधिस-माम्नातानां सर्वत्र द्रष्टव्यम्।।१-४।।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छुद्धानन्दपूज्यपादशिष्यानन्दज्ञानविरचितायां तैत्तिरी-योपनिषच्छांकरभाष्यटीकायां शीक्षाध्याये तृतीयोऽनुवाकः।।३।।

अवान्तरतात्पर्यमभिप्रेत्याऽऽह – यश्छन्दसामित्यादिना। संबभूवेति जन्मवाचके पदे श्रूयमाणे

चाहिए। "गुरु की उपासना करता है" "राजा की उपासना करता है" इत्यादि वाक्यों में उपासना शब्द का अर्थ लोक में ऐसा ही प्रसिद्ध है क्योंकि जो पुरुष गुरु आदि की सतत सेवा करता है उसी को ऐसा कहा जाता है कि उपासना करता है। वही उस उपासना का फल भी प्राप्त करता है अतः इस महासंहिता के सम्बन्ध में भी जो पुरुष इस प्रकार उपासना करता है, वह इन मन्त्रों में कहे गये प्रजा से लेकर स्वर्ग पर्यन्त समस्त पदार्थों से सम्पन्न होता है अर्थात् प्रजादि रूप फल को प्राप्त कर लेता है।।१-४।।

श्रीकाम और मेधा काम पुरुषों के लिये जप तथा होम मन्त्र

"यच्छन्दसाम्" इत्यादि मन्त्रों से मेधा चाहने वाले तथा श्री चाहने वाले पुरुषों के लिये उनकी प्राप्ति के साधन जप और होम कहे जाते हैं क्योंकि "वह इन्द्र मुझे मेधा से युक्त करे" तथा "अतः उस

मे मधुमत्तमा। कर्णाभ्यां भूरि विश्रुवम्। ब्रह्मणः कोशोऽसि मेधया पिहितः। श्रुतं मे गोपाय। आवहन्ती वितन्वाना।।१।।

मधुर-भाषिणी हो। मैं कानों से अधिक मात्रा में श्रवण करूँ। हे प्रणव! तू ब्रह्म का कोश है (क्योंकि तुझमें ब्रह्म की उपलब्धि होती है) और तू लौकिक बुद्धि से ढका हुआ है। (इसीलिए सामान्य बुद्धि वाले पुरुष को तेरे तत्त्व का ज्ञान नहीं होता)। मेरे सुने हुए आत्मविज्ञानादि की रक्षा करो।।१।।

"स मेन्द्रो मेधया स्पृणोतु" (तैत्ति उ. १-४-१) "ततो मे श्रियमावह" (तैत्ति उ. १-४-२) इति [1]च लिङ्गदर्शनात्। यश्छन्दसां वेदानामृषभ इवर्षभः प्राधान्यात्। विश्वरूपः सर्वरूपः सर्ववाग्व्याप्तेः, "तद्यथा शङ्कुना" (छा. उ. २-२३-३) इत्यादिश्रुत्यन्तरात्। अत एवर्षभत्वमोंकारस्य। ओंकारो ह्यत्रोपास्य इति ऋषभादिशब्दैः स्तुतिर्न्याय्यैवोंकारस्य। छन्दोभ्यो वेदेभ्यो वेदा ह्यमृतं तस्मादमृतादधिसंबभूव। लोकदेववेदव्याहृतिभ्यः सारिष्ठं जिघृक्षोः प्रजापतेस्तपस्यत ओंकारः सारिष्ठत्वेन प्रत्यभादित्यर्थः। न हि [2]नित्यस्योंकारस्याञ्जसैवोत्पत्तिरवकल्पते। स एवंभूत ओंकार

किमिति "[3]प्रजापतिर्लोकानभ्यतपत्" इत्यादिश्रुत्यन्तरानुसारेणाऽऽत्मज्ञानयोग्यकार्यश्रेष्ठत्वेन प्रतिभानं व्याख्यायते तत्राऽऽह — न हीति। पुरुषविपरिणाम इति। भूयासमित्युत्तमपुरुषस्य प्रकृतस्य प्रथमपुरु-

---

श्री को तू मेरे पास ला" इन वाक्यों में ऐसे ही लिंग देखे जाते हैं। जो ओंकार प्रधान होने के कारण वेदों में श्रेष्ठ के समान श्रेष्ठ तथा सम्पूर्ण वाणी में व्याप्त होने के कारण सर्वमय है। ऐसे ही "जैसे पत्तों की नसों से (सम्पूर्ण पत्ते व्याप्त होते हैं) वैसे ही ओंकार से सम्पूर्ण वाणी व्याप्त है। ओंकार ही सब कुछ है" इस अन्य श्रुति से भी सिद्ध होता है। अतएव ओंकार की श्रेष्ठता है। यहां पर ओंकार ही उपास्य है। इसीलिए ऋषभ आदि शब्दों से ओंकार की स्तुति करनी उचित ही है। वेद अमृत है और उस वेद में जो प्रधान रूपेण प्रादुर्भूत हुआ है। अभिप्राय यह है कि लोक, देव, वेद और व्याहृतियों से सार ग्रहण करने की इच्छा जब प्रजापति को हुई, एतदर्थ प्रजापति ने तप किया, तप करते हुए प्रजापति को ओंकार ही सर्वोत्तम साररूप से भासित हुआ था क्योंकि नित्य ओंकार की

---

१. पूर्ववाक्यान्तेऽपीतिशब्दान्वयार्थश्चकारः। २. नित्यस्येति—ब्रह्माभेदात्। ३. "प्रजापतिर्लोकानभ्यतपत्तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रयी विद्या संप्रास्रवत्तामभ्यतपत्तस्या अभितप्ताया एतान्यक्षराणि संप्रास्रवन्त भूर्भुवः स्वरिति।। तान्यभ्यतपत्तेभ्योऽभितप्तेभ्य ॐकारः संप्रास्रवत्तद्यथा शङ्कुना सर्वाणि पर्णानि संतृण्णानि एवमोङ्कारेण सर्वा वाक् संतृण्णा। ओंकार एवेदं सर्वमोङ्कार एवेदं सर्वम्" (छा०उ०२।२३।२-३)। "प्रजापतिर्लोकानभ्यतपत्तेषां तप्यमानानां रसान्प्रावृहदग्निं पृथिव्या वायुमन्तरिक्षादादित्यं दिवः ।। स एतास्तिस्रो देवता अभ्यतपत्तासां तप्यमानानां रसान्प्रावृहदग्नेर्ऋचो वायोर्यजूंषि सामान्यादित्यात्।। स एतां त्रयीं विद्यामभ्यतपत्तस्यास्तप्यमानाया रसान्प्रावृहद्भूरित्यृग्भ्यो भुवरिति यजुर्भ्यः स्वरिति सामभ्यः" (छा०उ० ४.१७.१-३)।। इत्यनयोरेकवाक्यत्वमाश्रित्याह—प्रजापतिरित्यादि।

इन्द्रः सर्वकामेशः परमेश्वरो मा मां मेधया प्रज्ञया स्पृणोतु प्रीणयतु बलयतु वा। प्रज्ञाबलं हि प्रार्थ्यते। अमृतस्यामृतत्वहेतुभूतस्य ब्रह्मज्ञानस्य तदधिकारात्, हे देव धारणो धारयिता भूयासं भवेयम्। किंच शरीरं मे मम विचर्षणं विचक्षणं योग्यमित्येतत्। भूयादिति पुरुषविपरिणामः।

जिह्वा मे मधुमत्तमा [१]मधुमत्यतिशयेन मधुरभाषिणीत्यर्थः। कर्णाभ्यां श्रोत्राभ्यां भूरि बहु विश्रुवं व्यश्रवं(?) श्रोता भूयासमित्यर्थः। आत्मज्ञानयोग्यः कार्यकरणसंघातोऽस्त्विति वाक्यार्थः। मेधा च तदर्थमेव हि प्रार्थ्यते। ब्रह्मणः परमात्मनः कोशोऽसि। असेरिवोपलब्ध्यधिष्ठानत्वात्। त्वं हि ब्रह्मणः प्रतीकं त्वयि ब्रह्मोपलभ्यते। मेधया लौकिकप्रज्ञया पिहित आच्छादितः स त्वं सामान्यप्रज्ञैरविदिततत्त्व इत्यर्थः। श्रुतं श्रवणपूर्वकमात्मज्ञानादिकं मे गोपाय रक्ष। तत्प्राप्त्यविस्मरणादि कुर्वित्यर्थः। जपार्था एते मन्त्रा मेधाकामस्य। होमार्थास्त्वधुना श्रीकामस्य मन्त्रा उच्यन्ते। आवहन्त्यान-

---

षत्वेन विपरिणामः कर्तव्य इत्यर्थः।

अचेतनशब्दं प्रति प्रार्थना कथं? कथं चेन्द्रशब्देनाभिधानमित्याशङ्क्य ब्रह्माभेद-विवक्षयेत्यभिप्रेत्याऽऽह — ब्रह्मण इति। ब्रह्माभेदेन प्रार्थितदाने समर्थश्चेदोंकारः किमिति सर्वैर्नोपास्यत इत्याशङ्क्याऽऽह — मेधयेति। लौकिकप्रज्ञयेति। शालग्रामादिष्वेव देवताबुद्ध्येत्यर्थः। नैतेष[२]वार्षेयादि

स्पष्टतः उत्पत्ति की कल्पना नहीं की जा सकती है। वह इस प्रकार ओंकार रूप सम्पूर्ण कामनाओं का स्वामी परमेश्वर मुझे मेधा द्वारा प्रसन्न करे अथवा सबल करे। इस प्रकार यहाँ पर बुद्धि बल के लिए प्रार्थना की जाती है। हे देव! अमृतत्व के साधन ब्रह्मज्ञान को धारण करने वाला मैं होऊँ। यहाँ ब्रह्मज्ञान का प्रसंग होने के कारण ऐसा अर्थ करना उचित ही है तथा मेरा शरीर विचक्षण (योग्य हो) मूल में (भूयासम् इस उत्तम पुरुष के स्थान में) भूयात् इस प्रथम पुरुष के रूप में विपरिणाम कर लेना चाहिये।

मेरी जिह्वा अत्यन्त मधुर-भाषिणी हो, मैं कानों से अधिक मात्रा में श्रवण करूँ अर्थात् बहुश्रुत हो जाऊँ इसका तात्पर्य यह है कि मेरा शरीर और इन्द्रियों का संघात आत्मज्ञान के योग्य हो और उसी के लिये बुद्धि की याचना भी की जाती है। जैसे तलवार की उपलब्धि का स्थान कोश है। वैसे ही परमात्मा की उपलब्धि का स्थान तुम हो क्योंकि तू ब्रह्म का प्रतीक है। तुझ में ब्रह्म की उपलब्धि होती है वही तू लौकिक बुद्धि से ढका हुआ है। इसलिये सामान्य बुद्धि वाले पुरुषों को तेरे वास्तविक स्वरूप का ज्ञान नहीं हो पाता। मेरे श्रवण पूर्वक आत्मज्ञान आदि की रक्षा कर अर्थात् उसकी प्राप्ति एवं अविस्मरणादि कर। यहाँ तक ये मन्त्र मेधाकाम पुरुष के जप के लिये कहे गये हैं। अव लक्ष्मी चाहने वाले पुरुष को होम के लिये मन्त्र बतलाते हैं। लाने वाली, विस्तार करने

---

१. अतिशयेन मधुमती मधुमत्तमेति विग्रहं दर्शयति—मधुमत्यतिशयेनेति। "तसिलादिष्वाकृत्वसुच" इति पुंवद्भावः। "तरप् तमपौ घः" घरूपेति परत्वाद्ध्रस्वबाधस्य च्छान्दसो बाध इति भावः। २. आर्षेयादि—ऋषिर्देवता छन्द इति यावत्। आर्षेयमित्यत्र "इतश्चानिञ" इति ढगपत्ये।

कुर्वाणाऽचीरमात्मनः। वासाꣳसि मम गावश्च। अन्न-
पाने च सर्वदा। ततो मे श्रियमावह। लोमशां
पशुभिः सह स्वाहा। आ मा यन्तु ब्रह्मचारिणः
स्वाहा। वि माऽऽयन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। प्र
माऽऽयन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। दमायन्तु ब्रह्मचारिणः
स्वाहा। शमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा।।२।।

(ये मन्त्र मेधाकामी पुरुषों के जप के लिए है। अब लक्ष्मीकाम पुरुषों को होम करने के लिए मन्त्र बतलाते हैं। बुद्धि-प्राप्ति के बाद लक्ष्मी अनर्थकारी नहीं होती है, अतः हे देव!) मेरे लिए लाने वाली विस्तार करने वाली लक्ष्मी वस्त्र गौ अन्नपान को सर्वदा शीघ्र ही लाओ। उक्त प्रकार की श्री को ऊन वाले तथा अन्य पशुओं के सहित बुद्धि प्राप्त कराने के बाद मेरे पास लाओ-स्वाहा। ब्रह्मचारी मेरे पास आवें-स्वाहा। ब्रह्मचारी लोग मेरे प्रति निष्कपट भाव हों-स्वाहा। ब्रह्मचारी लोग यथार्थ ज्ञान को धारण करें—स्वाहा। ब्रह्मचारी लोग इन्द्रिय निग्रह करें-स्वाहा। ब्रह्मचारी लोग मनोनिग्रह करें - स्वाहा। (स्वाहान्त मन्त्र होम के लिए हैं) ।।२।।

यन्ती। वितन्वाना विस्तारयन्ती। तनोतेस्तत्कर्मत्वात्। कुर्वाणा निर्वर्तयन्ती। अचीरमचिरं क्षिप्रमेव। छान्दसो दीर्घः। चिरं वा कुर्वाणा।

आत्मनो मम, किमित्याह—वासांसि वस्त्राणि मम गावश्च गाश्चेति यावत्। अन्नपाने च सर्वदैवमादीनि कुर्वाणा श्रीर्या तां ततो मेधानिर्वर्तनात्परमावहाऽऽनय। अमेधसो हि श्रीरनर्थायैवेति। किंविशिष्टाम्। लोमशामजाव्यादियुक्तामन्यैश्च पशुभिः संयुक्तामा[1]वहेत्यधिकारादोंकार एवाभिसंबध्यते। स्वाहा, स्वाहाकारो होमार्थमन्त्रान्त-

---

मृग्यम्। ब्राह्मणोत्पन्नत्वात्।

वाली क्योंकि तनु धातु का अर्थ विस्तार करना ही है। 'अचीरम्' में दीर्घ ईकार वैदिक होने के कारण कहा गया है अथवा चिरकाल तक मेरे लिये करने वाली या शीघ्र ही करने वाली ऐसे 'अचिरम्' के दो अर्थ होते हैं।

क्या करने वाली? इसे बतलाते हैं—मेरे वस्त्र, गौ और अन्नपान इन्हें जो श्री सदा ही करने वाली है, उसे बुद्धि प्राप्त करने के बाद तू मेरे पास ला क्योंकि बुद्धि हीन मूर्ख के लिये लक्ष्मी अनर्थ का कारण होती है। किन विशेषणों से युक्त श्री को लावें? भेड़-बकरी आदि ऊन वालों के सहित और अन्य पशुओं से युक्त श्री को ला। यहाँ पर "आवह" क्रिया का अधिकार होने के कारण उससे सम्ब-

---

१. आवहेति—क्रियायोङ्कार एवं कर्तृत्वेन संबन्ध्यते तदीयप्रकरणादित्यर्थः।

यशो जनेऽसानि स्वाहा। श्रेयान्वस्यसोऽसानि स्वाहा। तं त्वा भग प्रविशानि स्वाहा। स मा भग प्रविश स्वाहा। तस्मिन्सहस्रशाखे। नि भगाहं त्वयि मृजे स्वाहा। यथाऽऽपः प्रवता यन्ति। यथा

मैं जनता में यशस्वी होऊँ-स्वाहा। मैं अत्यन्त प्रशंसनीय और धनी पुरुषों में विशेष धनी होऊँ-स्वाहा। हे भगवन्! (ब्रह्म के उपलब्धि स्थान होने से कोशरूप) तुझमें मैं प्रवेश कर जाऊँ-स्वाहा। हे भगवन्! वह तू मुझमें प्रवेश कर-स्वाहा। (अर्थात् हम दोनों अभिन्न हो जावें)। हे भगवन्! उस अनेकों शाखा भेद वाले तुझमें मैं अपने पाप कर्मों का शोधन करता हूँ-स्वाहा। जैसे लोक में जल निम्न देश की ओर जाता है और जैसे महीने संवत्सर में जाते हैं, हे धातः! उसी प्रकार मेरे पास

ज्ञापनार्थः। आयन्तु मामिति व्यवहितेन संबन्धः। ब्रह्मचारिणो विमाऽऽयन्तु प्र माऽऽयन्तु दमायन्तु शमायन्त्वित्यादि।।१-२।।

यशो यशस्वी जने जनसमूहेऽसानि भवानि। श्रेयान्प्रशस्यतरो वस्यसो वसीयसो वसुतराद्वसुमत्तराद्वाऽसानीत्यन्वयः। किंच तं ब्रह्मणः कोशभूतं त्वा त्वां हे भग भगवन्पूजावंप्रविशानि प्रविश्य चानन्यस्त्वदात्मैव भवानीत्यर्थः। स त्वमपि मा मां भग भगवन्पूजावन्प्रविशाऽऽवयोरेकत्वमेवास्तु। तस्मिंत्वयि सहस्रशाखे बहुभेदे निमृजे शोधयाम्यहं पापकृत्याम्। यथा लोक आपः प्रवता प्रवणता निम्नवता देशेन यन्ति

'वसनिवासे,'वसआच्छादने'इति धातुद्वयादुप्रत्ययः शीलेऽर्थे। वसुर्वसनशीलः। पराच्छादनशीलो वा वसुः। अतिशयेन वसुर्वसीयांस्तस्माद्वसीयसः। ईलोपश्छान्दसः। वसुमान्वसुशब्देन लक्ष्यत इत्यभिप्रेत्याऽऽह – वसुमत्तराद्वेति। पूर्वोक्तस्य प्रयोजनमाह – किंचेति। यदुक्तं 'ब्रह्मचारिणो मामायन्तु' इति तत्र दृष्टान्तमाह – यथेति ।।१-३।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छुद्धानन्दपूज्यपादशिष्यानन्दज्ञानविरचितायां तैत्तिरीयोपनिषच्छांकरभाष्यटीकायां शीक्षाध्याये चतुर्थोऽनुवाकः।।४।।

न्धित कर्ता ओंकार ही है। 'स्वाहा' यह स्वाहाकार होमार्थ मन्त्रों का अन्त सूचित करने के लिए कहा गया है। "आ मा यन्तु ब्रह्मचारिणः" इस वाक्य में "आ यन्तु माम्" ऐसा अन्वय करना चाहिये अर्थात् आ उपसर्ग का व्यवधान युक्त यन्तु क्रिया के साथ सम्बन्ध है। ऐसे ही ब्रह्मचारी लोग मेरे प्रति निष्कपट हों, वे प्रामाणिक हों, इन्द्रिय निग्रह करें, मनो निग्रह करें इत्यादि।।१-२।।

मैं जनता में यशस्वी होऊँ तथा प्रशस्यतर और वसुमान् से अर्थात् अत्यन्त धनी पुरुषों में भी विशेष धनी होऊँ और हे पूज्य भगवन्! ब्रह्म के कोशरूप उस तुझ में मैं प्रवेश करूँ। अभिप्राय यह है कि तुझ में प्रवेश करके तुझ में अनन्य हो तेरा ही रूप मैं हो जाऊँ तथा हे भगवन्! तू भी मुझ में प्रवेश कर। तात्पर्य यह कि हम दोनों की एकता हो जाय। हे भगवन्! अनेकों शाखा भेद वाले तुझ में अपने पाप कर्मों का मैं शोधन करता हूँ। जिस प्रकार लोक में जल निम्नदेश की ओर जाते हैं और

मासा अहर्जरम्। एवं मां ब्रह्मचारिणः। धातरायन्तु सर्वतः स्वाहा। प्रतिवेशोऽसि प्र मा भाहि प्र मा पद्यस्व।।३।।

वितन्वाना शमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा धातरायन्तु सर्वतः स्वाहैकं च।।

इति कृष्णयजुर्वेदीयतैत्तिरीयोपनिषदि शीक्षाध्याये चतुर्थोऽनुवाकः।।४।।

सभी ओर से ब्रह्मचारी आवें-स्वाहा। तू (शरणापन्नों के दुःख निवृत्ति के लिए) आश्रय स्थान है। अतः तुम मेरे प्रति प्रकाशमान होओ। मुझे (पारदयुक्त लोहे के समान) अपने से अभिन्न कर लो।।३।।

।। इति चतुर्थोऽनुवाकः।।

गच्छन्ति। यथा च मासा अहर्जरं संवत्सरोऽहर्जरः। अहोभिः परिवर्तमानो लोकाञ्जरयतीत्यहानि वाऽस्मिञ्जीर्यन्त्यन्तर्भवन्तीत्यहर्जरः। तं च यथा मासा यन्त्येवं मां ब्रह्मचारिणो हे धातः सर्वस्य विधातः, मामायन्त्वागच्छन्तु सर्वतः सर्वदिग्भ्यः। प्रतिवेशः श्रमापनयनस्थानमासन्नगृहमित्यर्थः। एवं त्वं प्रतिवेश इव प्रतिवेशस्त्वच्छीलिनां सर्वपापदुःखापनयनस्थानमसि, अतो मा मां प्रति प्रभाहि प्रकाशयाऽऽत्मानं प्रपद्यस्व च मां [1]रसविद्धमिव लोहं त्वन्मयं त्वदात्मानं कुर्वित्यर्थः। श्रीकामोऽस्मिन्विद्याप्रकरणेऽभिधीयमानो धनार्थः। धनं च कर्मार्थम्। कर्म चोपात्तदुरितक्षयाय। तत्क्षये हि विद्या प्रकाशते।

तथा च स्मृतिः—

"ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात्पापस्य कर्मणः।

जैसे महीने अहर्जर में अन्तर्हित होते हैं। अहर्जर संवत्सर को कहते हैं क्योंकि वह संवत्सर दिनों के रूप में प्रवर्तित होता हुआ लोगों को जीर्ण करता है अथवा संवत्सर में दिन जीर्ण (अन्तर्हित) होते हैं। इसलिए संवत्सर अहर्जर कहा गया है। हे धात;! उस संवत्सर में जैसे महीने जाते हैं उसी प्रकार ब्रह्मचारी लोग मेरे पास सभी दिशाओं से आवें। श्रम निवृत्ति के स्थान अर्थात् निकटवर्ती गृह को प्रतिवेश कहते हैं। इस प्रकार तू प्रतिवेश के समान प्रतिवेश है यानी अपना अनुशीलन करने वालों की दुःख निवृत्ति का स्थान है। अतः मेरे सामने अपने को प्रकाशित कर और मुझे प्राप्त हो। तात्पर्य यह कि पारद संयुक्त लोहे के समान तू मुझे अपने से अभिन्न करले। इस विद्या के प्रकरण में धन के लिये लक्ष्मी की कामना कही गयी है। धन कर्म के लिये होता है और कर्म प्राप्त पापों की निवृत्ति के लिये होता है क्योंकि उन पापों के क्षीण होने पर ही ज्ञान का प्रकाश होता है।

ऐसा ही "पाप कर्मों के क्षय होने पर ही पुरुष को ज्ञान होता है जैसे दर्पण के स्वच्छ हो जाने

---

१. रसेत्यादि — रसः क्षारभेदस्तन्मिश्रणेन यथा लोहं लोहान्तरेण तादात्म्यमापाद्यते तद्वदिति यावत्।

अथ शीक्षाध्याये पञ्चमोऽनुवाकः

भूर्भुवः सुवरिति वा एतास्तिस्रो व्याहृतयः। तासामु ह स्मैतां चतुर्थीम्। माहाचमस्यः प्रवेदयते। मह इति। तद्ब्रह्म। स आत्मा। अङ्गान्यन्या देवताः। भूरिति वा अयं लोकः। भुव इत्यन्तरिक्षम्। सुवरित्यसौ लोकः।।१।।

'भूः, भुवः और सुवः' ये प्रसिद्ध तीन व्याहृतियाँ हैं, उनमें से "महः" इस चतुर्थी व्याहृति को महाचमस का पुत्र जानता था (ऋषि का अनुस्मरण उपासना के एक अङ्ग रूप में किया गया है) "महः" ही वह ब्रह्म है, वही आत्मा है, अन्य देवता तो उसके अंग हैं। "भूः" यह व्याहृति पृथिवी लोक रूप है, "भुवः" यह व्याहृति अन्तरिक्ष लोक है और "सुवः" यह स्वर्ग लोक है ।।१।।

यथाऽऽदर्शतले प्रख्ये पश्यन्त्यात्मानमात्मनि" (महा. मोक्षधर्मसर्ग २०४-८) इति।।३।।

इतिश्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छंकर-भगवतः कृतौ तैत्तिरीयोपनिषच्छीक्षाध्यायभाष्ये चतुर्थोऽनुवाकः।।४।।

संहिताविषयमुपासनमुक्तं तदनु मेधाकामस्य श्रीकामस्य मन्त्रा अनुक्रान्तास्ते च पारम्पर्येण विद्योपयोगार्था एव। अनन्तरं व्याहृत्यात्मनो ब्रह्मणोन्तरुपासनं स्वाराज्यफलं प्रस्तूयते। भूर्भुवः सुवरितीत्यु[1]क्तोपप्रदर्शनार्थः। एतास्तिस्र इति प्रदर्शितानां

वृत्तानुवादपूर्वकमुत्तरानुवाकस्य संबन्धमाह – संहिताविषयमित्यादिना। [2]व्याहृतीनां श्रद्धागृहीतत्वात्तत्परित्यागेनोपदिश्यमानं ब्रह्म न बुद्धिमारोहेदिति[3] ततो व्याहृतिशरीरं हिरण्यगर्भाख्यं ब्रह्मान्तर्हृदये ध्येयत्वेनोपदिश्यत इत्यर्थः। मह इति व्याहृतावङ्गिब्रह्मदृष्टिः कर्तव्या। तत्र किं साम्य-

---

उसमें मुख देखा जा सकता है वैसे शुद्ध अन्तःकरण में आत्मा का प्रत्यक्ष अनुभव होता है" इस स्मृति में भी कहा गया है।।३।।

व्याहृति स्वरूप ब्रह्म की उपासना

इससे पूर्व संहिता सम्बन्धी उपासना का प्रसंग कहा गया तदनन्तर मेधाकाम और श्रीकाम पुरुषों के लिए मन्त्र बतलाये गये, वे भी परम्परा से ज्ञान के उपयोगी हैं। उसके बाद अब जिसका फल स्वाराज्य है उस व्याहृतिरूप ब्रह्म की आन्तरिक उपासना प्रारम्भ की जाती है। "भूर्भुवः सुवरिति" इसमें इति शब्द पूर्वोक्त व्याहृतियों को ही बतलाने के लिये है। "एतास्तिस्रः"

---

१. उक्तोपप्रदर्शनार्थ इति वाक्यविन्यास इति शेषः। उक्तस्य वेदेषु प्रसिद्धस्य व्याहृतित्रयस्येत्यर्थः। २. तद्ब्रह्म स आत्मा अङ्गान्यन्या देवता इत्येतत्र तावत्सर्वं ब्रह्मेतिवद्बाधायां सामानाधिकरण्यमपितु मनो ब्रह्मेत्यादिवदध्यास एवेति विवक्षन्नाह—व्याहृतीनामित्यादि। यद्वा व्याहृतीः परित्यज्य शब्दान्तरेषूपदिश्यमानमित्यर्थो बोध्य एवमग्रेऽपि। ३. इत्यतः।

महइत्यादित्यः। आदित्येन वाव सर्वे लोका महीयन्ते। भूरिति वा अग्निः। भुव इति वायुः। सुवरित्यादित्यः। मह इति चन्द्रमाः। चन्द्रमसा वाव सर्वाणि ज्योतीꣳषि महीयन्ते। भूरिति वा ऋचः। भुव इति सामानि। सुवरिति यजूꣳषि।।२।।

तथा "महः" आदित्य रूप है क्योंकि आदित्य से ही सभी लोक वृद्धि को प्राप्त होते हैं। "भूः" यह व्याहृति अग्नि है "भुवः" वायु है, "सुवः" आदित्य है और "महः" चन्द्रमा है क्योंकि चन्द्रमा से ही ज्योतियाँ वृद्धि को प्राप्त होती हैं। "भूः" यह ऋग्वेद रूप है, "भुवः" साम है "सुवः" यजुर्वेद है ।।२।।

परामर्शार्थः। परामृष्टाः स्मार्यन्ते वा इत्यनेन। तिस्र एताः प्रसिद्धा व्याहृतयः स्मार्यन्ते तावत्। तासामियं चतुर्थी व्याहृतिर्मह इति। तामेतां चतुर्थीं महाचमसस्यापत्यं माहाचमस्यः प्रवेदयते। 'उ' 'ह' 'स्म', इत्येतेषां वृत्तानुकथनार्थत्वाद्विदितवान्ददर्शेत्यर्थः। माहाचमस्यग्रहणमार्षानुस्मरणार्थम्। ऋष्यनुस्मरणमप्युपासनाङ्गमिति गम्यत इहोपदेशात्। येयं माहाचमस्येन दृष्टा व्याहृतिर्मह इति तद्ब्रह्म महद्धि ब्रह्म। महश्च

मित्यत आह — महद्धीति। यथा देवदत्तस्य पादादीन्यङ्गानि मध्यभागश्चाङ्गीतरेषामङ्गानामात्मा कथ्यते [1]व्यापकत्वात्। तथा महोव्याहृतिर्हिरण्यगर्भस्य ब्रह्मणे मध्यभाग आत्मेति कल्प्यते। इतराश्च व्याहृतयः पादाद्यवयवत्वेन कल्प्यन्ते। प्रथमव्याहृतिः पादौ, द्वितीया बाहू, तृतीया शिर इत्यर्थः। व्याहृत्यवयवं ब्रह्मोपासीतेत्यु[2]त्पत्तिविधिरुक्तः इदानीम[3]ङ्गविशेषविधिः कथ्यते — भूरिति वा अयं लोक

ये शब्द भी पूर्वोक्त व्याहृतियों के ही परामर्श के लिये हैं। "वै" इस अव्यय से परामर्श की गयी व्याहृतियों का स्मरण कराया जाता है अर्थात् ये तीन प्रसिद्ध व्याहृतियाँ 'वै' शब्द से स्मरण करायी जाती हैं। उनमें "महः" यह चौथी व्याहृति है उस इस व्याहृति को महाचमस का पुत्र माहाचमस जानता है। 'उ, ह, स्म' ये तीन निपात अतीत घटना के अनुकथन कराने के लिए हैं। इसलिये इसका अर्थ जानता था, देखा था इस प्रकार करना पड़ता है। व्याहृति द्रष्टा ऋषि का अनुस्मरण के लिये माहाचमस यह नाम लिया गया है। इस प्रकार यहाँ पर उपदेश होने के कारण यह समझा जाता है कि ऋषि का अनुस्मरण भी उपासना का एक अङ्ग है। जिस

---

१. व्यापकत्वादिति— साक्षात्सकलाङ्गसम्बन्धित्वादिति यावत्। २. इत्युत्पत्तिविधिरुक्त इति — 'ता यो वेदे' त्यादिवक्ष्यमाणानुरोधादत्र विधिः कल्प्यः। प्रतितिष्ठन्ति ह वा इत्याद्यनुरोधाद्रात्रिविधिर्यथेति भावः। ३. अङ्गविशेषविधिरिति–दशदिर्यथा प्रयाजाद्यङ्गं तथा व्याहृत्यवयवब्रह्मोपासनस्य भूरादिशब्देषु लोकादिध्यानमङ्गं तद्विधिरित्यर्थः। हृदयान्तरुपलभ्यत्वादिगुणात्मकाङ्गानामनन्तरानुवाके विधास्यमानत्वादुक्तं विशेषेति।

मह इति ब्रह्म। ब्रह्मणा वाव सर्वे वेदा महीयन्ते।
भूरिति वै प्राणः। भुव इत्यपानः। सुवरिति
व्यानः। मह इत्यन्नम्। अन्नेन वाव सर्वे प्राणा

और "महः" ब्रह्म (ओंकार स्वरूप) है क्योंकि ब्रह्म से ही समस्त वेद वृद्धि को प्राप्त होते हैं। "भूः" यही व्याहृति प्राण है, "भुवः" यह अपान है, "सुवः" यह व्याहृति व्यान है और "महः" यह

व्याहृतिः। किं पुनस्तत्। स आत्मा। आप्नोतेर्व्याप्तिकर्मण आत्मा। इतराश्च व्याहृतयो लोका देवा वेदाः प्राणाश्च मह इत्यनेन व्याहृत्यात्मनाऽऽदित्यचन्द्रब्रह्मान्नभूतेन व्याप्यन्ते यतः। अतोऽङ्गान्यवयवा अन्या देवताः। देवताग्रहणमुपलक्षणार्थं लोकादीनाम्। मह इत्येतस्य व्याहृत्यात्मनो देवलोकादयः सर्वेऽवयवभूताः। यत आहाऽऽदित्यादिभिर्लोकादयो महीयन्त इति। आत्मना ह्यङ्गानि महीयन्ते महनं वृद्धिरुपचयो महीयन्ते वर्धन्त इत्यर्थः। अयं लोकोऽग्निर्ऋग्वेदः प्राण इति प्रथमा व्याहृतिर्भूरिति। एवमुत्तरोत्तरैकैका चतुर्धा भवति।

मह इति ब्रह्म। ब्रह्मेत्योंकारः। शब्दाधिकारेऽन्यस्यासंभवात्। उक्तार्थमन्यत्। ता वा एताश्चतस्रश्चतुर्धेति। ता वा एता भूर्भुवः सुवर्मह इति चतस्र एकैकशश्चतुर्धा

इत्यादिना। तत्रैकैका व्याहृतिश्चतुष्प्रकाराऽवगन्तव्येति तात्पर्यमाह – अयं लोक इत्यादिना।

एकैका व्याहृतयो यदा चतुष्प्रकाराश्चिन्त्यन्ते तदा [१]षोडशकलः पुरुष उपासितो भवतीत्यभिप्रेत्य संक्षेपमाह – ता वा एता इति। स वेद ब्रह्मेति ब्रह्मवेदनं फलत्वेन न संकीर्त्यते[२]ऽधिकारविधि-

---

'महः' नामक व्याहृति को माहाचमस ने देखा था वह ब्रह्म है, ब्रह्म भी महान् है और व्याहृति भी 'महः' है और वह क्या है? वही आत्मा है। व्याप्ति अर्थ वाले 'आप' धातु से आत्मा शब्द बनता है क्योंकि लोक, देव वेद और प्राणरूप व्याहृतियाँ आदित्य चन्द्र ब्रह्म एवं अन्नरूप व्याहृत्यात्मक 'महः' से व्याप्त हैं। इसीलिये वे अन्य देवता इसके अवयव हैं। लोकादि का उपलक्षण कराने के लिए यहाँ पर देवता शब्द का ग्रहण है क्योंकि देव और लोक आदि सभी 'महः' इस व्याहृत्यात्मा के अवयव स्वरूप ही तो हैं। अत एव ऐसा कहा गया है कि आदित्य आदि के सम्बन्ध से लोकादि महत्ता को प्राप्त होते हैं। आत्मा से ही अणुमहत्ता को प्राप्त हुआ करते हैं। महत् शब्द का अर्थ वृद्धि ही है। अतः 'महीयन्ते' इसका वृद्धि को प्राप्त होते हैं, ऐसा अर्थ करना चाहिये। यह लोक, अग्नि, ऋग्वेद, और प्राण ये पहली व्याहृति 'भूः' है। इसी प्रकार उत्तरोत्तर प्रत्येक व्याहृति चार - चार प्रकार की है।

'महः' ब्रह्म है, ब्रह्म का अर्थ ओंकार है; क्योंकि शब्द के प्रसंग में किसी अन्य ब्रह्म का होना सम्भव नहीं है। शेष शब्दों का अर्थ पहले कहा जा चुका है। ये वे चारों व्याहृतियाँ चार प्रकार की हैं। अभिप्राय यह है कि वे ये भूः, भुवः, सुवः, और महः चार व्याहृतियाँ प्रत्येक चार-चार प्रकार की हैं।

---

१. षोडशकल इति—प्रश्नोपनिषद्युक्तानां प्राणादिषोडशकलानामिह व्याहृतिषु ध्येयत्वेनोक्तेषु लोकादिष्वन्तर्भावसंभवादिति भावः। २. अधिकारविधीति—सर्वेऽस्मा इति फलस्वाम्यबोधकत्वादस्याधिकारविधित्वम्।

महीयन्ते। ता वा एताश्चतस्रश्चतुर्धा। चतस्रश्च-
तस्रो व्याहृतयः। ता यो वेद। स वेद ब्रह्म। सर्वेऽस्मै
देवा बलिमावहन्ति।।३।।

असौ लोको यजूꣳषि वेद द्वे च।।

इति कृष्णयजुर्वेदीयतैत्तिरीयोपनिषदि शीक्षाध्याये
पञ्चमोऽनुवाकः।।५।।

अन्न रूप है क्योंकि अन्न से ही सभी प्राण वृद्धि को प्राप्त होते हैं। इस प्रकार ये चारों व्याहृतियाँ चार-चार प्रकार की हैं तथा प्रत्येक व्याहृतियों की उपासना के लिए चार-चार भेद बतलाये गये हैं। जो इनकी उपासना करता है, उसके लिए सभी देवगण स्वाराज्य प्राप्ति के अनन्तर उपहार लाते हैं।।३।।

।।इति पञ्चमोऽनुवाकः।।

चतुष्प्रकाराः। धाशब्दः प्रकारवचनः। चतस्रश्चतस्रः सत्यश्चतुर्धा भवन्तीत्यर्थः। तासां यथाक्लृप्तानां [1]पुनरुपदेशस्तथैवोपासननियमार्थः। ता यथोक्तव्याहृतीर्यो वेद स वेद विजानाति। किं ब्रह्म। ननु—तद्ब्रह्म स आत्मेति ज्ञाते ब्रह्मणि न वक्तव्यमविज्ञात-वत्स वेद ब्रह्मेति। न। तद्विशेषविवक्षुत्वाददोषः। सत्यं विज्ञातं चतुर्थव्याहृत्यात्मा ब्रह्मेति न तु तद्विशेषो हृदयान्तरुपलभ्यत्वं मनोमयत्वादिश्च। 'शान्तिसमृद्धम्' इत्येव-मन्तो विशेषणविशेष्यरूपो धर्मपूगो विज्ञायत इति तद्विवक्षुर्हि (क्षु हिं?) शास्त्रम-

---

वाक्ये। किंतु वक्ष्यमाणानुवाकेनास्मिन्नेव ब्रह्मोपासने गुणविधानं भविष्यतीति [2]सूचयितुमित्याह — न। तद्विशेषविवक्षुत्वादित्यादिना। यदि व्याहृत्यवयवमेव ब्रह्मोत्तरत्रोपास्यते तदैवोपासकस्य प्रथमव्याहृ-त्यात्मकेऽग्नौ प्रतिष्ठाभिधानं घटेत। तस्माद्व्याहृत्यात्मकदेवताप्राप्त्यभिधानम्। उपासनैकत्वे

'धा' शब्द प्रकार अर्थ का वाचक है अर्थात् ये चार-चार होती हुई चार प्रकार की हैं। जैसी कल्पना उनकी पहले की जा चुकी है उसी प्रकार उपासना करने का नियम करने के लिए उनका पुनः उपदेश किया गया है। उन पूर्वोक्त व्याहृतियों को जो पुरुष जानता है, वही जानता है। किसे जानता है? ब्रह्म को जानता है। शङ्काः— "वह ब्रह्म है, वह आत्मा है" इस वाक्य द्वारा 'महः' रूप से ब्रह्म को जानने पर भी उसे न जानने के समान उसे जो जानता है, वही ब्रह्म को जानता है। ऐसा कहना उचित नहीं? यह शंका ठीक नहीं क्योंकि उसके सम्बन्ध में विशेष बतलाना अभीष्ट होने के कारण इस प्रकार कहने में कोई दोष नहीं है। चतुर्थी व्याहृतिरूप ब्रह्म है, इतना जान लेने पर भी हृदय के भीतर उपलब्ध होना और मनोमयत्वादि रूप उसकी विशेषताओं का ज्ञान तो नहीं हुआ है। 'शान्तिसमृद्धम्' इस वाक्य तक कहा हुआ विशेषण विशेष्यरूप धर्म समुदाय ज्ञात नहीं है। उसी को बतलाने की इच्छा

---

१. पुनरुपदेश इति—ता वा एता इत्यादिरुपदेश इत्यर्थः। २. सूचयितुं ब्रह्मवेदनं संकीर्त्यत इति पूर्वेणान्वयः।

विज्ञातमिव ब्रह्म मत्वा स वेद ब्रह्मेत्याह। अतो न दोषः। यो हि वक्ष्यमाणेन धर्म-पूगेन(ण) विशिष्टं ब्रह्म वेद स वेद ब्रह्मेत्यभिप्रायः। अतो वक्ष्यमाणानुवाकेनै-कवाक्यताऽस्योभयोर्ह्यनुवाकयोरेकमुपासनम्। लिङ्गाच्च भूरित्यग्नौ प्रतितिष्ठतीत्यादिकं लिङ्गमुपासनैकत्वे। विधायकाभावाच्च। न हि वेद उपासितव्य इति विधायकः कश्चिच्छब्दोऽस्ति व्याहृत्यनुवाके। 'ता यो वेद' इति च वक्ष्यमाणार्थत्वान्नोपासनभेदकः। वक्ष्यमाणार्थत्वं च तद्विशेषविवक्षुत्वादित्यादिनोक्तम्। सर्वे देवा अस्मा एवं विदुषेऽङ्गभूता आवहन्त्यानयन्ति बलिं [1]स्वाराज्यप्राप्तौ सत्यामित्यर्थः।।१-३।।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ तैत्तिरीयोपनिषच्छीक्षाध्यायभाष्ये पञ्चमोऽनुवाकः।।५।।

भूर्भुवःसुवःस्वरूपा मह इत्येतस्य व्याहृत्यात्मनो ब्रह्मणोऽङ्गान्यन्या देवता इत्युक्तम्। यस्य ता अङ्गभूतास्तस्यैतस्य ब्रह्मणः साक्षादुपलब्ध्यर्थमुपासनार्थं च

लिङ्गमाह — लिङ्गाच्चेति। किंचैकत्र प्रधानविद्याविधिरपरत्र गुणविधिरित्येवमनुवाकभेदे चरितार्थे नानन्यथासिद्धं भेदकं प्रमाणमुपलभ्यत इत्याह — विधायकाभावाच्चेति। विधायक इति भिन्नविद्याबोधक इत्यर्थः।।१-३।।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छुद्धानन्दपूज्यपादशिष्यानन्दज्ञानविरचितायां तैत्तिरी-योपनिषच्छांकरभाष्यटीकायां शीक्षाध्याये पञ्चमोऽनुवाकः।।५।।

से शास्त्र ने ब्रह्म को न जाने हुए के समान जानकर "वह ब्रह्म को जानता है" ऐसा कहा है। अतः इसमें कोई दोष नहीं है। इसका भावार्थ यह है कि जो पुरुष आगे बतलाये जाने वाले धर्म समुदाय से विशिष्ट ब्रह्म को जानता है, वही ब्रह्म को जानता है। अतः आगे कहे जाने वाले अनुवाक के साथ इसकी एकवाक्यता है क्योंकि इन दोनों अनुवाकों की एक ही उपासना है। 'भूरित्यग्नौ प्रतितिष्ठति' इत्यादि फल श्रुति इन दोनों अनुवाकों में एक ही उपासना होने का ज्ञापक है। इस ज्ञापक से भी उक्त अर्थ सिद्ध होता है। किसी विधायक शब्द के अभाव में भी ऐसा समझना ठीक ही है क्योंकि (छठे अनुवाक में) 'वेद उपासितव्यः' ऐसा उपासना विधायक शब्द नहीं है। व्याहृति अनुवाक में जो "उन व्याहृतियों को जो जानता है" ऐसा वाक्य है, वह आगे कही जाने वाली उपासना के लिए होने से पूर्वोक्त उपासना से उसका भेद करने वाला नहीं हो सकता है और उसी उपासना को आगे बतलाना अभीष्ट क्यों है? यह बात हम "उसकी विशेषता बतलाने की इच्छा से" इत्यादि हेतुओं द्वारा पहले कह चुके हैं। ऐसा जानने वाले उपासक को उसके अङ्ग स्वरूप सभी देवगण उपहार समर्पण करते हैं अर्थात् स्वाराज्य की प्राप्ति हो जाने पर उसके लिए उपहार लाते हैं। यह इसका अभिप्राय है।।१-३।।

ब्रह्म का उपलब्धि स्थान हृदयाकाश है

भूः, भुवः, सुवः इन व्याहृतियों के स्वरूपभूत अन्य देवता 'महः' इस व्याहृतिरूप हिरण्यगर्भ नामक ब्रह्मके अवयव हैं। ऐसा पंहले कहा गया है। वे देवता जिसके अवयव हैं, उस इस ब्रह्म की

---

१. अस्याधिकारविधेराप्नोति स्वाराज्यमिति वक्ष्यमाणेनैकवाक्यत्वमाश्रित्याह—स्वाराज्यप्राप्ताविति।

अथ शीक्षाध्याये षष्ठोऽनुवाकः

स य एषोऽन्तर्हृदय आकाशः। तस्मिन्नयं पुरुषो मनोमयः। अमृतो हिरण्मयः। अन्तरेण तालुके। य एष स्तन इवावलम्बते। सेन्द्रयोनिः। यत्रासौ केशान्तो विवर्तते। व्यपोह्य शीर्षकपाले। भूरित्यग्नौ प्रतितिष्ठिति। भुव इति वायौ।।१।।

वह यह जो हृदय के भीतर आकाश है, उसी में वह मनोमय, अमृतमय, हिरण्मय पुरुष विद्यमान् है। तालुओं के बीच में जो यह स्तन के समान मांसखण्ड लटकता सा दीखता है और जहाँ केशों का मूल भाग विभक्त होता है उस मूर्ध प्रदेश में शिरस्थ कपाल को भेदकर (सुषुम्ना नाड़ी) निकल गयी है, वह परमात्मा का प्राप्तिद्वार है। (इस प्रकार उपासक मरण के समय मूर्धा का भेदन कर) "भूः" इस व्याहृति स्वरूप अग्नि में स्थित हो जाता है (अर्थात् अग्निरूप होकर इस लोक को व्याप्त कर लेता है) "भुवः" इस व्याहृति के चिन्तन से वायु में स्थित हो जाता है ।।१।।

हृदयाकाशः स्थानमुच्यते शालग्राम इव विष्णोः। तस्मिन्हि तद्ब्रह्मोपास्यमानं मनोमयत्वादिधर्मैर्विशिष्टं साक्षादुपलभ्यते पाणाविवाऽऽमलकम्। मार्गश्च सर्वात्मभावप्रतिपत्तये वक्तव्य इत्यनुवाक आरभ्यते—

स इति व्युत्क्रम्य 'अयं पुरुषः' इत्यनेन संबध्यते। य एषोऽन्तर्हृदये हृदयस्यान्तर्हृदयमिति पुण्डरीकाकारो मांसपिण्डः प्राणायतनोऽनेकनाडीसुषिर ऊर्ध्वनालोऽधोमुखो विशस्यमाने पशौ प्रसिद्ध उपलभ्यते। तस्यान्तर्य एष आकाशः प्रसिद्ध एव [1]करकाकाशवत्। तस्मिन्सोऽयं पुरुषः। पुरि शयनात्पूर्णा वा भूरादयो लोका येनेति पुरुषो मनोमयः। मनो विज्ञानम्। मनुतेर्ज्ञानकर्मणस्तन्मयस्तदुपलभ्यत्वात्। मनुतेऽनेनेति वा मनोऽन्तः-

---

तदुपलभ्यत्वादिति। ज्ञानाकारपरिणामिनि मनस्येवोपलभ्यत्वाद्[2]व्याप्तेरित्यर्थः। तस्य जड-

---

साक्षात् उपलब्धि और उपासना के लिये हृदयाकाश स्थान कहा जाता है। जैसे विष्णु के लिये शालग्राम स्थान है क्योंकि उस हृदयाकाश में उपासना किए जाने पर वह मनोमयत्वादि विशिष्ट ब्रह्म हस्तामलकवत् साक्षात् उपलब्ध होता है। इसके अतिरिक्त सर्वात्मभाव की प्राप्ति के लिये मार्ग भी बतलाना है। इसलिये यह अनुवाक प्रारम्भ किया जाता है।

'सः' यह पहला पद पाठक्रम को छोड़कर आर्थक्रमानुसार आगे के 'अयं पुरुषः' इस पद से सम्बन्ध रखता है। जो यह हृदय के भीतर आकाश है अर्थात् श्वेतकमल के आकार वाला माँस पिण्ड रूप हृदय जो प्राण का आश्रय अनेकों नाड़ियों के छिद्र वाला तथा ऊपर की ओर नाल और अधोमुख वाला है। पशु वध किये जाने पर स्पष्टरूप से उपलब्ध होता है। उसके भीतर जो यह कमण्डलु के

---

१. करकाकाशवदिति—कमण्डलौ च 'करक इत्यमरः। २. व्याप्तेरिति—अत्र ध्यायिभिरिति लिखितपाठः। यथाश्रुते तु व्याप्तत्वादित्यर्थः।

करणं तदभिमानी तन्मयस्[१]तल्लिङ्गो वा। अमृतोऽमरणधर्मा हिरणमयो ज्योतिर्मयः। तस्यैवंलक्षणस्य हृदयाकाशे साक्षात्कृतस्य विदुष आत्मभूतस्येन्द्रस्येदृशस्वरूपप्रतिपत्तये मार्गोऽभिधीयते। हृदयादूर्ध्वं प्रवृत्ता सुषुम्ना नाम नाडी योगशास्त्रेषु च प्रसिद्धा। सा चान्तरेण मध्ये प्रसिद्धे तालुके तालुकयोर्गता। यश्चैष तालुकयोर्मध्ये स्तन इवावलम्बते मांसखण्डस्तस्य चान्तरेणेत्येतत्। यत्र च केशान्तः केशानामन्तोऽवसानं मूलं केशान्तो विवर्तते विभागेन वर्तते मूर्धप्रदेश इत्यर्थः। तं देशं प्राप्य तत्र विनिःसृता। व्यपोह्य विभज्य विदार्य शीर्षकपाले शिरःकपाले विनिर्गता या सेन्द्रयोनिरिन्द्रस्य ब्रह्मणो योनिर्मार्गः स्वरूपप्रतिपत्तिद्वारमित्यर्थः। तयैवं विद्वान्मनोमयात्मदर्शी मूर्ध्नो विनिष्क्रम्यास्य लोकाधिष्ठाता भूरितिव्याहृतिरूपो योऽग्निर्[२]महतो ब्रह्मणोऽङ्गभूतस्तस्मिन्नग्नौ प्रतितिष्ठत्यग्न्यात्मनेमं लोकं व्याप्नोतीत्यर्थः। तथा भुव इति द्वितीयव्याहृत्यात्मनि वायौ। प्रतितिष्ठतीत्यनुवर्तते।।१।।

स्य मनसः प्रवृत्तिं दृष्ट्वा तदधिष्ठातृतया हिरण्यगर्भोऽनुमीयते। तस्य शास्त्रे सकलकरणाधिष्ठातृत्वेन प्रसिद्धत्वादिति तल्लिङ्गत्वमुक्तमित्यर्थः।।१।।

मध्यवर्ती आकाश के समान प्रसिद्ध आकाश है, उसी में यह पुरुष रहता है। शरीररूप पुर में शयन करने के कारण अथवा जिससे भूरादि सभी लोक पूर्ण हैं इसलिये वह पुरुष कहलाता है। वह मनोमय है। ज्ञानार्थक 'मन' धातु के सिद्ध होने के कारण यहाँ पर मन शब्द का अर्थ विज्ञान है। तन्मय अर्थात् विज्ञानमय वह पुरुष है क्योंकि विज्ञानमयरूप से ही उसकी उपलब्धि होती है अथवा जीव जिसके द्वारा मनन करता है, वह अन्तःकरण ही मन है। उसका अभिमानी मनोमय कहा गया है अथवा उस अन्तःकरण से उपलक्षित होने वाला अमरणधर्मा और ज्योतिर्मय यह पुरुष है। ऐसे लक्षण वाले उसी हृदयाकाश में साक्षात् किये गये विद्वान् के आत्मस्वरूप ईश्वर के ऐसे रूप की प्राप्ति के लिये मार्ग बतलाया जाता है। हृदय देश से ऊपर की ओर जाने वाली सुषम्ना नाम की नाड़ी योगशास्त्रों में प्रसिद्ध है, वह दोनों के तालुओं के बीच बीच होकर गयी है और तालुओं के मध्य में जो स्तन के समान मांस खण्ड लटका हुआ है, उसके मध्य से भी होकर सुषम्ना नाड़ी गयी है। केशों के मूलभाग का नाम केशान्त है, वह जिस स्थान पर विभक्त होता है, ऐसा जो मूर्ध प्रदेश है, उस स्थान में पहुँचकर जो निकल गयी है अर्थात् जो मस्तक के कपालों को विदीर्ण करती हुई बाहर निकल गयी है, वही ब्रह्म स्वरूप प्राप्ति का द्वार है। इसीलिये उसे इन्द्रयोनि कहते हैं। इस प्रकार उस सुषम्ना नाड़ी द्वारा मनोमय आत्मा का साक्षात् करने वाला पुरुष मूर्धद्वार से निकल कर इस लोक का अधिष्ठाता जो महान् ब्रह्म का अङ्गभूत 'भूः' ऐसा व्याहृति रूप अग्नि है, उस अग्नि में स्थित हो जाता है अर्थात् अग्निरूप होकर इस लोक को व्याप्त कर लेता है, वैसे ही वह (उपासक) 'भुवः' इस द्वितीय व्याहृतिरूप वायु में स्थित हो जाता है। इस प्रकार 'प्रतितिष्ठति' इस क्रिया की अनुवृत्ति की जाती है।

---

१. तल्लिङ्ग इति—अत्र च मनसा मन्यत इति विग्रहः। २. महतो ब्रह्मण इति—अत्र महो ब्रह्मण इति युक्तं प्रतिभाति।

सुवरित्यादित्ये। मह इति ब्रह्मणि। आप्नोति स्वा-
राज्यम्। आप्नोति मनसस्पतिम्। वाक्पतिश्चक्षु-
ष्पतिः। श्रोत्रपतिर्विज्ञानपतिः। एतत्ततो भवति।
आकाशशरीरं ब्रह्म। सत्यात्म प्राणारामं मनआन-

"सुवः" इस व्याहृति की उपासना से आदित्य में और "महः" इस चतुर्थी व्याहृति की उपासना से अङ्गी ब्रह्म में स्थित हो जाता है। आत्मा स्वरूप से स्थित होने पर वह देवताओं के (आधिपत्य रूप) स्वाराज्य को प्राप्त कर लेता है तथा सर्वात्मक होने के कारण मन के पति ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है तथा वाणी का पति, चक्षु का पति, श्रोत्र का पति और सभी विद्वानों का भी स्वामी हो

सुवरिति तृतीयव्याहृत्यात्मन्यादित्ये। मह इत्यङ्गिनि चतुर्थव्याहृत्यात्मनि ब्रह्मणि प्रतितिष्ठति। तेष्वात्मभावेन स्थित्वाऽऽप्नोति ब्रह्मभूतः स्वाराज्यं स्वराड्भावं स्वयमेव राजाऽधिपतिर्भवत्यङ्गभूतानां देवानां यथा ब्रह्म। देवाश्च सर्वेऽस्मै बलिमा-वहन्त्यङ्गभूता यथा ब्रह्मणे। आप्नोति मनसस्पतिम्। सर्वेषां हि मनसां पतिः सर्वात्मक-त्वाद्ब्रह्मणः सर्वैर्हि मनोभिस्तन्मनुते। तदाप्नोत्येवं विद्वान्। किंच वाक्पतिः सर्वासां वाचां पतिर्भवति। तथैव चक्षुष्पतिश्चक्षुषां पतिः श्रोत्रपतिः श्रोत्राणां पतिः। विज्ञानपति-र्विज्ञानानां च पतिः। सर्वात्मकत्वात्सर्वप्राणिनां करणैस्तद्वान्भवतीत्यर्थः। किंच ततोऽप्यधिकतरमेतद्भवति। किं तत्। उच्यते। आकाशशरीरमा[1]काशः शरीरमस्या-

---

स्वाराज्यं निरङ्कुशमैश्वर्यं जगत्स्रष्टृत्वादिलक्षणं न भवतीत्याह – अङ्गभूतानां देवानामिति। [2]सावधिकमैश्वर्यमेवाऽऽह – आप्नोतीत्यादिना।।२।।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छुद्धानन्दपूज्यपादशिष्यानन्दज्ञानविरचितायां तैत्तिरी-योपनिषच्छांकरभाष्यटीकायां शीक्षाध्याये षष्ठोऽनुवाकः।।६।।

'सुवः' इस तृतीय व्याहृतिरूप आदित्य में और 'महः' इस चतुर्थ व्याहृतिरूप अवयवी ब्रह्म में प्रतिष्ठित हो जाता है। उनमें आत्मस्वरूप से स्थित हो वह उपासक ब्रह्मभूत हुआ स्वराड्भाव को प्राप्तकर लेता है। जैसे अङ्गभूत देवताओं का अधिपति ब्रह्म है वैसे ही स्वयं उपासक उनका अधिपति हो जाता है तथा अङ्गभूत देवगण जैसे ब्रह्म को (उपहार लाते हैं) वैसे ही इस अपने अङ्गी के लिये उपहार लाते हैं और वह मनसस्पति हो जाता है। ब्रह्म सर्वात्मक हो जाने के कारण सम्पूर्ण मनों का पति है क्योंकि वह सभी मनों द्वारा मनन करता है। इस प्रकार उपासना द्वारा उपासक उसे प्राप्तकर लेता है। इतना ही नहीं किन्तु सम्पूर्ण प्राणियों का पति हो जाता है तथा नेत्रों का पति श्रोत्रों का पति और विज्ञानों का भी स्वामी हो जाता है। भाव यह है कि सर्वात्मक होने के कारण वह समस्त प्राणियों की इन्द्रियों से इन्द्रिय वाला हो जाता हैं। इतना ही नहीं वह तो इससे भी बड़ा हो जाता है।

---

१. विराडभेदेनाह– आकाशः शरीरमस्येति। वस्तुतो हिरण्यगर्भस्य सूक्ष्मत्वादाकाशवदिति। २. सावधिकमैश्वर्यमत एवाहेति पाठान्तरम्।

न्दम्। शान्तिसमृद्धममृतम्। इति प्राचीनयोग्योपा-
स्व।।२।।

इति कृष्णयजुर्वेदीयतैत्तिरीयोपनिषदि शीक्षाध्याये
षष्ठोनुवाकः।।६।।

जाता है (अर्थात् सर्वात्मक होने से सभी प्राणियों की इन्द्रियों से वह इन्द्रियवान् हो जाता है) इससे भी बड़ा हो जाता है। वह आकाशशरीर वाला त्रिकालाबाध्य, सत्यस्वरूप प्राणाराम और सुखकारी मन वाला शान्ति से युक्त तथा अमृतस्वरूप ब्रह्म हो जाता है। हे प्राचीनयोग्य! इस प्रकार तू (उस ब्रह्म की) उपासना कर।।२।।

।। इति षष्ठोऽनुवाकः।।

ऽऽकाशवद्वा सूक्ष्मं शरीरमस्येत्याकाशशरीरम्। किं तत्। प्रकृतं ब्रह्म। सत्यात्म सत्यं मूर्तामूर्तमवितथं स्वरूपं चाऽऽत्मा स्वभावोऽस्य तदिदं सत्यात्म। प्राणारामं प्राणेष्वा (राम आ) रमणमाक्रीडा यस्य तत्प्राणारामम्। प्राणानां वाऽऽरामो यस्मिंस्तत्प्रा-णारामम्। मनआनन्दम्। आनन्दभूतं सुखकृदेव यस्य मनस्तन्मनआनन्दम्। शान्तिसमृद्धं शान्तिरुपशमः शान्तिश्च तत्समृद्धं च शान्तिसमृद्धम्। शान्त्या वा समृद्धं तदुपलभ्यत इति शान्तिसमृद्धम्। अमृतममरणधर्मि। एतच्चाधिकतरं विशेषणं तत्रैव मनोमय इत्यादौ द्रष्टव्यमिति। एवं मनोमयत्वादिधर्मैर्विशिष्टं यथोक्तं ब्रह्म हे प्राचीनयोग्य, [1]उपास्स्वेत्या[2]चार्यवचनोक्तिरादरार्था।।२।।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छंकरभगवतः
कृतौ तैत्तिरीयोपनिषच्छीक्षाध्यायभाष्ये षष्ठोऽनुवाकः।।६।।

वह क्या? इसे कहते हैं। आकाश जिसका शरीर है अथवा आकाश के समान जिसका शरीर सूक्ष्म है, वही आकाश शरीर है। वह कौन है? प्रकृत ब्रह्म अर्थात् जिसका यहाँ पर प्रसंग चल रहा है, मूर्तामूर्तरूप सत्य जिसका स्वरूप है। इसीलिये उसे 'सत्यात्मक' कहते हैं। प्राणों में जिसका रमण यानी क्रीड़ा है अथवा जिसमें प्राणों का आरमण है, उसे प्राणाराम कहते हैं। जिसका मन आनन्दभूत सुखकारी ही है, वह मन आनन्द कहलाता है, शान्ति शब्द से उपशम को कहा गया है जो शान्ति भी है और समृद्ध भी है, वह शान्ति समृद्ध कहलाता है अथवा शान्ति के द्वारा उस समृद्ध ब्रह्म की उपलब्धि होती है इसलिये उसे शान्ति समृद्ध कहते हैं वह अमरणधर्मी है। अधिकरण में आये हुए विशेषण उस मनोमयत्व आदि में ही जानने योग्य है। हे प्राचीनयोग्य! इस प्रकार मनोमयत्वादि धर्मों से विशिष्ट पूर्वोक्त ब्रह्म की तू उपासना कर। यह आचार्य उक्ति उपासना के आदर के लिए है, उपासना शब्द का अर्थ तो पहले कहा ही जा चुका है।

---

१. उत्पत्तिविधेः पूर्वमेवोक्तत्वादाह—उपास्स्वेत्यादि· द्विरुक्तं ह्यादरविषयीभवतीति प्रसिद्धम्। २. आचार्यो माहाचमस्यः।

अथ शीक्षाध्याये सप्तमोऽनुवाकः।

पृथिव्यन्तरिक्षं द्यौर्दिशोऽवान्तरदिशाः। अग्निर्वायु-रादित्यश्चन्द्रमा नक्षत्राणि। आप ओषधयो वन-

पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्युलोक, दिशाएँ और अवान्तर दिशाएँ (ये लोक पाङ्क्त हैं) अग्नि, वायु, आदित्य, चन्द्रमा और नक्षत्र (ये देवता पाङ्क्त हैं) तथा जल, औषधि, वनस्पति, आकाश और विराडात्मा (ये भूत पाङ्क्त हैं) क्योंकि यह भूतों का अधिकरण है। (उक्त वर्णन के अनुसार मन्त्र में

यदेतद्व्याहृत्यात्मकं ब्रह्मोपास्यमुक्तं तस्यैवेदानीं पृथिव्यादिपाङ्क्तस्वरूपेणोपासनमुच्यते। पञ्चसंख्यायोगात्पङ्क्तिच्छन्दःसंपत्तिः। ततः पाङ्क्तत्वं सर्वस्य। पाङ्क्तश्च यज्ञः। "[1]पञ्चपदा पङ्क्तिः। पाङ्क्तो यज्ञः" इति श्रुतेः। तेन यत्सर्वं लोकाद्यात्मान्तं च पाङ्क्तं परिकल्पयन्ति (ति) यज्ञमेव तत्परिकल्पयति। तेन यज्ञेन परिकल्पितेन पाङ्क्तात्मकं प्रजापतिमभिसंपद्यते। तत्कथं पाङ्क्तमिदं सर्वमित्यत आह—

पृथिव्यन्तरिक्षं द्यौर्दिशोऽवान्तरदिशा इति लोकपाङ्क्तम्। अग्निर्वायुरादित्यश्चन्द्रमा नक्षत्राणीति देवतापाङ्क्तम्। आप ओषधयो वनस्पतय आकाश आत्मेति भूतपाङ्क्तम्। आत्मेति विराड्भूताधिकारात्। इत्यधिभूतमित्यधिलोकाधिदैवतपाङ्क्त-

---

उत्तरोऽप्यनुवाकः प्रकारान्तरेण हिरण्यगर्भोपासनविषय इत्याह — यदेतदित्यादिना। पृथिव्यादेः कथं पाङ्क्तत्वमित्याकाङ्क्षायां पङ्क्त्याख्यस्य च्छन्दसः संपादनादित्याह — पञ्चसंख्येति। न केवलं पञ्चसंख्यायोगात्पङ्क्तिच्छन्दःसंपादनं यज्ञत्वसंपादनमपि कर्तुं शक्यत इत्याह — पाङ्क्तश्च यज्ञ

पांक्तरूप से ब्रह्म की उपासना

जो यह व्याहृतिरूप ब्रह्म उपास्य कहा गया है, उसी की अब उपासना पृथिवी आदि पांक्तरूप से कही जाती है। पृथिवी आदि पाँच-पाँच संख्या के योग से तथा पंक्ति छन्द पांच पदों वाला होने से इस उपासना को पांक्त कहा गया है। इसीलिये उन सब का पांक्तत्व है। यज्ञ भी पांक्त है ऐसा ही "पंक्ति छन्द पांच पदों वाला है, यज्ञ पांक्त है" इस श्रुति से जाना जाता है। अतः लोक से लेकर आत्मा पर्यन्त सबकी कल्पना पांक्त स्वरूप से जो करता है, वह यज्ञ की ही कल्पना करता है। उस परिकल्पित यज्ञ से वह पांक्त स्वरूप प्रजापति को प्राप्त हो जाता है। वही यह सब पांक्त कैसे हैं? इसे बतलाते हैं।

पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्युलोक, दिशायें और अवान्तर दिशायें ये लोक पांक्त हैं। अग्नि, वायु आदित्य, चन्द्रमा, और नक्षत्र ये देवता पांक्त हैं। जल, औषधि, वनस्पति, आकाश और आत्मा ये

---

१. पञ्चपदा पंक्तिरिति। तथा चोक्तं भगवत्कात्यायनविरचितसर्वानुक्रमण्याम्—"पञ्चमं पङ्क्तिः पञ्चपदा" इति पञ्चमं छन्दः पङ्क्तिः सा च पञ्चपदा पञ्चपादेत्यर्थः। पञ्चमत्वं चास्य गायत्र्युष्णिगनुष्टुब्बृहतीपङ्क्तित्रिष्टुब्जगत्यतिजगतीश क्वर्यतिशक्वर्यष्ट्यत्यष्टिधृत्यतिधृतय इति पूर्वमुद्दिष्टत्वाद्गायत्र्याद्यपेक्षयाऽवगन्तव्यम्। श्रुतौ तु "अथो पञ्चाक्षरा पङ्क्तिः पाङ्क्तो यज्ञः। यज्ञमेवावरुन्धे" तैत्तिरीयब्राह्मणे२।७।१० इत्येव पाठ उपलभ्यते। तत्र पङ्क्तेः पञ्चाक्षरत्वं तु "भगौगिति" पङ्क्तिरिति लक्षणानुसारेण बोध्यम्। भगणो गुरुद्वयं चेति लक्षणार्थः।

स्पतय आकाश आत्मा। इत्यधिभूतम्। अथाध्या-
त्मम्। प्राणो व्यानोऽपान उदानः समानः।
चक्षुः श्रोत्रं मनो वाक्त्वक्। चर्म माꣳसꣳ स्नावास्थि
मज्जा। एतदधिविधाय ऋषिरवोचत्। पाङ्क्तं वा
इदꣳ सर्वम्। पाङ्क्तेनैव पाङ्क्तꣳ स्पृणोतीति।।१।।

इति कृष्णयजुर्वेदीयतैत्तिरीयोपनिषदि शीक्षाध्याये
सप्तमोऽनुवाकः।।७।।

आया हुआ अधिभूत पद, अधिलोक और अधिदैवत इन दो पाङ्क्तों का भी उपलक्षक है।) अब अध्यात्म पाङ्क्त बतलाते हैं। प्राण, व्यान, अपान, उदान और समान (ये वायु पाङ्क्त हैं) चक्षु, श्रोत्र, मन, वाणी और त्वचा ये इन्द्रिय पाङ्क्त हैं तथा चर्म, मांस, स्नायु अस्थि और मज्जा ये धातु पाङ्क्त हैं। ये सभी मिलाकर अध्यात्म पाङ्क्त कहे जाते हैं। इस प्रकार पाङ्क्त उपासना का विधान कर मन्त्रद्रष्टा ऋषि या वेद ने कहा—यह सब पाङ्क्त ही है। (संख्या में समानता होने के कारण) इस अध्यात्म पाङ्क्त से ही बाह्य पाङ्क्त को एक रूप से उपासक उपलब्ध करता है।।१।।

।।इति सप्तमोऽनुवाकः।।

द्वयोपलक्षणार्थम्। लोकदेवतापाङ्क्तयोश्चाभिहितत्वात्।

अथानन्तरमध्यात्मं पाङ्क्तत्रयमुच्यते—प्राणादि वायुपाङ्क्तम्। चक्षुरादीन्द्रिय-पाङ्क्तम्। चर्मादि धातुपाङ्क्तम्। एतावद्धीदं सर्वमध्यात्मम्। बाह्यं च पाङ्क्तमेवेत्येतदेवम-धिविधाय परिकल्प्यर्षिर्वेद एतद्दर्शनसंपन्नो वा कश्चिदृषिरवोचदुक्तवान्। किमित्याह—पाङ्क्तं वा इदं सर्वं पाङ्क्तेनैवाऽऽध्यात्मिकेन [१]संख्यासामान्यात्पाङ्क्तं बाह्यं स्पृणोति

इति। पत्नीयजमानपुत्रदैवमानुषवित्तैः पञ्चभिः संपाद्यत इति यज्ञः पाङ्क्त इत्यर्थः।

भूत पांक्त हैं। यहाँ आत्मा इस शब्द से विराट् को कहा गया है क्योंकि यह भूतों का अधिकार है। 'इत्यधिभूतम्' यह वाक्य अधिलोक और अधिदैवत इन दोनों पांक्तों का भी उपलक्षण कराने के लिये है क्योंकि इनके अन्तर्गत लोक और देवता सम्बन्धी पांक्तों का भी कथन किया गया है।

इसके आगे अब तीन अध्यात्म पांक्त कहे जाते हैं—प्राणादि वायु पांक्त, चक्षुरादि इन्द्रिय पांक्त और चर्मादि धातु पांक्त बस ये इतने ही अध्यात्म और बाह्य पांक्त हैं। इन सबका इस प्रकार कल्पना करके वेद या इस दृष्टि से सम्पन्न किसी ऋषि ने कहा है। क्या कहा है? इसे बतलाते हैं—निःसन्देह ये सब पांक्त ही हैं। आध्यात्मिक पांक्त से ही संख्या में समानता होने के कारण उपासक बाह्य पांक्त

---

१. संख्या—पञ्चत्वम्।

अथ शीक्षाध्यायेऽष्टमोऽनुवाकः।

ओमिति ब्रह्म। ओमितीद ꣳ सर्वम्। ओमित्येत-दनु[१]कृतिर्ह स्म वा अप्यो श्रावयेत्याश्रावयन्ति। ओमि-

"ॐ" यह शब्दरूप ब्रह्म है (ऐसा इसका मन से ध्यान करे, क्योंकि) ॐ यही सब कुछ है (अर्थात् सभी शब्द ओंकार से व्याप्त है)। "ॐ" यह अनुकरण है, (क्योंकि इसी से दूसरे की बात को स्वीकार करते हैं) ऐसा प्रसिद्ध है "ओ श्रावय" इस प्रकार प्रेरणापूर्वक याज्ञिक लोग प्रतिश्रवण

बलयति पूरयति। एकात्मतयोपलभ्यत इत्येतत्। एवं पाङ्क्तमिदं सर्वमिति यो वेद स प्रजापत्यात्मैव भवतीत्यर्थः।।१।।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ तैत्तिरीयोपनिषच्छीक्षाध्यायभाष्ये सप्तमोऽनुवाकः।।७।।

व्याहृत्यात्मनो ब्रह्मण उपासनमुक्तम्। अनन्तरं च पाङ्क्तस्वरूपेण तस्यैवो-पासनमुक्तम्। इदानीं सर्वोपासनाङ्गभूतस्योंकारस्योपासनं विधित्स्यते। परापरब्रह्मदृष्ट्या ह्युपास्यमान ओंकारः शब्दमात्रोऽपि परापरब्रह्मप्राप्तिसाधनं भवति। स ह्यालम्बनं ब्रह्मणः परस्यापरस्य च। प्रतिमेव विष्णोः। "एतेनैवाऽऽयतनेनैकतरमन्वेति" (प्र. उ. ५. २.) इति श्रुतेः।

"उत्कृष्टदृष्टिर्निकृष्टे फलवती" इति न्यायाद्बाह्यपाङ्क्तरूपेणाऽऽध्यात्मिकपाङ्क्तत्रयम-वगन्तव्यमित्यभिप्रेत्याऽऽह – एकात्मतयेति।।१।।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छुद्धानन्दपूज्यपादशिष्यानन्दज्ञानविरचितायां तैत्तिरी-योपनिषच्छांकरभाष्यटीकायां शीक्षाध्याये सप्तमोऽनुवाकः।।७।।

वृत्तानुवादपूर्वकमुत्तरानुवाकमवतारयति – व्याहृत्यात्मन इत्यादिना। वेदविदां हि सर्वाः क्रिया ओंकारमुच्चार्य प्रवर्तन्ते ततस्तस्य श्रद्धागृहीतत्वा[२]त्तत्परिहारेणोपदिष्टं ब्रह्म न बुद्धिमारो-हेदतस्तमादायैवोपासनं विधीयत इत्यर्थः। नन्वोंकारस्य शब्दमात्रस्याचेतनत्वादहमनेनोपासित इतिज्ञाना-भावात्कथं फलदातृत्वं स्यादित्याशङ्क्याऽऽह – परापरेति। प्रतिमाद्यर्चन इव सर्वत्रेश्वर एव फल-

---

को पूरित करता है अर्थात् उसके साथ एकरूप से उपलब्ध करता है। "इस प्रकार यह सब पांक्त है" ऐसा जो पुरुष जानता है, वह प्रजापति स्वरूप ही हो जाता है, यह इसका भावार्थ है।

ओंकार उपासना का विधान

व्याहृतिरूप ब्रह्म की उपासना कही गयी है। उसके बाद उसी की उपासना पांक्तरूप से बतलायी गयी है। अब सभी उपासनाओं के अंगभूत ओंकार की उपासना का विधान किया जायगा। पर एवं अपर ब्रह्म दृष्टि से उपासना किये जाने पर केवल शब्दमात्र होता हुआ भी ओंकार पर और अपर ब्रह्म प्राप्ति का साधन हो जाता है क्योंकि ओंकार ही पर और अपर ब्रह्म का आलम्बन है। जैसे

---

१. अनुकृतिर्ह स्मेति भाष्यानुमतः पाठः। २. अत्राप्यध्यास एव सामानाधिकरण्यं न तु बाधायामित्याशयेनाह—तत्प-रिहारेणेत्यादि।

ति सामानि गायन्ति। [१]ओꣳ शोमिति शस्त्राणि शꣳसन्ति। ओमित्यध्वर्युः प्रतिगरं प्रतिगृणाति। ओमिति ब्रह्मा प्रसौति। ओमित्यग्निहोत्रमनुजानाति। [२]ओमिति ब्राह्मणः प्रवक्ष्यन्नाह ब्रह्मोपाप्नवानीति। ब्रह्मैवोपाप्नोति।।१।।

इति कृष्णयजुर्वेदीयतैत्तिरीयोपनिषदि शीक्षाध्याये-ऽष्टमोऽनुवाकः।।८।।

कराते हैं और "ॐ" ऐसा कहकर साम गान करने वाले साम का गान करते हैं। "ॐशोम्" ऐसा कह कर शस्त्रों का (गीति रहित ऋचाओं का शस्त्र शंसन करने वाले) पाठ करते हैं। अध्वर्यु प्रत्येक कर्म के प्रति "ॐ" ऐसा उच्चारण करता है। "ॐ" ऐसा कह कर ब्रह्म प्रेरणा देता है और "ॐ" ऐसा कर कह (यजमान को) अग्निहोत्र के लिये वह आज्ञा देता है। अध्ययन करने वाला ब्राह्मण "ॐ" ऐसा उच्चारण करता हुआ कहता है— मैं वेद या परब्रह्म को प्राप्त करूँ, ऐसा कहकर वह ब्रह्म को प्राप्त ही कर लेता है।।१।।

।।इत्यष्टमोऽनुवाकः।।

ओमिति। [३]इतिशब्दः स्वरूपपरिच्छेदार्थः। ओमित्येतच्छब्दरूपं ब्रह्मेति मनसा धारयेदुपासीत। यत "ओमितीदं सर्वं" सर्वं हि शब्दरूपमोंकारेण व्याप्तम्। "तद्यथा शङ्कुना" इति श्रुत्यन्तरात्। अभिधानतन्त्रं ह्यभिधेयमित्यत इदं सर्वमोंकार इत्युच्यते।

दातेति भावः। ओंकारे ब्रह्मत्वाध्यासे किं सादृश्यमित्यत आह — ओमितीदमिति। सर्वास्पदत्वमोंकारस्य ब्रह्मणा सादृश्यमित्यर्थः।

विष्णु का आलम्बन प्रतिमा है। "इसी आलम्बन से उपासक (पर या अपर) किसी एक ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है" इस श्रुति से यही बात सिद्ध होती है।

'ओमिति' इस में 'इति' शब्द ओंकार के स्वरूप का निर्देश करने के लिये है अर्थात् ॐ का यह शब्दरूप ब्रह्म है। ऐसा इसका मन से ध्यान कर क्योंकि ॐ यही सब कुछ है। समस्त शब्दरूप प्रपञ्च ओंकार से व्याप्त है, ऐसा ही "जैसे शंकु से पत्ते व्याप्त रहते हैं" इत्यादि दूसरी श्रुति से भी सिद्ध होता है। सम्पूर्ण वाच्यार्थ अपने वाचक के अधीन ही होता है। इसलिये ये सब ओंकार हैं, ऐसा कहा जाता है।

---

१. ओमिति शस्त्राणीति भाष्यानुमतः पाठः। बह्वृचा होतारोऽपि प्रणवोच्चारणेनों शोमितिशब्दोच्चारणेनैव शस्त्राणि पठन्तीति सायणभाष्यम्। २. ओमिति ब्राह्मण इति। अत्र सायणभाष्यम्—तथा ब्रह्मयज्ञं चिकीर्षुर्ब्राह्मणो ब्रह्मयज्ञनामकस्य प्रवचनस्यादौ प्रणवं प्रयुङ्क्ते। तथा च ब्रह्मयज्ञप्रकरणे समाम्नातम् "दक्षिणोत्तरौ पाणिपादौ कृत्वा सपवित्रावोमिति प्रतिपद्यते ब्रह्मयज्ञं प्रारभत इत्यर्थः। ३. इतिशब्द इति—तदभावे हि ओम्ब्रह्मेत्यस्योम् शब्दार्थो ब्रह्मेत्यर्थः। प्रतीयेत नासावुपासनोपयोगीति भावः।

ओंकारस्तुत्यर्थमुत्तरो ग्रन्थः। उपास्यत्वात्तस्य। ओमित्येतदनुकृतिरनुकरणम्। करोमि यास्यामि चेति [1]कृतमुक्तमोमित्यनुकरोत्यन्यः। अत ओंकारोऽनुकृतिः। ह स्म वा इति प्रसिद्ध्यर्थद्योतकाः। प्रसिद्धं ह्योंकारस्यानुकृतित्वम्। अपि च "[2]ओ श्रावय" इति प्रैषपूर्वकमाश्रावयन्ति प्रतिश्रावयन्ति। तथोमिति सामानि गायन्ति सामगाः। ओंमिति शस्त्राणि शंसन्ति शस्त्रशंसितारोऽपि। तथोमित्यध्वर्युः प्रतिगरं प्रतिगृणाति। [3]ओमिति ब्रह्मा प्रसौत्यनुजानाति प्रैषपूर्वकमाश्रावयति। [4]ओमित्यग्निहोत्रमनुजानाति। जुहोमीत्युक्त

---

[5]शस्त्राणि गीतिरहिता ऋचः उच्यन्ते। प्रतिगरमिति। [6]ओ थामो दैवेतिशब्दमध्वर्युः प्रतिगृणाति

ओंकार की स्तुति के लिये आगे का ग्रन्थ है क्योंकि वह ओंकार उपास्य है। ॐयह अनुकरण है। इसी से क़िसी के द्वारा "मैं करता हूँ, मैं जाता हूँ" इस प्रकार किये हुए कथन को सुनकर दूसरा उसे स्वीकार करने वाला पुरुष 'ओं' ऐसा अनुंकरण करता है। अतः ओंकार अनुकृति है 'ह स्म वै' ये तीनों निपात प्रसिद्धि के सूचक हैं क्योंकि ओंकार अनुकृतित्व प्रसिद्ध ही है। इसके अतिरिक्त "ओ श्रावय" इस प्रकार प्रेरणापूर्वक याज्ञिक लोग प्रतिश्रवण कराते हैं तथा 'ॐ' ऐसा उच्चारण कर सामगान करने वाले साम का गान करते हैं। 'ॐ' ऐसा उच्चारण कर शस्त्र शंसन करने वाले भी शस्त्रों का पाठ करते हैं तथा अध्वर्यु लोग प्रत्येक कर्म के प्रति 'ॐ' ऐसा उच्चारण करते हैं। 'ॐ' ऐसा उच्चारण कर ब्रह्म अनुज्ञा देता है अर्थात् प्रेरणापूर्वक आश्रवण करता है और 'ॐ' ऐसा उच्चारण

---

१. कृतमनुकरोतीत्यन्वयः। कृतमित्येतदेव व्याचष्टे—उक्तमिति। तथा च करोमि यास्यामि चेति शिष्यादिनोक्तम्। ओमित्येवमाचार्यादिरनुकरोत्यभ्यनुजानातीत्यर्थः। २ ओ श्रावयेति—दर्शपूर्णमासादियागेषु यजुर्वेदोक्तकर्मानुष्ठायिनोऽध्वर्यवो यस्मिन् काल आग्नीध्रं प्रत्याश्रावयेति प्रैषमन्त्रं प्रयुञ्जते तदानीमो श्रावयेति मन्त्रं पठन्ति। अत एवापस्तम्ब आकारादिमोकारादिमोंकारादिं च तं मन्त्रं विकल्पेनोदाजहार "आ श्रावयो श्रावयों श्रावयेति श्रावयति" इति तेषु पक्षेषु द्वितीय ओकारादिपक्षोऽत्र श्रुत्योदाहृतः। मन्त्रगत ओकार आग्नीध्रसम्बोधनार्थः। हे आग्नीध्र देवान्प्रति हविष्प्रदानावसरं श्रावयेति मन्त्रार्थः। अपिशब्दो वक्ष्यमाणोदाहरणसमुच्चयार्थः। अध्वर्यवोऽप्योंकारेण प्रणवभागे नैवाश्रावयन्तीति सायणभाष्यम्। ३. ओमिति ब्रह्मा प्रसौतीति। अत्र सायणभाष्यम्—वेदत्रयोक्तप्रयोगज्ञर्त्विग्ब्रह्मा स यदा प्रोक्षणादिक्रियास्वन्यानृत्विजः प्रेरयति तदानीमों प्रोक्षेत्येवं प्रणवपुरस्सरमेव प्रसौति प्रेरयतीति। ४. ओमित्यग्निहोत्रमनुजानाति। अत्र सायणभाष्यम्—अग्निहोत्रहोमेऽध्वर्युर्होमद्रव्यं क्षीरं तत्पात्रादग्निहोत्रहवणीनामके पात्रे यदा स्रुवेणोन्नयति तदानीमोमुन्नेष्यामि हव्यं देवेभ्य इत्यादिर्मन्त्रेण यजमानं प्रत्यनुज्ञां याचते स च यजमान ओंकारेणानुज्ञां प्रयच्छतीति। ५. शस्त्राणि निष्केवल्य प्र उगादिनामकानीति सायणभाष्यम्। ६. ओ थामो दैवेति शब्दमिति—तथा चोक्तमाश्वलायनीये श्रौतसूत्रे "शस्त्रस्वरः प्रतिगर ओ थामो दैवेति" ५-९-४।। शस्त्रस्य स्वर इव स्वरो यस्य स शस्त्रस्वरः। किं च प्रतिगीर्यते प्रत्युच्चार्यते इति प्रतिगरः। मन्त्रमित्यनुक्त्वा पदकदम्बकतया प्रतीयमानस्यापि शब्दत्वमात्रोक्त्या नात्र अवयवार्थगवेषणे प्रयतितव्यमिति ध्वनयति। तथा च वौषडादिवत्सङ्केतमात्रतयाऽस्योच्चारणे प्रतिशंसनं प्रतीयत इति। सायणभाष्ये तु ओ थामो द इवेति पठित्वा—ओकारेण होता संबोध्यते हे होतरथार्धर्चशंसनान्तरमस्माकं मोद इव हर्ष एव संपन्न इत्यर्थ इत्युक्तम्। अत्र "निपातस्य च" इत्यथशब्दस्य दैर्घ्यम्।

अथ शीक्षाध्याये नवमोऽनुवाकः।

ऋतं च स्वाध्यायप्रवचने च। सत्यं च स्वाध्यायप्रवचने च। तपश्च स्वाध्यायप्रवचने च। दमश्च स्वा-

ऋत (शास्त्र द्वारा बुद्धिस्थ निश्चित अर्थ) तथा शास्त्राध्ययन और अध्यापन या वेदपाठ, (ये सभी अनुष्ठेय हैं) सत्यभाषण, स्वाध्याय और प्रवचन, (अनुष्ठान के योग्य हैं।) स्वधर्माचरणरूप

ओमित्येवानुज्ञां प्रयच्छति। ओमित्येव ब्राह्मणः प्रवक्ष्यन्प्रवचनं करिष्यन्नध्येष्यमाण ओमित्येवाऽऽह। [1]ओमिति प्रतिपद्यतेऽध्येतुमित्यर्थः। ब्रह्म वेदमुपाप्नवानीति प्राप्नुयां ग्रहीष्यामीति। उपाप्नोत्येव ब्रह्म। अथवा ब्रह्म परमात्मा तमुपाप्नवानीत्यात्मानं प्रवक्ष्यन्प्रापयिष्यन्नोमित्येवाऽऽह। स च तेनोंकारेण ब्रह्म प्राप्नोत्येव। ओंकारपूर्वं प्रवृत्तानां क्रियाणां फलवत्त्वं यस्मात्तस्मादोंकारं ब्रह्मेत्युपासीतेति वाक्यार्थः।।१।।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ तैत्तिरीयोपनिषच्छीक्षाध्यायभाष्येऽष्टमोऽनुवाकः।।८।।

[2]विज्ञानादेवाऽऽप्नोति स्वाराज्यमित्युक्तत्वाच्छ्रौतस्मार्तानां कर्मणामानर्थक्यं प्राप्तमित्यन्तस्तन्मा प्रापदिति कर्मणां पुरुषार्थं प्रति साधनत्वप्रदर्शनार्थमिहोपन्यासः। ऋत-

---

होतुः शंसनं प्रति। प्रतिशंसनमुच्चारयतीत्यर्थः। प्रवक्ष्यन्निति। 'वच परिभाषणे" इत्यस्य रूपं प्रथमव्याख्याने। द्वितीये "वह प्रापणे" इत्यस्य द्रष्टव्यम्।।२।।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छुद्धानन्दपूज्यपादशिष्यानन्दज्ञानविरचितायां तैत्तिरीयोपनिषच्छांकरभाष्यटीकायां शीक्षाध्यायेऽष्टमोऽनुवाकः।।८।।

[3]व्यवहितानुवाकेन संबन्धमाह — विज्ञानादेवेत्यादिना। अपरविद्यासहकारितया तत्फलेनैव

कर वह अग्निहोत्र के लिये आज्ञा देता है अर्थात् "मैं हवन करता हूँ" ऐसा यजमान के कहने पर वह 'ॐ' ऐसा कहकर उस यजमान को अग्निहोत्र के लिये अनुज्ञा देता है। 'ॐ' ऐसा उच्चारण कर अध्ययन करने वाला ब्राह्मण अध्ययन करने के लिये प्रवृत्त होता है। "मैं ब्रह्म अर्थात् वेद को ग्रहण करूँ" ऐसा कहकर वह वेद को प्राप्त कर ही लेता है अथवा "मैं परमात्मा को प्राप्त करूँ" इस प्रकार आत्मा को प्राप्त करने की इच्छा से वह ॐ ऐसा ही करता है और उस ओंकार के द्वारा वह ब्रह्म को प्राप्त कर ही लेता है। क्योंकि ओंकार पूर्वक प्रवृत्त होने वाली क्रियाएँ सफल होती हैं। इसीलिये ओंब्रह्म है। इस प्रकार उसकी उपासना करे। यह इस वाक्य का तात्पर्य अर्थ है।।१।।

ऋतादि शुभकर्मों की अवश्य कर्तव्यता का विधान

विज्ञान से ही स्वाराज्य प्राप्त करना है, ऐसा कहने पर श्रुति और स्मार्त कर्म की निरर्थकता

---

१. ओमिति प्रतिपद्यतेऽध्येतुमिति—अध्ययनार्थमोमित्येवादौ जपतीति यावत् ओमित्युच्चार्यैवाध्ययने प्रवर्तत इति वार्थः। २. उपासनादेव। ३. व्यवहितेति—एतेनान्तरानुवाकोक्तमोमिति ब्रह्मेत्योङ्कारमात्रोपासनं तुरीयाश्रमिमात्राधिकारिकमिति ध्वन्यते।

ध्यायप्रवचने च। शमश्च स्वाध्यायप्रवचने च। अग्न-
यश्च स्वाध्यायप्रवचने च। अग्निहोत्रं च स्वाध्याय-
प्रवचने च। अतिथयश्च स्वाध्यायप्रवचने च। मानुषं
च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजा च स्वाध्यायप्रवचने च।
प्रजनश्च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजातिश्च स्वाध्याय-

तप को करते हुए स्वाध्याय तथा प्रवचन अवश्य करे, इन्द्रियनिग्रह, स्वाध्याय और प्रवचन (सदा करने चाहिएँ) मनोनिग्रह के साथ स्वाध्याय और प्रवचन अवश्य अनुष्ठेय हैं। अग्नियों का आधान, स्वाध्याय तथा प्रवचन (नित्य करने योग्य हैं) अग्निहोत्र होम, स्वाध्याय और प्रवचन (ये नित्य कर्तव्य हैं।) अतिथि सत्कार, स्वाध्याय और प्रवचन (इनका नियम से अनुष्ठान करे), विवाहादि लौकिक व्यवहार, स्वाध्याय और प्रवचन (इनका भी यथा प्राप्त अनुष्ठान करना चाहिए)। प्रजा की

मिति व्याख्यातम्[१]। स्वाध्यायोऽध्ययनम्। प्रवचनमध्यापनं ब्रह्मयज्ञो वा। एतान्यृतादीन्य-नुष्ठेयानीति वाक्यशेषः। सत्यं च सत्यवचनं यथाव्याख्यातार्थं वा। तपः [२]कृच्छ्रादि। दमो बाह्यकरणोपशमः। शमोऽन्तःकरणोपशमः। अग्नय आधातव्याः। अग्निहोत्रं च होतव्यम्। अतिथयश्च पूज्याः। मानुषमिति लौकिकः संव्यवहारः। तच्च यथाप्राप्तम-नुष्ठेयम्। प्रजा चोत्पाद्या। प्रजनश्च प्रजनन[३]मृतौ [४]भार्यागमनमित्यर्थः।

प्रजातिः पौत्रोत्पत्तिः[५]पुत्रो निवेशयितव्य इत्येतत्। सर्वैरेतैः कर्मभिर्युक्तस्यापि

फलवत्त्वसिद्ध्यर्थमुत्तरानुवाकारम्भ इत्यर्थः। लौकिकसंव्यवहारो विवाहादिः।

पुनः पुनः स्वाध्यायप्रवचनग्रहणस्य तात्पर्यमाह — सर्वैरेतैरिति। किमिति यत्नतोऽनुष्ठेये

प्राप्त होती है। वह प्राप्त न हो, इसलिये पुरुषार्थ के प्रति कर्मों की साधनता दिखलाने के लिये यहाँ उनका उल्लेख किया जाता है। 'ऋत' इसकी व्याख्या पहले कर आये हैं। अध्ययन को स्वाध्याय कहते हैं तथा अध्यापन या ब्रह्मयज्ञ को प्रवचन कहते हैं। ये ऋत आदि अनुष्ठान करने योग्य हैं, यह वाक्य शेष है। सत्य भाषण को सत्य शब्द से कहा गया है अथवा सत्य की जैसी व्याख्या पहले की जा चुकी है, वह सत्य कृच्छ्रादिरूपता, बाह्य इन्द्रियों का निग्रहरूप दम और चित्त का उपशमरूप शम (ये सब के सब) करने योग्य है। अतिथियों की पूजा कर्तव्य है। यथा प्राप्त लौकिक व्यवहाररूप मानुष कर्म का अनुष्ठान करना ही चाहिये, प्रजा की उत्पति करनी चाहिए, ऋतुकाल में भार्यागमन कर्तव्य है।

पौत्र उत्पत्ति के लिये पुत्र को स्त्री परिग्रह करना चाहिये। इन सब कर्मों में युक्त पुरुष को

---

१. पृष्ठ १२ * अधीतपारायणम् २. कृच्छ्रादीति—"गोमूत्रं गोमयं क्षीरं दधि सर्पिः कुशोदकम्। एकरात्रोपवासश्च कृच्छ्रं सांतपनं स्मृतम्"। मनुः ।।११।२१२।। आदिना चान्द्रायणादिसंग्रहः। ३. भार्यागमनस्य रागत एव प्राप्तत्वेनाविधेयत्व-माशङ्क्य विवक्षितमाह—ऋताविति। अनार्तवेनासौ गन्तव्येति भावः। ४. भार्येति ऋतावपि नान्यदीयेति भावः। ५. पुत्रो निवेशयितव्य इति पुत्रमुत्पाद्य गार्हस्थ्ये निवेशयेदित्यर्थः।

प्रवचने च। सत्यमिति सत्यवचा राथीतरः। तप
इति तपोनित्यः पौरुशिष्टिः। स्वाध्यायप्रवचने एवेति
नाको मौद्गल्यः। तद्धि तपस्तद्धि तपः।।१।।

प्रजा च स्वाध्यायप्रवचने च षट् च।

इति कृष्णयजुर्वेदीयतैत्तिरीयोपनिषदि शीक्षाध्याये
नवमोऽनुवाकः।।९।।

उत्पत्ति, स्वाध्याय तथा प्रवचन (ये सदा कर्तव्य है) ऋतुकाल में भार्यागमन, स्वाध्याय और प्रवचन (सदा करता रहे)। पुत्र को स्त्री परिग्रह, स्वाध्याय और प्रवचन (इनका नियम से अनुष्ठान करे)। सत्य ही अनुष्ठेय है ऐसा रथीतर वंश में उत्पन्न सत्यवचा नामक आचार्य मानता है। तप ही कर्तव्य है ऐसा नित्य तपोनिष्ठ या तपोनित्य नाम वाला पौरुशिष्टि आचार्य मानता है। स्वाध्याय और प्रवचन ही अनुष्ठान के योग्य है ऐसा मुद्गल का पुत्र नाक नाम वाला आचार्य मानता है। अतः वे ही (स्वाध्याय और प्रवचन ही) तप हैं, वे ही तप हैं ।।१।।

।। इति नवमोऽनुवाकः।।

स्वाध्यायप्रवचने यत्नतोऽनुष्ठेये इत्येवमर्थं सर्वेण सह स्वाध्यायप्रवचनग्रहणम्। स्वाध्यायाधीनं ह्यर्थज्ञानम्। अर्थज्ञानायत्तं च परं श्रेयः। प्रवचनं च तदविस्मरणार्थं धर्मप्रवृद्ध्यर्थं च। अतः स्वाध्यायप्रवचनयोरादरः कार्यः। सत्यमिति सत्यमेवानुष्ठातव्यमिति सत्यवचाः सत्यमेव वचो यस्य सोऽयं सत्यवचा नाम वा सत्यवचा इति तस्य। राथीतरो रथीतरस्य गोत्रो राथीतराचार्यो मन्यते।

तप इति तप एव कर्तव्यमिति तपोनित्यस्तपसि नित्यस्तपःपरस्तपोनित्य इति वा नाम। पौरुशिष्टिः पुरुशिष्टस्यापत्यं पौरुशिष्टिराचार्यो मन्यते। स्वाध्यायप्रवचने

तत्राऽऽह – स्वाध्यायाधीनमिति। त्रयाणामृषीणां मतभेदोपन्यासेन स्वाध्यायप्रवचनयोरेवाऽऽदरं विवृणोति – सत्यमित्यादिना।।२।।

भी यत्न पूर्वक स्वाध्याय और प्रवचन का अनुष्ठान करना चाहिए। इसीलिए इन सबके साथ स्वाध्याय और प्रवचन को ग्रहण किया है। अर्थ का ज्ञान स्वाध्याय के अधीन है और अर्थ ज्ञान के अधीन परम श्रेय है तथा प्रवचन उसकी अविस्मृति एवं धर्म की अभिवृद्धि के लिये है। इसलिये स्वाध्याय और प्रवचन में श्रद्धा रखनी चाहिए। सत्य ही जिसका वचन हो, अथवा जिसका नाम सत्यवचा है, वह रथीतर वंश में उत्पन्न राथीतर आचार्य मानते हैं कि सत्य ही अनुष्ठान करने योग्य है।

तपोनिष्ठ अथवा तपोनित्य नाम वाला पुरुशिष्ट का पुत्र पौरुशिष्टि आचार्य की मान्यता है कि तप ही कर्तव्य है, किन्तु मुद्गल का पुत्र नाक नाम वाला मौद्गल्य आचार्य मानता है कि स्वाध्याय

अथ शीक्षाध्याये दशमोऽनुवाकः

अहं वृक्षस्य रेरिवा। कीर्तिः पृष्ठं गिरेरिव।
ऊर्ध्वपवित्रो वाजिनीव स्वमृतमस्मि। द्रविणꣳसव-

(अन्तर्यामी रूप से) मैं संसाररूप वृक्ष का प्रेरक हूँ। मेरी प्रसिद्धि पर्वतशिखर के समान ऊँची है (ज्ञान प्रकाशित होने योग्य पवित्र परब्रह्म रूप कारण वाला होने से) मैं ऊर्ध्व पवित्र हूँ। अन्नवान् सूर्य के समान मैं भी विशुद्ध अमृतमय हूँ। मैं दीप्तिमान् (आत्मतत्त्वरूप) धन, सुन्दर मेधा वाला,

---

एवानुष्ठेये इति नाको नामतो मुद्गलस्यापत्यं मौद्गल्य आचार्यो मन्यते। तद्धि तपस्तद्धि तपः। हि यस्मात्स्वाध्यायप्रवचने एव तपस्तस्मात्ते एवानुष्ठेये इति। उक्तानामपि सत्यतपः-स्वाध्यायप्रवचनानां पुनर्ग्रहणमादरार्थम्।।१।।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ तैत्तिरीयोपनिषच्छीक्षाध्यायभाष्ये नवमोऽनुवाकः।।९।।

अहं वृक्षस्य रेरिवेति स्वाध्यायार्थो मन्त्राम्नायः। स्वाध्यायश्च विद्योत्पत्तये। प्रकरणात्। विद्यार्थं हीदं प्रकरणम्। न चान्यार्थत्वमवगम्यते। स्वाध्यायेन च विशुद्ध-सत्त्वस्य विद्योत्पत्तिरवकल्पते। अहं वृक्षंस्योच्छेदात्मकस्य संसारवृक्षस्य रेरिवा प्रेरयि-

---

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छुद्धानन्दपूज्यपादशिष्यानन्दज्ञानविरचितायां तैत्तिरी-योपनिषच्छांकरभाष्यटीकायां शीक्षाध्याये नवमोऽनुवाकः।।९।।

स्वाध्यायार्थ इति जपार्थः। "इषे त्वेति शाखां छिनत्ति" इतिवदन्यत्र विनियोजकं श्रुत्यादि-प्रमाणमपि नोपलभ्यत इत्याह – न चान्यार्थत्वमिति। [१]अक्षितमसीत्यादिवदुपासनाविधिशेषत्वं

प्रवचन ही अनुष्ठान योग्य है, वही तप है, वही तप है। इसका तात्पर्य यह है क्योंकि स्वाध्याय और प्रवचन ही तप है। अतः वे ही अनुष्ठेय हैं। पूर्वोक्त सत्य, तप स्वाध्याय और प्रवचनों का पुनर्ग्रहण उनके आदर के लिये किया गया है।।१।।

त्रिशंकु का वेदानुवचन

"अहं वृक्षस्य रेरिवा" इत्यादि मन्त्र का पाठ जप के लिये है और वह जप ज्ञान की उत्पत्ति के लिए कहा गया है। ऐसा प्रकरण से जान पड़ता है क्योंकि यह प्रकरण ज्ञान के लिए ही है। इसके अतिरिक्त इसका कोई दूसरा प्रयोजन नहीं जान पड़ता क्योंकि स्वाध्याय के द्वारा विशुद्ध अन्तःकरण पुरुष को ही विद्या की उत्पत्ति का होना सम्भव है। मैं अन्तर्यामी रूप से नश्वर संसाररूप वृक्ष का

---

१. अक्षितमसीति— छान्दोग्ये "स यदशिशिषति यत्पिपासति यन्न रमते ता अस्य दीक्षा" इत्यादिना यज्ञदर्शनं विधायान्ते "सोऽन्तवेलायामेतत्त्रयं प्रतिपद्येताक्षितमस्यच्युतमसि प्राणसंशितमसीति" (३-२७-१,६) इत्युपासकस्य मरणकाले जप्यं मन्त्रत्रयमुक्तं तस्य यथा यज्ञदर्शनविधिशेषत्वं न तथाऽस्य शक्यं वक्तुमित्यर्थः।

चंसम्। सुमेधा अमृतोक्षितः। इति त्रिशङ्कोर्वेदा-
नुवचनम्।।१।।

अहथ्वंषट्।।

इति कृष्णयजुर्वेदीयतैत्तिरीयोपनिषदि शीक्षाध्याये
दशमोऽनुवाकः।।१०।।

अमरणधर्मा तथा अव्यय हूँ या अमृत से सिक्त हूँ, यह त्रिशंकु ऋषि का (आत्मैकत्व विज्ञान प्राप्ति के अनन्तर होने वाला) वेदानुवचन है।।१।।

।।इति दशमोऽनुवाकः।।

ताऽन्तर्याम्यात्मना। कीर्तिः ख्यातिर्गिरेः पृष्ठमिवोच्छ्रिता मम। ऊर्ध्वपवित्र ऊर्ध्वं [1]कारणं पवित्रं पावनं [2]ज्ञानप्रकाश्यं परमं ब्रह्म यस्य [3]सर्वात्मनो मम सोऽहमूर्ध्वपवित्रः। वाजिनीव वाजवतीव। वाजमन्नं तद्वति सवितरीत्यर्थः। यथा सवितर्यमृतमात्मतत्त्वं विशुद्धं प्रसिद्धं श्रुतिस्मृतिशतेभ्य एवं स्वमृतं शोभनं विशुद्धमात्मतत्त्वमस्मि भवामि।

द्रविणं धनं सवर्चसं दीप्तिमत्तदेवाऽऽत्मतत्त्वमस्मीत्यनुवर्तते। ब्रह्मज्ञानं वाऽऽत्मतत्त्वप्रकाशकत्वात्सवर्चसम्। द्रविणमिव द्रविणं मोक्षसुखहेतुत्वात्। अस्मिन्पक्षे, प्राप्तं मयेत्यध्याहारः कर्तव्यः। सुमेधाः शोभना मेधा सर्वज्ञत्वलक्षणा यस्य मम सोऽहं सुमेधाः। संसारस्थित्युत्पत्त्युपसंहारकौशलयोगात्सुमेधस्त्वम्। अत एवामृतोऽमरणधर्मा-

---

वा वक्तुं न शक्यते। [4]ज्ञानसाधनक्रियाविधेः प्रक्रान्तत्वादित्यर्थः।

प्रेरक हूँ। मेरी ख्याति पर्वत के पृष्ठभाग की भाँति ऊँची है। ज्ञान से प्रकाशित होने योग्य परब्रह्म जिस मुझ सर्वात्मा का ऊर्ध्व अर्थात् कारण है। इसीलिए मैं ऊर्ध्वपवित्र हूँ। अन्नरूप वाज से युक्त सूर्य के समान (मैं हूँ) सैकड़ों श्रुति-स्मृतियों के अनुसार जैसे सूर्य में विशुद्ध आत्मतत्त्व प्रसिद्ध है, वैसा ही मैं भी शोभन विशुद्ध आत्मतत्त्व हूँ।

वही आत्मतत्त्व मैं दीप्तिशाली धन हूँ। इस प्रकार यहाँ पर 'अस्मि' क्रिया की अनुवृत्ति की जाती है अथवा आत्मतत्त्व का प्रकाशक होने से तेजस्वी ब्रह्मज्ञान मोक्ष सुख का साधन होने के कारण धन के समान है। (वह मुझे प्राप्त हो गया है) इस पक्ष में ('अस्मि' क्रिया की अनुवृत्ति न करके) वह

---

१. कारणमिति—संसारवृक्षस्येत्युपक्रमाल्लभ्यम्। संसारवृक्षकारणस्यैवोर्ध्वशब्देन "ऊर्ध्वमूलऽवाक्शाखः" ऊर्ध्वमूलमधः शाख"मिति श्रुतिस्मृत्योर्निर्देशाच्चेति द्रष्टव्यम्। २. पावनं च ब्रह्मवाक्योत्थधीवृत्तावभिव्यक्तत्वेन संसारमलनाशकत्वादित्याशयेनाह—ज्ञानप्रकाश्यमिति। तथा चोक्तं वार्तिके—पवित्रं भवहानत इति। ३. ब्रह्मणो मत्पावकत्वेऽपि न मत्तो भेदोऽपि तु मत्स्वरूपमेव तद्ब्रह्मेत्याशयेन विशिनष्टि—सर्वात्मन इति। ४. तत्र हेतुमाह—ज्ञानेति। ऋतं चेत्यादिना ज्ञानसाधनकर्मणामेव प्रस्तुतत्वात्र मध्ये उपासनाविधिशेषस्यावकाशः। उपासनाविधेर्व्यवहितत्वादित्यर्थः।

ऽक्षितोऽक्षीणोऽव्यय अक्षतो वा अमृतेन वोक्षितः सिक्तः। "[1]अमृतोक्षितोऽहम्" इत्यादि ब्राह्मणम्। इत्येवं त्रिशङ्कोर्ऋषेर्ब्रह्मभूतस्य ब्रह्मविदो वेदानुवचनं वेदो वेदनमात्मैकत्व-विज्ञानं तस्य प्राप्तिमनु वचनं वेदानुवचनम्। आत्मनः कृतकृत्यताख्यापनार्थं वामदेव-वत्त्रिशङ्कुनाऽऽर्षेण दर्शनेन दृष्टो मन्त्राम्नाय आत्मविद्याप्रकाशक इत्यर्थः। अस्य च जपो विद्योत्पत्त्यर्थोऽवगम्यते। ऋतं चेत्यादिकर्मोपन्यासादनन्तरं च वेदानुवचनपाठादेतदव-गम्यत एवं श्रौतस्मार्तेषु नित्येषु कर्मसु युक्तस्य निष्कामस्य परं ब्रह्म विविदिषो[2]रार्षाणि दर्शनानि प्रादुर्भवन्त्यात्मादिविषयाणीति।।१।।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ तैत्तिरीयोपनिषच्छीक्षाध्यायभाष्ये दशमोऽनुवाकः।।१०।।

---

[3]अहं वृक्षस्येतिमन्त्रस्य[4]ऋषिस्त्रिशङ्कुः, [5]पङ्क्तिश्छन्दः, परमात्मा देवता, ब्रह्मविद्यार्थे जपे विनियोगः। न केवलमस्य जपो विद्यार्थः पूर्वोक्तानि कर्माण्यपीत्याह — ऋतं चेत्यादिना।।१।।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छुद्धानन्दपूज्यपादशिष्यानन्दज्ञानविरचितायां तैत्तिरी-योपनिषच्छांकरभाष्यटीकायां शीक्षाध्याये दशमोऽनुवाकः।।१०।।

मुझे प्राप्त हो गया है, एतदर्थक 'मया प्राप्तम्' इसका अध्याहार करना चाहिये। जिस सर्वज्ञत्व लक्षण वाली मेरी मेधा शोभन है, वह मैं सुमेधा हूँ। संसार की उत्पत्ति, स्थिति और संहार रूप कौशल का सम्बन्ध होने के कारण मुझ में सुमेधस्त्व है। इसीलिये मैं अमरधर्मा और अव्यय हूँ अथवा (तृतीया तत्पुरुष समास मान लेने पर) अमृत से उक्षित यानी सिक्त मैं हूँ। "मैं अमृत से उक्षित हूँ" ऐसा ब्राह्मण वाक्य है। इस प्रकार ब्रह्मस्वरूप ब्रह्मवेत्ता त्रिशंकु ऋषि का यह वेदानुवचन है। आत्मैकत्व विज्ञान को वेद कहते हैं, उसकी प्राप्ति के पीछे उच्चारण किये गये वचन को वेदानुवचन कहा गया है। अभिप्राय यह है कि अपनी कृतकृत्यता ख्यापन के लिए वामदेव की भाँति त्रिशंकु ऋषि द्वारा आर्ष दृष्टि से देखा गया यह मन्त्राम्नाय आत्मविद्या का प्रकाशक है। इसका जप विद्या की उत्पत्ति के लिए माना जाता है। "ऋतं च" इत्यादि अनुवाक में धर्म का उल्लेख करने के बाद वेदानुवचन का पाठ करने से यह अर्थ जाना जाता है कि इस प्रकार श्रौत और स्मार्त नित्य कर्मों में संलग्न निष्काम परब्रह्म के जिज्ञासु के समक्ष आत्मा आदि से सम्बन्धित आर्ष दृष्टि का प्रादुर्भाव हुआ करता है।

---

१. अमृतोक्षितोऽहमित्यादिब्राह्मणमिति—सुमेधा इत्येतदन्त एव मन्त्र इति भाव एवंविद्यार्थाभिधाने वाक्यान्तरसंवाद-स्यानपेक्षितत्वादवगम्यते। तथा चाहंशब्दो भाष्ये वा प्रक्षिप्तो मूले वा इत्येवमनुमीमीमहे। २. आर्षाणीति —यथार्थानीत्यर्थः। ३. "अविदित्वा ऋषिं छन्दो दैवतं योगमेव च। योऽध्यापयेज्जपेद्वापि पापीयाञ्जायते तु सः" इति स्मरणादृष्यादिकं दर्शयति—अहं वृक्षस्येत्यादिना। योगः प्रकृतिप्रत्ययसंबन्धः। ४. ऋषिरिति—"यस्य वाक्यं स ऋषिः" "या तेनोच्यते सा देवता" "यदक्षरपरिमाणं तच्छन्दः" इति सर्वानुक्रमणी। ५. पङ्क्तिश्छन्द इति—अस्य पञ्चपादत्वादिति भावः। यद्यपि "अष्टाक्षराः पञ्चपादा यस्याः सा पंक्तिरुच्यते। इन्द्रो महाय वावृधे इत्याहि सोम इन्महे" इति सर्वानुक्रमणीव्याख्याने अस्या अष्टाक्षरपादत्वमुक्तं तथापि तत्रैव पङ्क्तिभेदानां बहुधोक्तत्वेन विषमाक्षरपादत्वमपि न विरुध्यत इत्यवधेयम्।

अथ शीक्षाध्याये एकादशोऽनुवाकः

वेदमनूच्याऽऽचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति। सत्यं वद।

वेदाध्ययन कराने के बाद आचार्य शिष्य को उपदेश करते हैं—सत्य बोलो, (अनुष्ठान करने

वेदमनूच्येत्येवमादिकर्तव्यतोपदेशारम्भः प्राग्ब्रह्मविज्ञानान्नियमेन कर्तव्यानि श्रौत-स्मार्तकर्माणीत्येवमर्थः। अनुशासनश्रुतेः पुरुषसंस्कारार्थत्वात्। संस्कृतस्य हि विशुद्ध-सत्त्वस्याऽऽत्मज्ञानमञ्जसैवोत्पद्यते। "तपसा कल्मषं हन्ति विद्ययाऽमृतमश्नुते" मनुस्मृ. (१२-१०४) इति हि स्मृतिः। वक्ष्यति च—'तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व' इति। अतो विद्योत्पत्त्यर्थमनुष्ठेयानि कर्माणि। अनुशास्तीत्यनुशासनशब्दानुशासनातिक्रमे हि दोषोत्पत्तिः। प्रागुपन्यासाच्च कर्मणां केवलब्रह्मविद्यारम्भाच्च पूर्वं कर्माण्युपन्यस्तानि। उदितायां च विद्यायाम् "अभयं प्रतिष्ठां विन्दते" (तै.उ.२-७) "न बिभेति कुतश्चन" (तै.उ.२-९) "किमहं साधु नाकरवम्" इत्येवमादिना कर्मनैष्किचन्यं दर्शयिष्यतीत्यतोऽवगम्यते पूर्वोपचितदुरितक्षयद्वारेण विद्योत्पत्त्यर्थानि कर्माणीति। मन्त्रवर्णाच्च—"अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते" (ई. उ.११)

उत्तरानुवाकस्य तात्पर्यमाह — वेदमनूच्येत्यादिना। विद्योत्पत्त्यर्थं नित्यनैमित्तिकान्यवश्या-नुष्ठेयानीत्येको नियम उक्तः। प्रागेव चानुष्ठेयानीति नियमान्तरमाह — प्रागुपन्यासाच्च कर्मणामिति। संग्रहवाक्यं विवृणोति — केवलेत्यादिना। अविद्यया कर्मणा मृत्युमधर्मं तीर्त्वेति मन्त्रोऽपि विद्योत्पत्तेः

स्नातकों को आचार्य का उपदेश

ब्रह्मात्मैक्य विज्ञान से पूर्व श्रौत और स्मार्त कर्मों का नियम पूर्वक अनुष्ठान करना चाहिये। इसीलिये 'वेदमनूच्य' इत्यादि श्रुति से उनकी कर्तव्यता का उपदेश किया जाता है क्योंकि 'अनुशास्ति' ऐसी अनुशासन श्रुति है। वह अनुशासन पुरुष के संस्कार के लिए है क्योंकि संस्कारयुक्त विशुद्ध बुद्धि वाले पुरुष को अनायास ही आत्मज्ञान उत्पन्न हो जाता है। इस विषय में "तप से पाप को नष्ट कर डालता है और ज्ञान से अमरत्व प्राप्त करता है" ऐसी स्मृति है। "तप से ब्रह्म को जानने की इच्छा कर" ऐसा आगे यहाँ पर भी कहेंगे। अतः ज्ञान उत्पत्ति के लिये कर्मों का अनुष्ठान करना चाहिए। 'अनुशास्ति' इसमें अनुशासन शब्द होने के कारण अनुशासन का अतिक्रमण करने पर दोष की उत्पत्ति भी सम्भव है। कर्मों का वर्णन पहले होने के कारण ही (यह निश्चित हो जाता है कि ये कर्म विद्या की उत्पत्ति के लिए हैं) केवल ब्रह्मविद्या का वर्णन करने से पूर्व ही कर्मों का उपन्यास किया गया है। ब्रह्मविद्या के उदय हो जाने पर तो "अभय प्रतिष्ठा को प्राप्त कर लेता है" "किसी से भी भयभीत नहीं होता" "मैंने कौन-सा शुभ कर्म नहीं किया" इत्यादि वाक्यों द्वारा कर्मों की निष्किचनता ही दिखलायेंगे। इससे जान पड़ता है कि कर्म पूर्व संचित पापों के क्षय द्वारा ज्ञान की प्राप्ति के लिए ही हैं। "कर्म से अधर्म को पारकर उपासना से अमरत्व प्राप्त करता है।" इस मन्त्रवर्ण से भी यही बात सिद्ध होती है। अतः पहले ऋतादि का उपदेश उनके आनर्थक्य की निवृत्ति के लिए किया गया है

---

१. अञ्जसेति—"स्राग्झटित्यञ्जसाऽह्वायद्राङ्मङ्क्षुसपदिद्रुते"-इत्यमरः।

धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः। आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः। सत्यान्न

योग्य कर्म सामान्य) धर्म का आचरण करो, स्वाध्याय से प्रमाद न करो, आचार्य के लिए इष्ट धन लाकर (विद्यादान से उऋण होकर और आचार्य की आज्ञा से विवाह करके) संतान परंपरा का छेदन न करो (अर्थात् पुत्रोत्पत्ति के लिए लौकिक प्रयत्न और पुत्रेष्टि यागादि कर्म भी आवश्यकतानुसार करो), सत्य से प्रमाद नहीं करना चाहिए (अर्थात् कभी भूल कर भी असत्य भाषण नहीं करना

इति। ऋतादीनां पूर्वत्रोपदेशः आनर्थक्यपरिहारार्थः। इह तु ज्ञानोत्पत्त्यर्थत्वात्कर्तव्यता-नियमार्थः। वेदमनूच्याध्याप्याऽऽचार्योऽन्तेवासिनं शिष्यमनुशास्ति ग्रन्थग्रहणादनु पश्चाच्छास्ति तदर्थं ग्राह्यतीत्यर्थः। [1]अतोऽवगम्यतेऽधीतवेदस्य धर्मजिज्ञासामकृत्वा गुरुकुलान्न समावर्तितव्यमिति। "बुद्ध्वा कर्माणि चाऽऽरभेत्" इति स्मृतेश्च।

कथमनुशास्तीत्याह—सत्यं वद यथाप्रमाणावगतं वक्तव्यं च तद्वद्। तद्वद्धर्मं चर। [2]धर्म इत्यनुष्ठेयानां सामान्यवचनं सत्यादिविशेषनिर्देशात्। स्वाध्यायादध्ययनान्मा

प्रागेव कर्मानुष्ठान सूचयतीत्यर्थः। "ऋतं च स्वाध्यायप्रवचने च" इत्यादिना पूर्वत्र कर्मानुष्ठानमुक्तमेवातः पौनरुक्त्यमित्याशङ्क्याऽऽह – ऋतादीनामिति। विचारमकृत्वा गुरुकुलान्न निवर्तितव्यम्। किंत्वध्ययनविधेरर्थावबोधनद्वारेण पुरुषार्थपर्यवसायितासिद्ध्यर्थमक्षरग्रहणानन्तरमर्थावबोधे प्रयतितव्यमित्याह – ग्रन्थग्रहणादन्विति। वेदमधीत्य स्नायादिति [3]स्मृतिरप्येतच्छ्रुति[4]विरुद्धेत्याह – अतोऽवगम्यत इति।

वक्तव्यमिति। वचनार्हं परस्य हितमित्यर्थः।।१।।

और यहाँ पर ज्ञान की उत्पत्ति के लिए साधन होने से उनकी कर्तव्यता का नियम करने के लिए किया जा रहा है। वेदाध्ययन कराने के बाद आचार्य शिष्य को उपदेश करता है अर्थात् ग्रन्थ ग्रहण के पश्चात् ग्रन्थार्थ का ग्रहण कराता है। इससे यह ज्ञात होता है कि वेदाध्ययन के बाद भी धर्मजिज्ञासा किये बिना ब्रह्मचारी को गुरुकुल से अपने घर की ओर प्रत्यागमन नहीं करना चाहिये। "कर्मों का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करके उनका अनुष्ठान प्रारम्भ करे" इस स्मृति से भी यही अर्थ सिद्ध होता है।

किस प्रकार उपदेश करता है? इसे बतलाते हैं। कहने योग्य प्रमाण से जैसी जानी गयी है, उस बात को वैसे ही बोल। इसी प्रकार धर्म का आचरण कर। अनुष्ठान योग्य कर्मों को सामान्य रूप से धर्म कहा है क्योंकि सत्यादि विशेष धर्मों का तो निर्देश पृथक् रूप से कर ही दिया गया है। अध्ययन से प्रमाद न कर, आचार्य के लिये उनका अभीष्ट धन लाकर और विद्या दान से उऋण होने

---

१. कृतार्थो हि आचार्यो नाम भवतीत्युक्तत्वात् कृतार्थस्य चानियोज्यत्वाद्विधिं शिष्यविषयत्वे पर्यवसाययन्नाह—अत इत्यादि। अतः अस्मादेवानुशासनवचनादित्यर्थः २. धर्मपदस्य विशेषरूपेणाप्युपस्थापकत्वाद्विशेषस्य च विशेषान्तरसमभिव्याहारे "पाठं पठती"त्यादौ करोतीति सामान्यार्थकत्वस्य सिद्धत्वादाह—धर्म इति। तथा च न तक्रकौण्डिन्यवद्विषसमभिव्याहारात्सामान्यसंकोचेन सत्यादतिरिक्तधर्मपरत्वं धर्मपदस्य विरोधादिति भावः। ३. स्मृतिरपीति—गार्हस्थ्यरागादिना समावर्तनेच्छां दृष्टान्तयितुमपिशब्दः। ४. विरुद्धेति—तस्या औदुम्बरी सर्वा वेष्टयितव्येतिवदेव अमानत्वादिति भावः।

प्रमादेतव्यम्। धर्मान्न प्रमदितव्यम्। कुशलान्न प्रमदितव्यम्। भूत्यै न प्रमदितव्यम्। स्वाध्याय-प्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्।।१।।

चाहिये) धर्म से प्रमाद नहीं करना चाहिए, यानी सदा कर्तव्य कर्म का अनुष्ठान करो। आत्मरक्षा में उपयोगी कर्म से प्रमाद नहीं करना चाहिए। अध्ययन और अध्यापन से प्रमाद नहीं करना चाहिए।।१।।

प्रमदः प्रमादं मा कार्षीः। आचार्याऽऽचार्यार्थं प्रियमिष्टं धनमाहृत्याऽऽनीय दत्त्वा विद्यानिष्क्रयार्थम्। आचार्येण चानुज्ञातोऽनुरूपान्दारानाहृत्य प्रजातन्तुं प्रजासंतानं मा [१]व्यवच्छेत्सीः प्रजासंततेर्विच्छित्तिर्न कर्तव्या। अनुत्पद्यमानेऽपि पुत्रे पुत्रकाम्यादिकर्मणा तदुत्पत्तौ यत्नः कर्तव्य इत्यभिप्रायः। प्रजाप्रजनप्रजातित्रयनिर्देशसामर्थ्यात्। [२]अन्यथा प्रजनश्चेत्येतदेकमेवावक्ष्यत्।

सत्यान्न प्रमदितव्यं प्रमादो न कर्तव्यः। सत्याच्च प्रमदनमनृतप्रसङ्गः। प्रमादशब्द-सामर्थ्यात्। विस्मृत्याप्यनृतं न वक्तव्यमित्यर्थः। अन्यथाऽसत्यवदनप्रतिषेध एव स्यात्। तथा धर्मान्न प्रमदितव्यम्। धर्मशब्दस्यानुष्ठेयविषयत्वादननुष्ठानं प्रमादः स न कर्तव्यः। अनुष्ठातव्य एव धर्म इति यावत्। एवं कुशलादात्मरक्षार्थात्कर्मणो न प्रमदितव्यम्। भूतिर्विभूतिस्तस्यै भूत्यै भूत्यर्थान्[३]मङ्गलयुक्तात्कर्मणो न प्रमदितव्यम्। स्वाध्यायप्र-वचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्। स्वाध्यायोऽध्ययनं प्रवचनमध्यापनं ताभ्यां न प्रमदितव्यम्।

के लिये उन्हें भेंटकर आचार्य की आज्ञा से अपने अनुरूप स्त्री के साथ विवाह करके सन्तति परम्परा का उच्छेद न कर अर्थात् प्रजा सन्तति का विच्छेन नहीं करना चाहिए। अभिप्राय यह है कि यदि पुत्र उत्पन्न न हो तो भी पुत्रेष्टि कर्मों द्वारा उसकी उत्पत्ति के लिये प्रयत्न करना ही चाहिये। पूर्व अनुवाक में प्रजा, प्रजनन और प्रजाति तीनों का ही निर्देश किया गया है, उस निर्देश सामर्थ्य से पुत्र अर्थ सिद्ध होता है, नहीं तो वहां पर केवल (प्रजनन) इस एक ही साधन का निर्देश किया जाता।

सत्य से प्रमाद नहीं करना चाहिये। सत्य से प्रमाद करने का अर्थ है, असत्य का प्रसंग। प्रमाद शब्द के सामर्थ्य से ऐसा जाना जाता है। तात्पर्य यह है कि कभी भूलकर भी असत्य भाषण नहीं करना। यदि ऐसा तात्पर्य न होता तो यहाँ पर केवल असत्य भाषण का निषेध ही किया जाता। धर्म से प्रमाद नहीं करना चाहिये। अनुष्ठेय कर्म विशेष का वाचक धर्म शब्द है, उसका अनुष्ठान न करना ही प्रमाद है। वैसा करना ठीक नहीं अर्थात् धर्म का अनुष्ठान करना ही चाहिये। वैसे ही आत्मरक्षा में उपयोगी कुशल कर्मों से प्रमाद न करे। वैभव को भूति कहते हैं, उस वैभव के लिए होने वाले मांगलिक कर्मों से प्रमाद न करे। स्वाध्याय और प्रवचन से प्रमाद न करे। अध्ययन को

---

१. व्यवच्छेत्सीरिति—वृद्ध्यभाव आर्ष इति भावः। २. अन्यथेति—दाराहरणमात्रतात्पर्यकत्व इति यावत्। ३. मङ्गलयुक्तादिति—निष्पापादिति यावत्।

देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्। मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव। यान्यनवद्यानि कर्माणि। तानि सेवितव्यानि नो इतराणि। यान्यस्माकꣳ सुचरितानि। तानि त्वयोपास्यानि।।२।।

देवकार्य और पितृकार्य से प्रमाद न करे, तू मातृदेव हो, तू पितृ देव हो, आचार्य देव हो, अतिथि देव हो, (अर्थात् ये सब देवता के समान उपासना करने योग्य हैं। इनके अतिरिक्त) जो निर्दुष्ट शिष्टाचाररूप कर्म हैं, वे ही तेरे लिये कर्तव्य हैं। शिष्ट पुरुषों से आचरित भी निन्दनीय कर्म तेरे लिए कर्तव्य नहीं हैं। हम आचार्यों के भी जो शास्त्र-सम्मत शुभ चरित्र हैं, उन्हीं की उपासना तुझे करनी चाहिए।।२।।

ते हि नियमेन कर्तव्ये इत्यर्थः।।१।।

तथा देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्। [1]दैवपित्र्ये कर्मणी कर्तव्ये। मातृदेवो माता देवो यस्य स त्वं मातृदेवो भव स्याः। एवं पितृदेव आचार्यदेवोऽतिथिदेवो भव। देवतावदुपास्या एत इत्यर्थः। यान्यपि चान्यान्यनवद्यान्यनिन्दितानि शिष्टाचारलक्षणानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि कर्तव्यानि त्वया। नो अकर्तव्यानीतराणि सावद्यानि शिष्टकृतान्यपि। यान्यस्माकमाचार्याणां सुचरितानि शोभनचरितान्याम्नायाद्यविरुद्धानि तान्येव त्वयोपास्यान्यदृष्टार्थान्यनुष्ठेयानि, नियमेन कर्तव्यानीति यावत्। नो इतराणि विपरीतान्याचार्यकृतान्यपि।

स्वाध्याय और अध्यापन को प्रवचन कहते हैं, उन दोनों से प्रमाद न करे किन्तु उनका नियम पूर्वक आचरण करता रहे।

इसी प्रकार देवकार्य और पितृकार्यों से भी प्रमाद न करे, अर्थात् देवता एवं पितृसम्बन्धी कर्म अवश्य करने चाहिएँ। जिसका आराध्य माता है, वह तुम मातृदेव हो। इसी प्रकार पितृदेव हो, आचार्य देव हो (और अतिथि देव हो) तात्पर्य यह है कि ये सब देवता के समान उपासना करने योग्य हैं। इसके अतिरिक्त जो शिष्टाचाररूप अनिन्द्य कर्म हैं, वे ही तेरे लिए कर्तव्य हैं, दूसरे निन्दायुक्त कर्म चाहे शिष्ट पुरुषों से किये भी गये हों, तो भी तुझे नहीं करने चाहिएँ। हम गुरुजनों के भी जो शास्त्र से अविरुद्ध कर्म हैं, उन्हीं की उपासना तुझे करनी चाहिए। अदृष्ट फल के लिए उन्हीं का अनुष्ठान करना चाहिए। अर्थात् तेरे लिए वे ही नियमपूर्वक कर्तव्य हैं। उनसे विपरीत कर्म आचार्य से किये जाने पर भी तेरे लिए कर्तव्य नहीं है।

---

१. दैवेति दैवं यज्ञादि पित्र्यं श्राद्धादि।

नो इतराणि। ये के चास्मच्छ्रेयाꣳसो ब्राह्मणाः। तेषां त्वयाऽऽसनेन प्रश्वसितव्यम्। श्रद्धया देयम्। अश्रद्धयाऽदेयम्। श्रिया देयम्। ह्रिया देयम्। भिया देयम्। संविदा देयम्। अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तविकित्सा वा स्यात्।।३।।

उनके विपरीत कर्म (आचार्य के आचरित भी) कर्तव्य नहीं है। जो कोई हमसे (आचार्यत्वादि धर्मों के कारण) श्रेष्ठ ब्राह्मण हैं, उन्हें आसनादि के द्वारा श्रमनिवृत्त करना चाहिए। (दान के प्रसंग आने पर) श्रद्धा से ही देना चाहिये—अश्रद्धा से नहीं, विभूति के अनुसार देना चाहिए, लज्जापूर्वक देना चाहिये, भय मानते हुए देना चाहिये। मैत्री आदि कार्य के निमित्त से देना चाहिये। यदि तुझे (किसी समय किसी श्रौत या स्मार्त) कर्म में संदेह हो या आचार रूप व्यवहार के विषय में संदेह होवे।।३।।

---

[1]ये के च विशेषिता आचार्यत्वादिधर्मैरस्मदस्मत्तः श्रेयांसः प्रशस्यतरास्ते च ब्राह्मणा न क्षत्रियादयस्तेषामासनेनाऽऽसनदानादिना त्वया प्रश्वसितव्यं प्रश्वसनं प्रश्वासः श्रमापनयः तेषां श्रमस्त्वयाऽपनेतव्य इत्यर्थः। [2]तेषां वाऽऽसने [3]गोष्ठीनिमित्ते समुदिते तेषु न प्रश्वासितव्यं [4]प्रश्वासोऽपि न कर्तव्यः। केवलं तदुक्तसारग्राहिणा भवितव्यम्।

किंच यत्किंचिद्देयं तच्छ्रद्धयैव दातव्यम्। अश्रद्धयाऽदेयं न दातव्यम्। श्रिया विभूत्या देयं दातव्यम्। ह्रिया लज्जया च देयम्। भिया च भयेन देयम्। संविदा च।

आचार्यत्वादि धर्मों के कारण हम से भी जो कोई श्रेष्ठ हैं और वे ब्राह्मण भी हैं, क्षत्रिय आदि नहीं हैं, तो उनका आसनादि के द्वारा तुझे आश्वासन करना चाहिए। प्रश्वास शब्द का अर्थ है आश्वासन। अर्थात् तुझे उनके श्रम को निवृत्त करना चाहिये और किसी सभा के लिए उन्हें उच्चासन प्राप्त होने पर मुझे 'दीर्घ श्वास भी' नहीं छोड़ना चाहिए। केवल उनके कथन का सारग्राही तुझे होना चाहिये।

इसके अतिरिक्त तुझे जो कुछ दान करना हो, वह श्रद्धा से ही देना चाहिये, अश्रद्धा से नहीं देना चाहिये। वैभव के अनुसार देना चाहिये, लज्जा पूर्वक देना चाहिये, डरते हुए देना चाहिये तथा मैत्री आदि कार्य के निमित्त से देना चाहिये। फिर इस प्रकार बरतते हुए तुझे यदि किसी समय किसी

---

१. ये के च विशेषिता इति—अत्र अविशेषिता इति युक्तं प्रतीमः। ये के चेत्यस्य व्याख्यानत्वभानात्। यथाश्रुतं तु प्रशस्यतरा इत्यस्यैव व्याख्यानं भविष्यति आचार्यत्वादिधर्मैर्विशेषिता इति। २. सप्तम्यन्तत्वमाश्रित्य व्याचष्टे—तेषां वाऽऽसन इति। आसने उपवेशने समुदिते सतीत्यन्वयः। समुत्पन्ने सतीत्यर्थः। ३. गोष्ठीति—गोष्ठी सभासंलापयोः स्त्रियामिति मेदिनी। ४. प्रश्वासोऽपीति—गोष्ठीविघातकविरुद्धवदनादिचेष्टापीति यावत्।

ये तत्र ब्राह्मणाः संमर्शिनः। युक्ता आयुक्ताः। अलूक्षा धर्मकामाः स्युः। यथा ते तत्र वर्तेरन्। तथा तत्र वर्तेथाः। अथाभ्याख्यातेषु। ये तत्र ब्राह्मणाः संमर्शिनः। युक्ता आयुक्ताः। अलूक्षा धर्मकामाः स्युः। यथा ते तेषु वर्तेरन्। तथा तेषु वर्तेथाः। एष आदेशः।

तो वहाँ पर जो विचारशील, आचार में पूर्णरूप से तत्पर, किसी दूसरे से प्रयुक्त न होने वाले (स्वेच्छा से कर्मपरायण) सरलबुद्धि एवं धर्माभिलाषी ब्राह्मण हों, उसे कर्म या आचार प्रसंग में वे जैसा व्यवहार करें; वैसा ही तुम भी करो। वैसे ही जिन पर संशययुक्त दोष लगाया गया हो, उनके प्रति वहां जो विचारशील, कर्म में सर्वथा नियुक्त, दूसरों की प्रेरणा के बिना ही स्वतः कर्मपरायण सरल हृदय और धर्मकाम ब्राह्मण हों, वे जैसा व्यवहार करें, वैसा तुम भी करो। यह विधि है, यह

संविन्मित्रादिकार्यम्। अथैवं वर्तमानस्य यदि कदाचित्ते तव श्रौते स्मार्ते वा कर्मणि वृत्ते वाऽऽचारलक्षणे विचिकित्सा संशयः स्यात्। ये तत्र तस्मिन्देशे काले वा ब्राह्मणास्तत्र कर्मादौ युक्ता इति व्यवहितेन संबन्धः कर्तव्यः। संमर्शिनो विचारक्षमाः। युक्ता अभियुक्ताः कर्मणि वृत्ते वा। आयुक्ता अपरप्रयुक्ताः। अलूक्षा अरूक्षा अक्रूरमतयः। धर्मकामा अदृष्टार्थिनोऽकामहता इत्येतत्स्युर्भवेयुः। ते यथा येन प्रकारेण ब्राह्मणास्तत्र तस्मिन्कर्मणि वृत्ते वा वर्तेरंस्तथा त्वमपि वर्तेथाः। अथाभ्याख्यातेष्वभ्युक्ता दोषेण संदिह्यमानेन संयोजिताः केनचित्तेषु च यथोक्तं सर्वमुपनयेद्ये तत्रेत्यादि।

एष आदेशो विधिः। एष उपदेशः पुत्रादिभ्यः पित्रादिनाम्। एषा वेदोपनिष-

---

एवं कर्तव्यमर्थमुपदिश्यानुष्ठानकाले समुत्पन्नसंशयनिवृत्त्यर्थं शिष्टाचारः प्रमाणयितव्य इत्याह — अथैवमित्यादिना। अपरप्रयुक्ता इति। स्वतन्त्रा इत्यर्थः। अभ्युक्ता अभिशस्ता इत्यर्थः।।२-४।।

श्रौत कर्म या स्मार्त कर्म अथवा आचरण रूप व्यवहार में संशय उपस्थित हो जाय तो वहाँ पर उस देश या उस काल में जो ब्राह्मण नियुक्त हों, इस प्रकार 'तत्र' इस पद का व्यवधानयुक्त 'युक्ताः' इस पद के साथ अन्वय कर लेना चाहिये और जो विचार क्षम हों, कर्म या आचरण में पूर्णतया तत्पर हों, किसी की प्रेरणा से प्रयुक्त होने वाले नहीं, अपितु स्वेच्छा से प्रवृत्त हों, सरल चित्त हों और अदृष्ट फल की इच्छा वाले अर्थात् इच्छा वश विवेक को नहीं खो बैठे हों, ऐसे ब्राह्मण उस कर्म के आचरण में जैसा बर्ताव करें; वैसा ही तुझे भी करना ही चाहिये। इसी प्रकार अभ्याख्यातों के प्रति अभ्याख्यात अभ्युक्त होना चाहिये। जिन पर कोई संशय युक्त दोष मढ़ा गया हो उनके प्रति जैसा पहले 'ये तत्र' इत्यादि कहा गया है, वैसा ही व्यवहार करना चाहिये

यह विधान है, पुत्रादि के लिये पितादि का यह उपदेश है। यह वेद का रहस्य अर्थात् वेदार्थ

एष उपदेशः। एषा वेदोपनिषत्। एतदनुशासनम्।
एवमुपासितव्यम्। एवमु चैतदुपास्यम्।।४।।

स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यं तानि त्वयोपास्यानि
स्यात्तेषु वर्तेरन्त्सप्त च।।

इति कृष्णयजुर्वेदीयतैत्तिरीयोपनिषदि शीक्षाध्याये
एकादशोऽनुवाकः।।११

अथ शीक्षाध्याये द्वादशोऽनुवाकः

शं नो मित्रः शं वरुणः। शं नो भवत्वर्यमा। शं न
इन्द्रो बृहस्पतिः। शं नो विष्णुरुरुक्रमः। नमो

उपदेश है, यह वेद का रहस्य है, यानी वेदार्थ है और यही ईश्वर का अनुशासन है। ऐसी ही तुझे उपासना करनी चाहिये। इसी प्रकार यह उपासना के लिये है (अर्थात् अनुपास्य नहीं)।।४।

।। इत्येकादशोऽनुवाकः।।

सूर्यदेव हमारे लिये सुखप्रद हो, वरुण देव हमारे लिये सुखद हो, अर्यमा हमारे लिये सुख देने वाला हो, इन्द्र तथा बृहस्पति हमारे लिये शान्तिप्रद हो, पाद वाला विष्णु हमारे लिये सुखदायक

द्वेदरहस्यं वेदार्थ इत्येतत्। एतदेवानुशासनमीश्वरवचनम्। [१]आदेशवाच्यस्य विधेरुक्तत्वात्। सर्वेषां वा [२]प्रमाणभूतानाम[३]नुशासनमेतत्। यस्मादेवं तस्मादेवं यथोक्तं सर्वमुपासितव्यं कर्तव्यम्। एवमु चैतदुपास्यमुपास्यमेव चैतन्नानुपास्यमित्यादरार्थं पुनर्वचनम्।।२-४।।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छंकरभगवतः
कृतौ तैत्तिरीयोपनिषच्छीक्षाध्यायभाष्य एकादशोऽनुवाकः।।११।।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छुद्धानन्दपूज्यपादशिष्यानन्दज्ञानविरचितायां तैत्तिरी-
योपनिषच्छांकरभाष्यटीकायां शीक्षाध्याय एकादशोऽनुवाकः।।११।।

है। यही ईश्वर का वाक्यरूप अनुशासन है अथवा आदेश वाक्य विधि है, ऐसा पहले कहा जा चुका है। इसलिये यह सभी प्रामाणिक उपदेशों का अनुशासन है, जबकि ऐसा है, इसलिये पहले जो कुछ भी कहा गया है, वह सब इसी प्रकार उपासना करने योग्य है। ऐसे ही इसकी उपासना करनी चाहिये। यह उपासना योग्य ही है, अनुपास्य नहीं है। इस प्रकार यह पुनरुक्ति उपासना के आदर के लिये है।।१-४।।

---

१. विध्यर्थकस्य वचनमात्रपरत्वे गमकमाह—आदेशवाच्यस्येति। आदेशपदवाच्यस्येत्यर्थः। २. प्रमाणभूतानामिति—प्रमाणानामिति यावत्। ३. अनुशासनमेतदिति—तैरविरुद्धत्वादेतस्येति भावः।

ब्रह्मणे। नमस्ते वायो। त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि। त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्मावादिषम्। ऋतमवादिषम्। सत्यमवादिषम्। तन्मामावीत्। तद्वक्तारमावीत्। आवीन्माम्। आवीद्वक्तारम्। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।।१।।

सत्यमवादिषं पञ्च च।।
इति कृष्णयजुर्वेदीयतैत्तिरीयोपनिषद शीक्षाध्याये
द्वादशोऽनुवाकः।।१२।।

हो। ब्रह्मस्वरूप वायु को नमस्कार है। हे वायो! तुम्हें नमस्कार है तुम ही प्रत्यक्ष ब्रह्म हो, तुझे ही हमने प्रत्यक्ष ब्रह्म कहा है तुझे ऋत कहा है और तुझे ही सत्य कहा है, तूने मेरी रक्षा की है और ब्रह्म के प्रवक्ता आचार्य की रक्षा की है, मेरी रक्षा की है और वक्ता की भी रक्षा की है।।१।।
त्रिविध ताप की शान्ति हो।
।।इति द्वादशोऽनुवाकः।।

अतीतविद्याप्राप्त्युपसर्गशमनार्थं शान्तिं पठति—शं नो मित्र इति। व्याख्यातमेतत्पूर्वम्।

अत्रैतच्चिन्त्यते विद्याकर्मणोर्विवेकार्थं किं कर्मभ्य एव केवलेभ्यः परं श्रेय उत [1]विद्यासव्यपेक्षेभ्य आहोस्विद्विद्याकर्मभ्यां [2]संहताभ्यां विद्याया वा [3]कर्मापेक्षाया उत केवलाया एव विद्याया इति। तत्र केवलेभ्य एव कर्मभ्यः स्यात्। समस्तवेदार्थज्ञानवतः कर्माधिकारात्। "वेदः कृत्स्नोऽधिगन्तव्यः सरहस्यो द्विजन्मना" (म.स्मृ. २-१६५) इति स्मरणात्।

शं नो मित्र इति। तदपरं ब्रह्म मामपरविद्यार्थिनमावीदरक्षदित्यर्थः।

आद्यानुवाके केवलाया विद्याया निःश्रेयससाधनत्वमुक्तमपि स्फुटीकर्तुं कर्मविधिमुपलभ्य प्रसङ्गात्पुनर्विचारयितुमुपक्रमते — अत्रैतच्चिन्त्यत इत्यादिना। विवेकार्थमिति पृथक्फलत्वज्ञापनार्थमि-

---

मोक्ष साधन पर विचार

पूर्वपक्षः— अब विद्या और कर्म का फलतः विवेक करने के लिये यह विचार किया जाता है कि (१) परम श्रेयरूप मोक्ष की प्राप्ति कर्म से होती है (२) अथवा विद्या की अपेक्षा युक्त कर्म से (३) अथवा परस्पर मिले हुए विद्या और कर्म दोनों से (४) या कर्म की अपेक्षा रखने वाली विद्या से (५) किंवा केवल विद्या से ही मोक्ष मिलता है। उनमें केवल (१) कर्मों से ही परम श्रेयरूप मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है क्योंकि "द्विजाति को रहस्य के सहित सम्पूर्ण वेद का ज्ञान प्राप्त करना

---

१. विद्यासव्यपेक्षेभ्य इति—विद्योपसर्जनेभ्य इति यावत्। २. संहताभ्याम्—समप्रधानाभ्यामित्यर्थः। ३. कर्मापेक्षायाः कर्मोपसर्जनायाः।

अधिगमश्च सहोपनिषदर्थेनाऽऽत्मज्ञानादिना। "विद्वान्यजते" "विद्वान्याजयति" इति च विदुष एव कर्मण्यधिकारः प्रदर्श्यते सर्वत्र। "ज्ञात्वा चानुष्ठानम्" इति च। कृत्स्नश्च वेदः कर्मार्थ इति हि मन्यन्ते केचित्। कर्मभ्यश्चेत्परं श्रेयो नावाप्येत वेदो[1]ऽनर्थकः स्यात्।

न, नित्यत्वान्मोक्षस्य। नित्यो हि मोक्ष इष्यते। कर्मकार्यस्य चानित्यत्वं प्रसिद्धं लोके, कर्मभ्यश्चेच्छ्रेयोऽनित्यं स्यात्तच्चानिष्टम्। "[2]तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते" इतिन्यायानुगृहीतश्रुतिविरोधात्। काम्यप्रतिषिद्धयोरनारम्भादारब्धस्य च कर्मण उपभोगेन क्षयान्नित्यानुष्ठानाच्च प्रत्यवायानुत्पत्तेर्ज्ञाननिरपेक्ष एव मोक्ष इति चेत्। तच्च न। शेषकर्मसंभवात्तन्निमित्तशरीरान्तरोत्पत्तिः प्राप्नोतीति प्रत्युक्तम्। कर्मशेषस्य च

त्यर्थः।'[3]भूतं भव्यायोपदिश्यते' इति न्यायेनाऽऽत्मज्ञानस्यापि कर्मकर्तृसंस्कारतया[4]कर्मविधिशेषत्वाच्छ्रुतस्यापि फलस्या[5]र्थवादमात्रत्वात्कर्मभ्य एव परं श्रेय इति पूर्वः पक्षः।

सिद्धान्तमाह — न नित्यत्वादित्यादिना। यद्यप्यध्ययनविधिप्रयुक्त्या कृत्स्नो वेदार्थ एकेन विचा-

---

चाहिए" इस स्मृति के अनुसार सम्पूर्ण वेद का ज्ञान रखने वाले को ही कर्म का अधिकारी कहा गया है और वेद का ज्ञान उपनिषत् के अर्थ आत्मज्ञान के सहित ही हो सकता है। "विद्वान् यज्ञ करता है" "विद्वान् यज्ञ कराता है।" इत्यादि वाक्यों द्वारा सर्वत्र विद्वान् को ही कर्म में अधिकारी दिखलाया गया है और "जानकर कर्मानुष्ठान करे" ऐसा भी कहा गया है। सम्पूर्ण वेद कर्म के लिए ही है, ऐसा भी कुछ विद्वान् मानते हैं। ऐसी स्थिति में यदि कर्मों से मोक्ष प्राप्त नहीं हुआ तो वेद अनर्थक हो जाएगा।

सिद्धान्तीः— मोक्ष नित्य होने से ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि मोक्ष नित्य माना गया है और जो वस्तु कर्म का कार्य है, उसकी अनित्यता लोक में प्रसिद्ध है। यदि नित्य मोक्ष कर्मों से होता है, ऐसा माना जाय तो अनिष्टापत्ति होने लग जायगी क्योंकि "जैसे कर्मोपार्जित यह लोक नष्ट हो जाता है। (वैसे ही पुण्योपार्जित स्वर्गादि लोक भी काल पाकर नष्ट हो जाते हैं)" इस न्याय युक्त श्रुति के साथ पूर्वोक्त कथन का विरोध आता है। पूर्वपक्षः- काम्य और निषिद्ध कर्मों को न करने से प्रारब्ध कर्मों के भोग द्वारा क्षय हो जाने से तथा नित्य कर्मों के अनुष्ठान द्वारा प्रत्यवाय की अनुत्पत्ति से ज्ञान

---

१. अनर्थक इति— न च स्वर्गेण सार्थक इति शक्यं तस्यैव परं श्रेयोरूपत्वादिति भावः। २. तद्यथेहेत्यादिर्विरोधादित्यन्तः पाठो लिखितपुस्तके नोपलभ्यते तस्मात्प्रक्षिप्त इति भाति। यथाश्रुतस्यासङ्गततत्वाच्च न हि कर्मजन्यस्यानित्यत्वे तदनित्यत्ववचनं विरुध्यत इति स्थितस्य तु गतिश्चिन्त्या। तथाहि— तद्यथेहेत्यादि छां ८-१-६। पठ्यते तत्र यद्यपि कर्मजित इत्येव पाठ उपलभ्यते तथापि नार्थभेदः इयं हि श्रुतिः कर्मफलस्यानित्यत्वं दर्शयन्ती ज्ञानस्यैव फलं श्रेयो नित्यञ्च तदित्यभिप्रैतीति तस्य कर्मजन्यत्वे नियतमनित्यत्वमुक्तश्रुतिविरुद्धमिति। कर्मभ्यश्चेच्छ्रेयो नित्यं स्यादित्यत्र नञोऽश्लेषे तु यथाश्रुतमपि संगच्छत इत्यवधेयम्। ३. भूतं भव्यायोपदिश्यते—सिद्धं साध्यायोपदिश्यते यथा दध्ना जुहुयादिति होमाय दधीत्यर्थः। ४. कर्मकर्तुः संस्कारतयेति पाठः। ५. स्वार्थशून्यत्वात्।

नित्यानुष्ठानेनाविरोधात्क्षयानुपपत्तिरिति च। यदुक्तं समस्तवेदार्थज्ञानवतः कर्माधिकारादित्यादि। तच्च न। श्रुतज्ञानव्यतिरेकादुपासनस्य। श्रुतज्ञानमात्रेण हि कर्मण्यधिक्रियते नोपासनामपेक्षते। उपासनं च श्रुतज्ञानादर्थान्तरं विधीयते मोक्षफलम्। अर्थान्तरप्रसिद्धिश्च स्यात्। "श्रोतव्य" इत्युक्त्वा तद्व्यतिरेकेण "मन्तव्यो निदिध्यासितव्य" (बृ.उ. २-४-५) इति यत्नान्तरविधानान्मनननिदिध्यासनयोश्च प्रसिद्धं श्रवणज्ञानादर्थान्तरत्वम्।

रितव्यस्तथाऽप्यध्ययनविधौ प्रतिवाक्याध्ययनं प्रतिवाक्यार्थविचारं च व्यापारभेदात्तत्प्रयुक्त्याऽभ्युदयकामस्य कर्मोपयोगिवाक्यार्थज्ञानवत्त्वमात्रेण कर्मण्यधिकारसंभवाद्ब्रह्मसाक्षात्कारस्य तत्रानुपयोगित्वान्न समस्तवेदार्थज्ञानवतः कर्माधिकारे प्रमाणमस्तीत्याह — तच्च नेति। यद्यपि चाध्ययनविधिप्रयुक्त्या वेदान्तविचारोऽपि कृतो गुरुकुल एव तथाऽपि न समस्तवेदार्थज्ञानवतोऽधिकारः। उपासनासाध्यस्य [1]ब्रह्मसाक्षात्कारस्य [2]पृथग्भावादित्याह — श्रुतज्ञानेति। श्रुताद्गुरुकुले विचारिताद्वाक्यात्कर्मानुष्ठानोपयोगि यज्ज्ञानं तावन्मात्रेण कर्मण्यधिक्रियते न ब्रह्मसाक्षात्कारफलमुपासनमपेक्षते व्यतिरेकभावादित्यर्थः। अध्ययनविधिव्यापारोपरमेऽनुष्ठेयं तथाभूतं ब्रह्मोपासनमेव नास्ति, मानाभावादिति न वक्तव्यमित्याह — उपासनं चेति। [3]एतच्च [4]कर्ममीमांसान्यायाङ्गीकारमात्रेणोक्तम्। वस्तुतश्च श्रोतव्यविधिप्रयुक्त एवोपनिषद्विचारारम्भो भिन्नाधिकारः। कर्मकाण्डविचारोऽप्यु[5]त्तरविधिप्रयुक्त एवेति [6]प्रकटार्थे प्रतिष्ठितम्।

की अपेक्षा के बिना ही मोक्ष सिद्ध हो जायेगा। यदि ऐसा माने तो। सिद्धान्ती :— ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि संचित कर्मों के शेष रह जाने पर उनके निमित्त अन्य शरीर की उत्पत्ति सिद्ध हो जाती है। ऐसा कहकर पहले हम इस मत का खण्डन कर आये हैं तथा नित्य कर्मों के अनुष्ठान से संचित कर्मों का विरोध न होने के कारण उनका नाश होना सम्भव नहीं है। आपने जो कहा कि समस्त वेद के अर्थ को जानने वाले का ही कर्म में अधिकार होने के कारण (केवल कर्म से ही मोक्ष मिल जायेगा), ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि गुरुकुल में किये गये वाक्य विचाररूप श्रुत ज्ञान से उपासना भिन्न ही है। मनुष्य श्रुत ज्ञान मात्र से ही कर्म में अधिकारी हो जाता है। कर्माधिकार प्राप्त करने के लिये उपासना की अपेक्षा नहीं होती। अतः उपासना श्रुतज्ञान से भिन्न वस्तु ही कही गयी है। ऐसी उपासना मोक्षरूप फल वाली है और यह अर्थान्तर रूप से प्रसिद्ध है क्योंकि 'श्रोतव्यः' इससे भिन्न 'मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' इस प्रकार यत्नान्तर का विधान किया गया है। लोक में श्रवण ज्ञान से मनन और निदिध्यासन में अर्थान्तर प्रसिद्ध ही है।

---

१. ब्रह्मेत्यादि—तथा च वेदा जन्यत्वेऽपि वेदार्थज्ञानत्वमेवास्येति भावः। २. पृथग्भावादिति—वेदजन्यतदर्थज्ञानात्पृथक्त्वादित्यर्थः। ३. एतच्चेति—स्वाध्यायविधिप्रयुक्तस्यैव वेदान्तविचारस्य गुरुकुले संपन्नत्वेन तदर्थज्ञानस्य कर्माधिकारप्रयोजकत्वमिति यावत्। ४. कर्ममीमांसान्यायेति—कर्ममीमांसकानामैवैतन्मतम्। यत्कृत्स्नवेदविचारः स्वाध्यायविधिप्रयुक्त एवेति तदङ्गीकारमात्रेणत्यर्थः। ५. उत्तरविधिप्रयुक्त इति—स्वाध्यायविधिकल्प्यो धर्मविचारविधिरेव तत्रोत्तरविधिरिति भावः। तथा चोक्तम्— "तस्माद्गुरुकुले तिष्ठन् मधुमांसाद्य(दि)वर्जयन्। जिज्ञासेत विरुद्धत्वाद्धर्ममित्यवगम्यत" इति। किंच वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्तीत्यनुशासनवचनादपि कल्पितो विचारविधिरेवेति विभावनीयम्। ६. प्रकटार्थः शारीरकभाष्यव्याख्यानभेदः।

एवं तर्हि विद्यासव्यपेक्षेभ्यः कर्मभ्यः स्यान्मोक्षः। विद्यासहितानां च कर्मणां भवेत्कार्यान्तरारम्भसामर्थ्यम्। यथा स्वतो मरणज्वरादिकार्यारम्भसामर्थ्यानामपि विषदध्यादीनां मन्त्रशर्करादिसंयुक्तानां कार्यान्तरारम्भसामर्थ्यम्, एवं विद्यासहितैः कर्मभिर्मोक्ष आरभ्यत इति चेत्। न। आरभ्यस्यानित्यत्वादित्युक्तो दोषः। वचनादारभ्योऽपि नित्य एवेति चेत्। न। ज्ञापकत्वाद्वचनस्य। वचनं नाम यथाभूतस्यार्थस्य ज्ञापकं नाविद्यमानस्य कर्तृ। न हि वचनशतेनापि नित्यमारभ्यत आरब्धं वाऽविनाशि भवेत्।

एतेन विद्याकर्मणोः संहतयोर्मोक्षारम्भकत्वं प्रत्युक्तम्। विद्याकर्मणी मोक्षप्रति-

---

केवलं कर्म मोक्षसाधनमिति पक्षं निरस्य विद्यासमुच्चितं मोक्षसाधनमिति पक्षान्तरमाशङ्क्य निषेधति – एवं तर्हीत्यादिना। "न स पुनरावर्तते" इति वचनादारभ्योऽपि मोक्षो नित्य इति न शक्यं वक्तुम्। प्रसिद्धपदार्थयोग्यत्वमुपादाय वचनस्य संसर्गज्ञापकत्वात्। न चाऽऽरभ्यस्य नित्यत्वे योग्यत्वं प्रसिद्धम्। [1]अन्यथा वचनस्य कारकत्वप्रसङ्गात्। "[2]अन्धो मणिमविन्दत्" [3]इत्यादिष्वपि [4]योग्यताकल्पनप्रसङ्गादित्याह – न ज्ञापकत्वादित्यादिना।

कर्म प्रधानं विद्या चोपसर्जनमिति समुच्चयं निरस्य समसमुच्चयेऽप्यतिदिशति – एतेनेति। अनित्यत्वादिदोषप्रसङ्गेनेत्यर्थः। मोक्षेति। मोक्षस्य प्रतिबन्धे हेतुरविद्याऽधर्मादिस्तन्निवर्तके विद्या-

---

पूर्वपक्षः:— (२) तव तो इस प्रकार विद्या की अपेक्षा से युक्त कर्मों द्वारा मोक्ष प्राप्त हो सकता है क्योंकि ज्ञान के सहित कर्म में कार्यान्तर के आरम्भ का सामर्थ्य हो जायगा। जैसे मरण और ज्वरादि कार्य के आरम्भ में स्वतः समर्थ होने पर भी विष एवं दधि आदि में मन्त्र और शर्करादि से युक्त होने पर कार्यान्तर के आरम्भ का सामर्थ्य हो जाता है, इसी प्रकार विद्या सहित कर्मों द्वारा मोक्ष मिल सकता है, यदि ऐसा मान लिया जाय तो? **सिद्धान्तीः**— ऐसा मानना ठीक नहीं है क्योंकि आरम्भ होने वाली वस्तु अनित्य हुआ करती है। ऐसा कहकर इस पक्ष में दोष दिया जा चुका है। **पूर्वपक्ष**:— "(न स पुनरावर्तते इत्यादि)" वाक्य से आरभ्यमाण मोक्ष भी नित्य ही सिद्ध होता है। **सिद्धान्ती**:— ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि वचन ज्ञापक-मात्र होता है। यथार्थ अर्थ का बोधक ही वचन कहा गया है, वह किसी अविद्यमान पदार्थ को उत्पन्न नहीं कर सकता। सैकड़ों वचनों द्वारा भी नित्य वस्तु का आरम्भ होना सिद्ध नहीं हो सकता और न आरम्भ होने वाली वस्तु नित्य हो सकती है।

इससे समुच्चित विद्या और कर्म द्वारा मोक्ष आरम्भकत्वरूप (३) तृतीय विकल्प का भी प्रति-

---

१. अन्यथेति—योग्यतोत्पादकत्वे। अप्रसिद्धयोग्यताकल्पकत्वे वेत्यर्थः। २. अन्धो मणिमविध्यदिति पाठः। ३. इत्यादिष्विति—तथा च योगभाष्यधृतोऽयं श्लोकः "अन्धो मणिमविन्दत तमनङ्गुलिरावयत्। अग्रीवस्तं प्रत्यमुञ्चदजिह्वः पर्यपूजयदि"ति।। तमजिह्वोऽभ्यपूजयदिति पाठः। वस्तुतस्तैत्तिरीयारण्यके इयमृगेवं पठिता। तथाहि—"अन्धो मणिमविन्दत् तमनङ्गुलिरावयत्। अग्रीवः प्रत्यमुञ्चत् तमजिह्वा असश्चत" १-११-११ इति। "अपाणिपादो जवनो ग्रहीते"तिवदात्मपरत्वेन च व्याख्याता तत्र सायणाचार्यैः। ४. योग्यतेति—यथाश्रुतार्थोपपत्तय इत्यादिः।

बन्धहेतुनिवर्तके इति चेत्। न। कर्मणः फलान्तरदर्शनात्। उत्पत्तिसंस्कारविकाराप्तयो हि फलं कर्मणो दृश्यते। उत्पत्त्यादिफलविपरीतश्च मोक्षः। गतिश्रुतेराप्य इति चेत्। [1]सूर्यद्वारेण "तयोर्ध्वमायन्" (क.उ. २-३-१६) इत्येवमादिगतिश्रुतिभ्यः प्राप्यो मोक्ष इति चेत्। न। सर्वगतत्वाद्गन्तृभिश्चानन्यत्वादाकाशादिकारणत्वात्सर्वगतं ब्रह्म। ब्रह्माव्यतिरिक्ताश्च सर्वे विज्ञानात्मानः। अतो नाऽऽप्यो मोक्षः। गन्तुरन्यद्विभिन्नदेशं च भवति गन्तव्यम्। न हि येनैवाव्यतिरिक्तं यत्तत्तेनैव गम्यते। तदनन्यत्वप्रसिद्धिश्च, "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्" (तै.२-६) "क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि" (गी- १३-२) इत्येवमादिश्रुतिस्मृतिशतेभ्यः।

गत्यैश्वर्यादिश्रुतिविरोध इति चेत्। अथापि स्याद्यद्यप्राप्यो मोक्षस्तदा गतिश्रुतीनां "स एकधा" (छा. उ. ७-२६-२) "स यदि पितृलोककामो भवति" (छा. उ. ८-२-१) "स्त्रीभिर्वा यानैर्वा" (छा. उ. ८-१२-३) इत्यादिश्रुतीनां

कर्मणी न स्वरूपोत्पादके। ततः स्वरूपावस्थानस्य नित्यत्वम्। [2]प्रध्वंसस्य च कृतकस्यापि नित्यत्वं प्रसिद्धमित्यर्थः। "भिद्यते हृदयग्रन्थिः" इत्यादिश्रुतेः। केवलविद्यासाध्यैवा[3]विद्यानिवृत्तिः। न तत्र विद्यायाः सहकार्यपेक्षा। कर्मफलं त्वन्यदेव प्रसिद्धमित्याह — न कर्मण इति। उत्पत्तिः पुरोडाशादेः। संस्कारो व्रीह्यादेः। विकारः सोमस्य। आप्तिर्वेदस्य। कर्मफलं प्रसिद्धम्। आत्मस्वरूपस्य तु मोक्षस्यानादित्वादनाधेयातिशयत्वादविकार्यत्वान्नित्याप्तत्वाच्च कर्मफलाद्वैपरीत्यमित्यर्थः। गतिश्रुतेरिति। अर्चिरादिगतिश्रवणाद्ब्रह्माण्डाद्बहिस्थितब्रह्मप्राप्तिर्मोक्षः। ततो नित्याप्तत्वमसिद्धमित्यर्थः। गत्वा प्राप्तिः किं संयोगलक्षणा तादात्म्यलक्षणा वा, नोभयथाऽपीत्याह — न सर्वगतत्वादिति।

गत्यादिश्रुतेस्तात्पर्यं शङ्कापूर्वकं दर्शयति — गत्यैश्वर्येत्यादिना। समुच्चयमभ्युपगम्य कर्मकार्यं

षेध कर दिया गया। विद्या और कर्म ये दोनों मोक्ष के प्रतिबन्धक कारणों को निवृत्त करते हैं; मोक्ष को उत्पन्न नहीं करते। अतः कृतिजन्य प्रध्वंसाभाव की भाँति प्रतिबन्धक की निवृत्ति नित्य सिद्ध हो जायगी, यदि ऐसा कहो तो, यह भी ठीक नहीं क्योंकि कर्म का फल भिन्न ही देखा गया है। "उत्पत्ति, संस्कार, विकार और आप्ति ये कर्म के फल देखे गये हैं।। मोक्ष उत्पत्त्यादि फल से विपरीत है। पूर्वपक्षः— गति प्रतिपादक श्रुतियों से तो मोक्ष आप्य सिद्ध हो जाता है।"सूर्य द्वार से" उस सुषम्ना नाड़ी द्वारा ऊर्ध्व लोकों को जाने वाला पुरुष अमरत्व प्राप्त करता है" इत्यादि गति प्रतिपादक श्रुतियों से मोक्ष प्राप्य सिद्ध होता है, ऐसा यदि कहें तो? सिद्धांतीः— ऐसा कहना भी ठीक नहीं क्योंकि ब्रह्म सर्वव्यापक गमन करने वालों से अभिन्न और आकाशादि का भी कारण होने से सर्वगत है तथा सभी विज्ञानात्मा (जीव) ब्रह्म से अभिन्न है। अतः मोक्ष को आप्य नहीं कह सकते। गमन करने वाले से पृथक् अन्य देश में ही गन्तव्य हुआ करता है। जो जिससे अभिन्न होता है, वह उसी से गन्तव्य नहीं होता। जीव ब्रह्म की अनन्यता तो "उसे रचकर वह ब्रह्म उसी में प्रविष्ट हो गया" "सभी क्षेत्रों में तू क्षेत्रज्ञ भी मुझको ही जान" इत्यादि सैकड़ों श्रुति—स्मृतियों से सिद्ध होती है।

पूर्वपक्षः— तब तो गति और ऐश्वर्य का प्रतिपादन करने वाली श्रुतियों से विरोध होने लग

---

१. सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति मु.उ.१-२-११। २. नन्वेवमपि प्रतिबन्धनिवृत्तेरेव जन्यत्वेनानित्यत्वात्पुनः प्रतिबन्धे बन्धसंभवादेवानित्यत्वं तदवस्थमेव मोक्षस्य प्रसज्येतेत्याशङ्क्याऽऽह—प्रध्वंसस्य चेत्यादि। ३. अविद्यानिवृत्तिरिति—एतेनाविद्यैव मोक्षप्रतिबन्धिका न त्वधर्मादिस्तस्य विद्योदयमात्रप्रतिबन्धकत्वादिति ध्वन्यत इत्यवधेयम्।

च कोपः स्यादिति चेत्। न कार्यब्रह्मविषयत्वात्तासाम्। कार्ये हि ब्रह्मणि स्त्र्यादयः स्युर्न कारणे "एकमेवाद्वितीयं" (छा. उ. ६-२-१) "यत्र नान्यत्पश्यति" (छा. उ. ७-२४-१)- "तत्केन कं पश्येत्" (बृ. उ. २-४-१४) इत्यादिश्रुतिभ्यः। विरोधाच्च विद्याकर्मणोः समुच्चयानुपपत्तिः। [1]प्रविलीनकर्त्रादिकारकविशेषतत्त्वविषया हि विद्या [2]तद्विपरीतकारकसाध्येन कर्मणा विरुध्यते। न ह्येकं वस्तु परमार्थतः कर्त्रादिविशेषवत्तच्छून्यं चेत्युभयथा द्रष्टुं शक्यते। अवश्यं ह्यन्यतरन्मिथ्या स्यादन्यतरस्य च मिथ्यात्वप्रसङ्गे युक्तं यत्स्वाभाविकाज्ञान[3]विषयस्य द्वैतस्य मिथ्यात्वम्, "यत्र हि द्वैतमिव भवति" (बृ. उ. २-४-१४) "मृत्योः स मृत्युमाप्नोति" (बृ. उ. ४-४-१९) "अथ यत्रान्यत्पश्यति तदल्पम्" (छा. उ. ७-२४-१) अन्योऽसावन्योऽहमस्मि" (बृ. उ. १-४-१०) "उदरमन्तरं कुरुते अथ तस्य भयं भवति" (तै. उ. २-७) इत्यादि श्रुतिशतेभ्यः। सत्यत्वं चैकत्वस्यैकधैवानुद्रष्टव्यम्। "एकमेवाद्वितीयम्" (छा. उ. ६-२-१) "ब्रह्मैवेदꣳ सर्वम्" "आत्मैवेदꣳ सर्वम्" (छा. उ. ७-२५-२) इत्यादिश्रुतिभ्यः। न च संप्रदानादिकारकभेदादर्शने कर्मोपपद्यते। अन्यत्वदर्शनापवादश्च विद्याविषये सहस्रशः श्रूयते। अतो विरोधो विद्याकर्मणोः। अतश्च समुच्चयानुपपत्तिः।

किंचिन्मोक्षे न संभवतीत्युक्तम्। सोऽपि न संभवतीत्याह — विरोधाच्चेत्यादिना।

जायगा। यदि मोक्ष अप्राप्य ही है, तो "वह एकरूप होता है" "वह यदि पितृलोक की कामना वाला होता है।" "वह स्त्री और यानों के साथ रमण करता है" इत्यादि गति प्रतिपादक श्रुतियों का बाध हो जायगा। सिद्धान्तीः— ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि उन श्रुतियों का प्रतिपाद्य विषय कार्य ब्रह्म है। स्त्री आदि कार्य ब्रह्म में ही हो सकती हैं, कारण ब्रह्म में नहीं। ऐसा "एक ही अद्वितीय ब्रह्म है" "जहाँ किसी दूसरे को देखता नहीं" "तब किसके द्वारा किसे देखे"। इत्यादि श्रुतियों से सिद्ध होता है। इसके अतिरिक्त विद्या और कर्म का विरोध होने के कारण भी उनका समुच्चय बतलाना असंगत है क्योंकि जिसमें कर्ता-करणादि कारक विशेषों का सर्वथा. लय हो जाता है, उस ब्रह्मतत्त्व को विषय करने वाली विद्या अपने से विपरीत साधन-साध्य कर्म के विरुद्ध है। एक ही वस्तु परमार्थतः कर्ता आदि विशेष से युक्त और उससे रहित दोनों ही रूप में देखी नहीं जा सकती, उन दोनों में एक पक्ष अवश्य मिथ्या होगा ही। इस प्रकार किसी एक पक्ष में मिथ्यात्व का प्रसंग होने पर उस द्वैत को ही मिथ्या कहना उचित होगा, जो स्वभाव से ही अज्ञान का विषय है। ऐसा ही "जहाँ द्वैत के समान होता है" "वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त करता है" "जहाँ अन्य को देखता है, वह परिच्छिन्न है" "वह अन्य है, मैं अन्य हूँ" "जो थोड़ा भी भेद करता है, उसे अवश्य भय होता है" इत्यादि सैकड़ों श्रुतियों से सिद्ध होता है तथा "एकरूप से ही देखना चाहिए" "एक ही अद्वितीय तत्त्व है" "यह सब ब्रह्म ही है" "यह सब आत्मा ही है" इत्यादि श्रुतियों से एकत्व का सत्यत्व सिद्ध होता है। सम्प्रदानादि कारक भेद को न देखने पर कर्म का होना सम्भव नहीं है। ज्ञान के प्रसंग में भेद दर्शन की निन्दा सैकड़ों श्रुतियों में सुनी जाती है। अतः विद्या और कर्म का विरोध है। इसलिए भी उनका समुच्चय कहना असंगत है।

---

१. बाधितेति यावत्। २. तद्विपरीतेति—तच्छब्दः प्रविलीनपरामर्शी। तथा चाबाधितकारकसाध्येनेत्यर्थः।
३. कार्यस्य।

तत्र यदुक्तं संहताभ्यां विद्याकर्मभ्यां मोक्ष इति। अनुपपन्नं तत्। विहितत्वात्कर्मणां श्रुतिविरोध इति चेत्। यद्युपमृद्य कर्त्रादिकारकविशेषमात्मैकत्वविज्ञानं विधीयते सर्पादिभ्रान्तिविज्ञानोपमर्दकरज्ज्वादिविषयविज्ञानवत्। [1]प्राप्तः कर्मविधिश्रुतीनां निर्विषयत्वाद्विरोधः। विहितानि च कर्माणि। स च विरोधो न युक्तः। प्रमाणत्वाच्छ्रुतीनामिति चेन्न पुरुषार्थोपदेशपरत्वाच्छ्रुतीनाम्।

विद्योपदेशपरा तावच्छ्रुतिः संसारात्पुरुषो मोक्षयितव्य इति संसारहेतोरविद्याया विद्यया निवृत्तिः कर्तव्येति विद्याप्रकाशकत्वेन प्रवृत्तेति न विरोधः। एवमपि कर्त्रादिकारकसद्भावप्रतिपादनपरं शास्त्रं विरुध्यत एवेति चेन्न। यथा प्राप्तमेव कारकास्तित्वमुपादायोपात्तदुरितक्षयार्थं कर्माणि विदधच्छास्त्रं मुमुक्षूणां फलार्थिनां च फलसाधनं न कारकास्तित्वे व्याप्रियते। उपचितदुरित[2]प्रतिबन्धस्य हि विद्योत्पत्तिर्नावकल्पते। तत्क्षये

यदि कर्त्रादिकारकभेदस्य सत्यत्वांशमपबाध्य ब्रह्मज्ञानमुपदिश्यते तदा मिथ्यार्थत्वात्कर्मविधीनामप्रामाण्यं स्यादित्याह — विहितत्वादिति। शङ्कां विवृणोति — यदीत्यादिना। अध्ययनविधिगृहीतानां श्रुतीनां पुरुषार्थोपदर्शकत्वेन प्रामाण्यं वक्तव्यम्। न तु भेदस्य सत्यत्वेन। ततः प्रसिद्धिसिद्धं कारकादिभेदमर्थक्रियासमर्थमादाय प्रवृत्तानां प्रामाण्यं न विरुध्यत इत्याह — न पुरुषार्थेति।

संग्रहवाक्यं विवृणोति — विद्योपदेशपरा तावदित्यादिना।

ऐसी परिस्थिति में पहले जो आपने कहा था कि समुच्चित विद्या और कर्म से मोक्ष होता है, वह असंगत सिद्ध हुआ। पूर्वपक्षः— कर्म श्रुति विहित होने के कारण आपके पक्ष में भी श्रुति से विरोध उपस्थित होता ही है। यदि सर्पादि भ्रान्ति जनित ज्ञान का बाधक रज्ज्वादि विषयक ज्ञान के समान कर्ता आदि कारक विशेष को बाध करके ही आत्मैकत्व के ज्ञान का विधान किया जाता है, तो कोई विषय न रहने के कारण कर्म विधायक श्रुतियों का उन विद्या विधायक श्रुतियों से विरोध उपस्थित होगा ही कर्मों का विधान तो किया ही गया है और श्रुतियाँ सभी प्रामाणिक हैं। इसलिए पूर्वोक्त विरोध कहना उचित नहीं जान पड़ता है। यदि ऐसा कहें तो, सिद्धान्तीः— यह भी ठीक नहीं है क्योंकि श्रुतियाँ परम पुरुषार्थ का उपदेश करने में तत्पर हैं।

श्रुति ज्ञान के उपदेश में तत्पर है, उसे संसार से पुरुष को मुक्त करना अभीष्ट है। इसके लिये संसार की हेतुभूता अविद्या को विद्या द्वारा निवृत्त करना आवश्यक है। अतः विद्या प्रकाशक रूप से प्रवृत्त होने वाली श्रुति को मान लेने पर कोई विरोध नहीं आता। पूर्वपक्षः— पर ऐसा मानने पर भी कर्तादि कारक के सद्भाव प्रतिपादक शास्त्र तो उससे विरुद्ध पड़ ही जायगा। यदि ऐसा कहें तो ऐसी बात नहीं है। स्वभावतः प्राप्त कारकों के अस्तित्व को स्वीकार कर संचित पापों के क्षय के लिये कर्मों का विधायक शास्त्र मुमुक्षुओं और फलार्थियों को फल की प्राप्ति कराने का साधन है, वह शास्त्र कारकों का अस्तित्व सिद्ध करने में प्रवृत्त नहीं होता। जिस पुरुष का संचित पापरूप प्रतिबन्ध रहता है, उसे ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती किन्तु उसके नष्ट होने पर ही ज्ञान उत्पन्न होता है। तत्पश्चात्

---

१. प्राप्तस्तर्हीति शेषः। २. प्रतिबद्धस्येति पाठः।

च विद्योत्पत्तिः स्यात्ततश्चाविद्यानिवृत्तिस्तत आत्यन्तिकः संसारोपरमः।

अपि चानात्मदर्शिनो ह्यनात्मविषयः कामः। कामयमानश्च करोति कर्माणि। ततस्तत्फलोपभोगाय शरीराद्युपादानलक्षणः संसारः। तद्व्यतिरेकेणाऽऽत्मैकत्वदर्शिनो विषयाभावात्कामानुपपत्तिः आत्मनि चानन्यत्वात्कामानुपपत्तौ स्वात्मन्यवस्थानं मोक्षः, इत्यतोऽपि विद्याकर्मणोर्विरोधः।

विरोधादेव च विद्या मोक्षं प्रति न कर्माण्यपेक्षते। स्वात्मलाभे तु पूर्वोपचित-प्रतिबन्धापनयद्वारेण विद्याहेतुत्वं प्रतिपद्यन्ते कर्माणि नित्यानी[१]ति। अत एवास्मिन्प्रकरण उपन्यस्तानि कर्माणीत्यवोचाम। एवं चाविरोधः कर्मविधिश्रुतीनाम्। अतः केवलाया एव विद्यायाः परं श्रेय इति सिद्धम्।

एवं तर्ह्याश्रमान्तरानुपपत्तिः। कर्मनिमित्तत्वाद्विद्योत्पत्तेः। गार्हस्थ्ये च विहि-

---

पूर्वं सत्यमिथ्याविषयत्वेन विद्याकर्मणोर्विरोधमादाय समुच्चयो निरस्तः। इदानीं काम्यकामि-विषयत्वेन विरोधमाह — अपि चेत्यादिना।

समसमुच्चयं निरस्य गुणप्रधानभावेनापि समुच्चयं निरस्यति — विरोधादेव चेति। विद्या चेत्कर्माणि स्वफले नापेक्षते विरुद्धत्वात्त्रिदण्डिधर्म इवर्तुगमनं कथं तर्हि विद्यासंनिधाने कर्मणां पाठ इत्यत आह — स्वात्मलाभे त्विति। कर्मणां विद्यासाधनत्वं श्रुत्वा गार्हस्थ्यमेवैकमनुष्ठेयमिति [२]प्रत्यवतिष्ठन्ते [३]कर्मजडाः। एवं तर्हीति। श्रुतिस्मृतिष्वाश्रमान्तराणामपि विहितत्वाविशेषात्तदीयकर्मसु कर्मत्वाविशे-

---

अविद्या नष्ट होती है एवं उसके बाद ही संसार का आत्यन्तिक अभाव होता है।

इसके अतिरिक्त अनात्मदर्शी को ही अनात्म वस्तु सम्बन्धिनी कामना होती है। ऐसी कामना वाला पुरुष ही कर्मों को करता है। इसीलिये उन कर्मों का फल भोगने के लिये उसे शरीरादि ग्रहणरूप संसार प्राप्त हो जाता है। इसके विपरीत आत्मैकत्वदर्शी पुरुष की दृष्टि में विषयों का अभाव हो जाने के कारण उसे उन विषयों की कामना भी उत्पन्न नहीं होती। अपने से अभिन्न होने के कारण आत्मविषयक कामनादि नहीं होती। इसीलिये अपने आत्मस्वरूप में स्थित हो जाना रूप मोक्ष सिद्ध ही है। इसलिये भी ज्ञान और कर्म का विरोध है।

विरोध होने के कारण ज्ञान मोक्ष के प्रति कर्म की अपेक्षा नहीं करता है। किन्तु आत्मलाभ के लिये पूर्व संचित पापरूप प्रतिवन्ध की निवृत्ति द्वारा नित्यकर्म ज्ञान प्राप्ति में हेतु अवश्य हो जाते हैं। इसीलिये इस प्रसंग में कर्मों का उल्लेख देखा जाता है। ऐसा हम पहले भी कह आये हैं। इस प्रकार भी कर्म विधायक श्रुतियों का ब्रह्मविद्या बोधक श्रुतियों के साथ विरोध नहीं है। अतः केवल विद्या से ही परम श्रेय रूप मोक्ष प्राप्त होता है। यह बात सिद्ध हुई।

पूर्वपक्षः— यदि ऐसी बात है तो गृहस्थ आश्रम से भिन्न आश्रमों का अस्तित्व सिद्ध नहीं हो सकेगा क्योंकि कर्म के निमित्त से विद्या की उत्पत्ति होती है और कर्मों का विधान केवल गृहस्थ के

---

१. इति सिद्धान्त इति शेषः। २. प्रत्यवतिष्ठन्ते—पूर्वपक्षयन्तीति यावत्। ३. कर्मजडाः—कर्मैकश्रद्धत्वेन तत्त्वविवेकविकला इति यावत्।

तानि कर्माणीत्यैकाश्रम्यमेव। अतश्च यावज्जीवादिश्रुतयोऽनुकूलतराः। न। कर्मानेकत्वात्। न ह्यग्निहोत्रादीन्येव कर्माणि। ब्रह्मचर्यं तपः सत्यवदनं शमो दमोऽहिंसेत्येवमादीन्यपि कर्मणीतराश्रमप्रसिद्धानि विद्योत्पत्तौ साधकतमान्यसंकीर्णत्वाद्विद्यन्ते ध्यानधारणादिलक्षणानि च। वक्ष्यति च—"तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व" (तै.उ. ३-२) इति। जन्मान्तरकृतकर्मभ्यश्च प्रागपि गार्हस्थ्याद्विद्योत्पत्तिसंभवात्,कर्मार्थत्वाच्च गार्हस्थ्यप्रतिपत्तेः कर्मसाध्यायां च विद्यायां सत्यां, गार्हस्थ्यप्रतिपत्तिरनर्थिकैव। लोकार्थत्वाच्च पुत्रादीनाम्। पुत्रादिसाध्येभ्यश्चायं लोकः पितृलोको देवलोक इत्येतेभ्यो व्यावृत्तकामस्य नित्यसिद्धात्मलोकदर्शिनः कर्माणि प्रयोजनमपश्यतः कथं प्रवृत्तिरुपपद्यते। प्रतिपन्नगार्हस्थ्यस्यापि विद्योत्पत्तौ विद्यापरिपाकाद्विरक्तस्य कर्मसु प्रयोजनमपश्यतः कर्मभ्यो निवृत्तिरेव स्यात्। "प्रव्रजिष्यन्वा अरेऽहमस्मात्स्थानादस्मि" (बृ.उ. ४-५-२) इत्येवमादिश्रुतिलिङ्गदर्शनात्। कर्म प्रति श्रुतेर्यत्नाधिक्यदर्शनादयुक्तमिति चेदग्निहोत्रादिकर्म प्रति श्रुतेरधिको यत्नो महां-

---

षाच्च [1]ग्राम्यधर्मरागिणामेवैतच्चोद्यमित्याह — न कर्मानेकत्वादिति। असंकीर्णत्वादिति। हिंसाद्यमिश्रितत्वादित्यर्थः। इतश्च कर्मणो विद्यासाधनत्वेऽपि न गार्हस्थ्यमावश्यकमित्याह — जन्मान्तरेति। कामिनां गार्हस्थ्यस्यानुष्ठेयत्वेऽपि न सर्वैरनुष्ठेयत्वमित्यत्र हेत्वन्तरमाह — लोकार्थत्वाच्चेत्यादिना। गार्हस्थ्यस्यानावश्यकत्वेन वैकल्पिकमनुष्ठानमुक्तं तत्रातुल्यबलत्वेन विकल्पमाक्षिपति — कर्म प्रति श्रुतेरिति।

लिये ही किया गया है। अतः इससे एकाश्रमत्व की सिद्धि हो जाती है। इसीलिये "जीवन पर्यन्त अग्निहोत्र करें" इत्यादि श्रुतियाँ अत्यन्त अनुकूल हो जाती हैं। सिद्धान्तीः— ऐसी बात नहीं है क्योंकि कर्म अनेक हैं। केवल अग्निहोत्रादि कर्म हैं, ऐसी बात नहीं अपितु तप, सत्य भाषण, शम, दम और अहिंसा आदि अन्य कर्म भी दूसरे आश्रमों के लिये प्रसिद्ध ही हैं, वे तथा हिंसादि दोषों से रहित ध्यान-धारणादिरूप कर्म विद्या की उत्पत्ति में सर्वोत्तम साधन हैं। "तप के द्वारा ब्रह्म को जानने की इच्छा कर" इस वाक्य से आगे यही कहेंगे। जन्मान्तरीय कर्मों से अन्तःशुद्धि हो जाने पर तो गृहस्थाश्रम स्वीकार करने से पहले ही ज्ञान की उत्पत्ति होना सम्भव है क्योंकि गृहस्थाश्रम को केवल कर्मों के लिये स्वीकार करता है, अतः कर्म साध्य ज्ञान की प्राप्ति हो जाने पर गृहस्थाश्रम की स्वीकृति व्यर्थ ही हो जायेगी। इसके अतिरिक्त पुत्रादि साधन लोकों की प्राप्ति के लिये है किन्तु पुत्रादि साधनों से साध्य यह लोक, पितृलोक एवं देवलोकादि से जिसकी कामना निवृत्त हो चुकी है, नित्य सिद्ध आत्मा का साक्षात्कार करने वाले एवं कर्मों में कोई प्रयोजन न देखने वाले उस ज्ञानी को कर्मों में किस प्रकार प्रवृत्ति हो सकती है? गार्हस्थ्य स्वीकार करने वाले को भी ज्ञान की उत्पत्ति हो जाने पर ज्ञान के परिपाक से विषयों में वैराग्य हो जाता ही है। उस समय कर्मों में अपना कोई प्रयोजन न देखकर उस ब्रह्मज्ञानी गृहस्थ की भी कर्मों से निवृत्ति हो ही जायेगी। इस विषय में "अरी मैत्रेयी! अब मैं इस स्थान से ऊपर उठकर संन्यास ग्रहण करना चाहता हूँ" इत्यादि श्रुतिरूप लिंग भी देखा जाता है। पूर्वपक्षः— कर्म के प्रति श्रुति का अधिक प्रयत्न देखने से आप की उपर्युक्त बात ठीक नहीं जान पड़ती है क्योंकि अग्निहोत्रादि

---

१. मैथुनं ग्राम्यधर्मः।

श्च कर्मण्यायासोऽनेकसाधनसाध्यत्वादग्निहोत्रादीनाम्। तपोब्रह्मचर्यादीनां चेतराश्रमकर्मणां गार्हस्थ्येऽपि समानत्वादल्पसाधनापेक्षत्वाच्चेतरेषां न युक्तस्तुल्यवद्विकल्प आश्रमिभिस्तस्येति चेन्न। जन्मान्तरकृतानुग्रहात्।

यदुक्तं कर्मणि श्रुतेरधिको यत्न इत्यादि। नासौ दोषः। यतो जन्मान्तर-कृतमप्यग्निहोत्रादिलक्षणं कर्म ब्रह्मचर्यादिलक्षणं चानुग्राहकं भवति विद्योत्पत्तिं प्रति। येन जन्मनैव विरक्ता दृश्यन्ते केचित्। केचित्तु कर्मसु प्रवृत्ता अविरक्ता विद्याविद्वेषिणः। तस्माज्जन्मान्तरकृतसंस्कारेभ्यो विरक्तानामाश्रमान्तरप्रतिपत्तिरेवेष्यते। कर्मफलबाहुल्याच्च। पुत्रस्वर्गब्रह्मवर्चसादिलक्षणस्य कर्मफलस्यासंख्येयत्वात्। तत्प्रति च पुरुषाणां काम-बाहुल्यात्तदर्थः श्रुतेरधिको यत्नः कर्मसूपपद्यते। आशिषां बाहुल्यदर्शनादिदं मे स्यादिदं मे स्यादित्युपायत्वाच्च। उपायभूतानि हि कर्माणि विद्यां प्रतीत्यवोचाम। [1]उपायेऽधिको यत्नः कर्तव्यो [2]नोपेये।

जन्मान्तरकृतानुग्रहादिति परिहारभाष्यं विवृणोति — यदुक्तमित्यादिना। कर्मणि यत्ना-धिक्यस्यान्यथासिद्धत्वाद्विकल्पविघातकत्वं न संभवतीत्यर्थः।

कर्म के प्रति श्रुति का अधिक प्रयत्न है और कर्मानुष्ठान में परिश्रम भी अधिक होता है। अग्निहोत्रादि कर्म अनेक साधनों से सिद्ध होने वाले हैं। दूसरे आश्रमों के कर्म, तप और ब्रह्मचर्यादि गृहस्थाश्रम में भी अन्य के समान ही कर्तव्य हैं और अल्प साधन की अपेक्षा भी रखते हैं। अतः अन्य आश्रम वालों के साथ गृहस्थाश्रम वालों को समान सा मानना उचित नहीं जान पड़ता। ऐसा यदि कहें तो, सिद्धान्तीः— ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि उनके ऊपर जन्मान्तर का अनुग्रह होता है।

आपने जो कहा कि कर्म के प्रति श्रुति का जो विशेष प्रयत्न है इत्यादि वह कोई दोष नहीं है क्योंकि जन्मान्तरीय अग्निहोत्रादि कर्म एवं ब्रह्मचर्यादि साधन ज्ञान उत्पत्ति के प्रति अनुग्राहक होता है। इसीलिये कुछ लोग जन्म से ही विरक्त देखे जाते हैं। इसके विपरीत दूसरे कर्म में तत्पर वैराग्य शून्य एवं ज्ञान के विरोधी भी दीख पड़ते हैं। अतः जन्मान्तरीय संस्कारों के कारण विरक्त पुरुषों के लिये गृहस्थाश्रम से भिन्न आश्रमों को स्वीकार करना ही इष्ट है। कर्म फलों की बहुलता होने के कारण भी (श्रुति में उनका विस्तार देखा जाता है) पुत्र, स्वर्ग एवं ब्रह्मतेज आदि कर्मों के फल असंख्य होने के कारण और उनके लिये पुरुषों की कामनाओं की बहुलता होने से भी कर्मों के प्रति श्रुति का अधिक प्रयत्न होना युक्ति-युक्त ही है क्योंकि 'मुझे यह मिले, मुझे यह मिले' इस प्रकार कामनाओं का बाहुल्य भी देखा जाता है, साथ ही कर्म ज्ञान की उत्पत्ति में उपाय है ऐसा हम पहले कह आये हैं और प्रयत्न उपाय में ही अधिक करना चाहिये, उपेय में नहीं। अतः उपायरूप होने के कारण भी कर्म में श्रुति का विशेष प्रयत्न उचित ही है।

पूर्वपक्षः— कर्म के निमित्त से प्राप्त होने वाले ज्ञान के लिये अन्य प्रयत्न व्यर्थ ही सिद्ध होता है। यदि कर्मों के द्वारा पूर्व संचित पापरूप प्रतिबन्ध के नाश होने पर ज्ञान की उत्पत्ति होती है तो

---

१. उपायः कर्माणि गृहिकर्माणि वा। २. उपेयं ज्ञानं साधारणानि सत्यादिकर्माणि वा।

शं नो मित्रः शं वरुणः। शं नो भवत्वर्यमा। शं न इन्द्रो बृहस्पतिः। शं नो विष्णुरुरुक्रमः। नमो ब्रह्मणे। नमस्ते वायो। त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि। त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि। ऋतं वदिष्यामि। सत्यं वदिष्यामि। तन्मामवतु। तद्वक्तारमवतु। अवतु माम्। अवतु वक्तारम्। ॐशान्तिः शान्तिः शान्तिः। हरिः ॐ। इति कृष्णयजुर्वेदीयतैत्तिरीयोपनिषदि प्रथमः शीक्षाध्यायः समाप्तः।।१।।

कर्मनिमित्तत्वाद्विद्याया यत्नान्तरानर्थक्यमिति चेत्कर्मभ्य एव पूर्वोपचितदुरित-प्रतिबन्धक्षयादेव विद्योत्पद्यते चेत्कर्मभ्यः पृथगुपनिषच्छ्रवणादियत्नोऽनर्थक इति चेत्। न। नियमाभावात्। न हि प्रतिबन्धक्षयादेव विद्योत्पद्यते न त्वीश्वरप्रसादतपोध्यानाद्यनुष्ठा-नादिति नियमोऽस्ति। अहिंसाब्रह्मचर्यादीनां च विद्यां प्रत्युपकारकत्वात्साक्षादेव च कारणत्वाच्छ्रवणमनननिदिध्यासनानाम्। अतः सिद्धान्याश्रमान्तराणि। सर्वेषां चाधिकारो विद्यायां परं च श्रेयः केवलाया विद्याया एवेति सिद्धम्।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ तैत्तिरीयोपनिषच्छीक्षाध्यायभाष्ये द्वादशोऽनुवाकः।।१२।।

शं नः शीक्षाथ्थंसह नौ यश्छन्दसां भूः स यः पृथिव्योमित्यृतं चाहं वेदमनूच्य शं नो [1]द्वादश।। शं नो मह इत्यादित्यो[2] नो इतराणि त्रयोविंशतिः।।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमद्गोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यस्य शंकर-भगवतः कृतौ तैत्तिरीयोपनिषद्भाष्ये प्रथमः शीक्षाध्यायः।।१।।

इदानीं गृहस्थाश्रमकर्मणां [3]बहिरङ्गत्वं संन्यासाश्रमकर्मणां त्वन्तरङ्ग[4]विद्यासाधनत्वमिति विशेषं दर्शयितुं चोद्यमुद्भावयति — कर्मनिमित्तत्वादित्यादिना।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छुद्धानन्दपूज्यपादशिष्यानन्दज्ञानविरचितायां तैत्तिरी-योपनिषच्छांकरभाष्यटीकायां शीक्षाध्याये द्वादशोऽनुवाकः।।१२।।

कर्मों से भिन्न वेदान्त श्रवणादि के लिये प्रयत्न करना व्यर्थ ही है; ऐसा मान लिया जाय तो, **सिद्धान्ती :—** ऐसा मानना ठीक नहीं है क्योंकि ऐसा नियम नहीं है कि ज्ञान की उत्पत्ति केवल प्रतिबन्ध के नाश से ही होती है; ईश्वर प्रसाद, तप एवं ध्यानादि के अनुष्ठान से नहीं होती। ऐसा कोई नियम नहीं है क्योंकि अहिंसा एवं ब्रह्मचर्यादि ज्ञान की उत्पत्ति में उपकारक हैं तथा श्रवण, मनन, और निदिध्या-

---

१. इत्येवमादयो द्वादशानुवाकाः प्रथमाध्याये इत्यर्थः। २. कोष्ठस्थपाठो लिखितपुस्तके नास्ति। ३. परस्परयोपकारकत्वम्। ४. साक्षादुपकारकत्वम्।

अथ तैत्तिरीयोपनिषदि

द्वितीयो ब्रह्मवल्ल्यध्यायः। तत्र प्रथमोऽनुवाकः।

ॐ शं नो मित्रः शं वरुणः। शं नो भवत्वर्यमा। शं न इन्द्रो बृहस्पतिः। शं नो विष्णुरुरुक्रमः। नमो ब्रह्मणे। नमस्ते वायो। त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि। त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि। ऋतं वदिष्यामि। सत्यं वदिष्यामि। तन्मामवतु। तद्वक्तारमवतु। अवतु माम्। अवतु वक्तारम्।। सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै। तेजस्वि नावधीत-मस्तु मा विद्विषावहै। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

(वह ब्रह्म आचार्य और शिष्य) हम दोनों की साथ-साथ रक्षा करे, हम दोनों का साथ-साथ पालन करे, हम साथ-साथ विद्याजन्य सामर्थ्य प्राप्त करें, हम दोनों का अध्ययन किया हुआ तेजस्वी (अर्थज्ञान के योग्य) हो और हम परस्पर विद्वेष न करें। त्रिविध ताप की शान्ति हो।

शं नो मित्र [1]इत्याद्यतीतविद्याप्राप्त्युपसर्गप्रशमनार्था शान्तिः पठिता। इदानीं तु वक्ष्यमाणब्रह्मविद्याप्राप्त्युपसर्गोपशमनार्था शान्तिः पठ्यते—शं नो मित्र इति सह नाववत्विति च। शं नो मित्र इत्यादि पूर्ववत्स्पष्टम्। सह नाववतु नौ शिष्याचार्यौ

शान्तिद्वयस्यापौनरुक्त्यमाह — शं नो मित्र इति। इदानीं परविद्यार्थिनमप्यवतु [2]साधारण्येन मया पूर्वं प्रार्थितत्वादित्यर्थः। असाधारण्येन परविद्योपसर्गशान्त्यर्थमाह — सह नाववत्विति। नावाव-

---

सनादि तो ज्ञान की उत्पत्ति में साक्षात् कारण हैं ही। अतः अन्य आश्रम भी श्रुति स्मृति सिद्ध हैं और ज्ञान में सभी आश्रम वालों का अधिकार है। इससे यह भी सिद्ध हुआ कि परम श्रेयरूप मोक्ष केवल ज्ञान से ही प्राप्त होता है।

पूर्वोक्त विद्या की प्राप्ति के प्रतिबन्धों की निवृत्ति के लिये श्रुति शान्ति पाठ करती है। इसकी व्याख्या पहले की जा चुकी है।

इस प्रकार श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ कैलासपीठाधीश्वर परमादर्श आचार्य महामण्डलेश्वर स्वामी विद्यानन्दगिरि विरचित तैत्तिरीयोपनिषद् प्रथम शीक्षाध्याय शाङ्करभाष्य की "विद्यानन्दी-मिताक्षरा" टीका सम्पन्न हुई।

ब्रह्मानन्द वल्ली का शान्ति पाठ

पूर्वोक्त विद्या की प्राप्ति के प्रतिबन्धों की निवृत्ति के लिये शान्ति पाठ किया जा चुका है। अब

---

१. शान्तिसामानाधिकरण्यादित्यादिरिति पाठ्यं यथाश्रुतं तु क्रियाविशेषणत्वेन नेयम्। २. साधारण्येनेति—उक्तं हि 'शं नो मित्र" इत्याशीर्वादः कृत्स्नोपनिषच्छेप इति।

ॐ ब्रह्मविदाप्नोति परम्। तदेषाऽभ्युक्ता। सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्। सोऽश्नुते सर्वान्कामान्त्सह। ब्रह्मणा विपश्चि-

ब्रह्मज्ञानी परतत्त्व को प्राप्त कर लेता है, इसके विषय में यह श्रुति कही गयी है। ब्रह्म (स्वरूप से व्यभिचरित न होने वाला) सत्य, ज्ञानस्वरूप और देश-काल वस्तु कृत परिच्छेद रहित है। जो पुरुष (उस ब्रह्म को) बुद्धिरूप गुफा में निहित जानता है, वह सर्वज्ञ ब्रह्मरूप से सम्पूर्ण भोगों को एक साथ प्राप्त कर लेता है। उस इस उक्त लक्षण वाले आत्मा से ही (सर्वप्रथम शब्द गुणवाला) आकाश उत्पन्न

सहैवावतु रक्षतु। सह नौ भुनक्तु भोजयतु। सह वीर्यं विद्या[1]दिनिमित्तं सामर्थ्यं करवावहै निर्वर्तयावहै। तेजस्वि नावावयोस्तेजस्विनोरधीतं स्वधीतमस्तु। अर्थज्ञानयोग्यमस्त्वित्यर्थः। मा विद्विषावहै विद्याग्रहणनिमित्तं शिष्यस्याऽऽचार्यस्य वा प्रमादकृतादन्यायाद्विद्वेषः प्राप्तस्तच्छमनायेयमाशीर्मा विद्विषावहा इति। मैवेतरेतरं विद्वेषमापद्यावहै। शान्तिः शान्तिः शान्तिरिति त्रिर्वचनमुक्तार्थम्। वक्ष्यमाणविद्याविघ्न[2]प्रशमनार्थं चेयं शान्तिः। अविघ्नेनाऽऽत्मविद्याप्राप्तिराशास्यते तन्मूलं हि परं श्रेय इति।

संहितादिविषयाणि कर्मभिरविरुद्धान्युपासनान्युक्तानि। अनन्तरं चा[3]न्तःसोपाधि-

---

योस्तेजस्विनोरधीतं तेजस्व्यस्त्विति योजना।

वृत्तानुवादपूर्वकमानन्दवल्ल्यास्तात्पर्यमाह —संहितादीत्यादिना। ननु यथा पूर्वमाप्नोति स्वा-

---

आगे कहे जाने वाली ब्रह्मविद्या की प्राप्ति हेतु प्रतिबन्धों की निवृत्ति के लिये शान्ति पाठ किया जाता है। वह ब्रह्म हम आचार्य और शिष्य दोनों की रक्षा साथ-साथ ही करे और हमारा पालन भी साथ-साथ करे। हम दोनों एक साथ ही विद्याजनित सामर्थ्य का सम्पादन करें और हम दोनों का अध्ययन किया हुआ ज्ञान तेजस्वी होवे अर्थात् सम्यक् प्रकार से अध्ययन किया हुआ शास्त्र अर्थज्ञान के योग्य हो जावे और परस्पर विद्वेष न करें। विद्या ग्रहण के निमित्त शिष्य या आचार्य में प्रमादकृत अन्याय से द्वेष हो सकता है। उसी की शान्ति के लिये "मा विद्विषावहै" ऐसी कामना की गयी है। अभिप्राय यह है कि हम एक दूसरे से विद्वेष को प्राप्त न हों। शान्तिः शान्तिः शान्तिः इस प्रकार तीन बार शान्ति शब्द के उच्चारण का प्रयोजन पहले कह चुके हैं। यह शान्ति पाठ आगे कही जाने वाली विद्या के विघ्नों की निवृत्ति के लिए है। निर्विघ्नता पूर्वक आत्मविद्या प्राप्ति की कामना इससे की गयी है क्योंकि आत्मज्ञान ही परमश्रेय का मूल कारण है।

ब्रह्मवेत्ता को सर्वकाम की प्राप्ति, सृष्टिक्रम और अन्नमय कोश

कर्मों से अविरुद्ध संहितादि विषयक उपासनाएँ पहले कही जा चुकी हैं। तत्पश्चात् व्याहृतियों

---

१. आदीति—क्वचिन्नास्ति। २. प्रशमनार्थेयं शान्तिरिति पाठः। ३. अन्तरिति— अन्तर्हृदये ध्येयेत्यर्थः।

तेति। तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी। पृथिव्या ओषधयः। ओषधीभ्योऽन्नम्। अन्नात्पुरुषः। स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः।

हुआ। आकाश से (शब्द-स्पर्श दो गुणवाला) वायु उत्पन्न हुआ। वायु से (शब्द, स्पर्श और रूप गुण वाला) तेज, तेज से (शब्द, स्पर्श, रूप और रस गुणवाला) जल, जल से (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध गुणवाली) पृथिवी, पृथिवी से औषधियाँ, औषधियों से अन्न और वीर्यरूप में परिणत हुए अन्न से पुरुष उत्पन्न हुआ। वह यह पुरुष अन्न और रस का विकार है, उसका यह (प्रसिद्ध शिर) ही शिर है,

---

कात्मदर्शनमुक्तं व्याहृतिद्वारेण स्वाराज्यफलम्। न चैतावताशेषतः संसारबीजस्योपमर्दनमस्तीत्यतोऽशेषोपद्रवबीजस्याज्ञानस्य निवृत्त्यर्थं विधूतसर्वोपाधिविशेषात्मदर्शनार्थमिदमारभ्यते ब्रह्मविदाप्नोति परमित्यादि। प्रयोजनं चास्या ब्रह्मविद्याया अविद्यानिवृत्तिस्तत आत्यन्तिकः संसाराभावः। वक्ष्यति च—"विद्वान्न बिभेति कुतश्चन" (तै. उ. २-९) इति। संसारनिमित्ते च सति "अभयं प्रतिष्ठां विन्दते" (तै.उ. २-७) इत्यनुपपन्नम्। "कृताकृते पुण्यपापे न तपतः" इति च। अतोऽवगम्यतेऽस्माद्विज्ञानात्सर्वात्मब्रह्मविषयादात्यन्तिकः संसाराभाव इति। स्वयमेव च प्रयोजनमाह ब्रह्मविदाप्नोति परमित्यादावेव संबन्ध-

---

राज्यमित्यपरविद्याफलमुक्तं संसारगोचरमेव तथा परविद्याफलमपि "[1]सोऽश्नुते सर्वान्कामान्" इति सर्वविषयसाध्यानन्दान्संसारगोचरानेव दर्शयिष्यति कथमात्यन्तिकः संसाराभाव इत्यत आह — प्रयोजनं चास्या इति। सर्वकामशब्देन निरतिशयानन्दाभिव्यक्तिर्विवक्षिता सा च स्वभावानन्दानभिव्यक्तिरूपाविद्यानिवृत्तिरेवेति न संसारगोचरं फलमित्यर्थः। आद्यवाक्यस्या[2]वान्तरतात्पर्यमाह — स्वयमेव

द्वारा स्वाराज्यरूप फलप्रद हृदयस्थ सोपाधिक आत्मदर्शन कहा गया किन्तु इतने मात्र से संसार के बीज का निःशेष नाश नहीं हो सकता। अतः अशेष उपद्रवों के मूल कारण अज्ञान की निवृत्ति के लिये इस सर्वोपाधि विशेष से विनिर्मुक्त आत्मा का साक्षात्कार कराने के लिये अब "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" इत्यादि मन्त्र आरम्भ किया जाता है। अविद्या की निवृत्ति ही इस ब्रह्मविद्या का प्रयोजन है, उससे संसार का अत्यन्त अभाव हो जाता है। यही बात "ब्रह्मज्ञानी किसी से भयभीत नहीं होता।" इत्यादि श्रुति से आगे कही जायेगी। संसार के कारण अज्ञान के रहते-रहते ही पुरुष अभय स्थिति को प्राप्त कर लेता है; ऐसा कहना अनुचित है और उसे कृताकृत पुण्य और पाप संतप्त नहीं करते; ऐसा मानना सर्वथा असंगत है। इससे यही बात जानी जाती है कि सर्वात्मक ब्रह्मविषयक अपरोक्ष विज्ञान से ही संसार का अत्यन्ताभाव हो सकता है। इस प्रकरण से सम्बन्ध और प्रयोजन के ज्ञापनार्थ स्वयं ही श्रुति ने "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" इत्यादि वाक्य से प्रारम्भ में ही इसका प्रयोजन कह दिया है क्योंकि सम्बन्ध और प्रयोजन ज्ञात होने पर ही साधक पुरुष विद्या के साधन श्रवण, ग्रहण, धारण और अभ्यास

---

१. ब्रह्मवल्ली १-१। २. अवान्तरेति—अशेषवल्लीतात्पर्यापेक्षयाऽस्यावान्तरत्वम्।

तस्येदमेव शिरः। अयं दक्षिणः पक्षः। अयमुत्तरः पक्षः। अयमात्मा। इदं पुच्छं प्रतिष्ठा। तदप्येष श्लोको भवति।।१।।

इति कृष्णयजुर्वेदीयतैत्तिरीयोपनिषदि द्वितीये ब्रह्मवल्ल्यध्याये प्रथमोऽनुवाकः।।१।।

यह (दक्षिण बाहु) ही दक्षिण पंख है। यह (बायीं भुजा) वाम पंख है। यह (शरीर का मध्यभाग अङ्गों का) आत्मा है और यह (नाभि के नीचे का भाग) पुच्छ प्रतिष्ठा है। इसके विषय में ही यह मन्त्र है।।१।।

।।इति प्रथमोऽनुवाकः।।

प्रयोजनज्ञापनार्थम्। निर्ज्ञातयोर्हि संबन्धप्रयोजनयोर्विद्याश्रवणग्रहणधारणाभ्यासार्थं प्रवर्तते। श्रवणादिपूर्वकं हि विद्याफलम् "श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" (बृ.उ. २-४-५) इत्यादिश्रुत्यन्तरेभ्यः। ब्रह्मविद्ब्रह्मोति वक्ष्यमाणलक्षणं बृहत्तमत्वाद्ब्रह्म तद्वेत्ति विजानातीति ब्रह्मविदाप्नोति परं निरतिशयं तदेव ब्रह्म परम्। न ह्यन्यस्य [1]विज्ञानादन्यस्य प्राप्तिः। [2]स्पष्टं च श्रुत्यन्तरं ब्रह्मप्राप्तिमेव ब्रह्मविदो दर्शयति "स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति" (तै.उ. ३-२-९) इत्यादि।

चेति। विद्ययैव केवलया मोक्षः साधयितुं [3]शक्यते [4]ब्रह्मविदितिविशेषणादितिसंबन्धज्ञापनस्य [5]पुरुषाकाङ्क्षाविषयतया परप्राप्तिः प्रयोजनं विद्याया इति ज्ञापनस्य वा कुत्रोपयोग इत्याशङ्क्य यज्ञादिपरित्यागेन वेदान्तश्रवणादावेव मुमुक्षुणा प्रवर्तितव्यमित्यत्रेत्याह — निर्ज्ञातयोर्हीति। परशब्देनोत्कृष्टमुच्यते कथं ब्रह्मोति व्याख्यायते तत्राऽऽह — न हीति।

के लिये प्रवृत्त होता है। " सुनना चाहिये, मनन करना चाहिये, निदिध्यासन करना चाहिये" इत्यादि दूसरी श्रुतियों से भी यही निश्चित होता है कि विद्या का फल श्रवणादि पूर्वक ही होता है। जिसका लक्षण आगे कहा जायगा और जो सब से महान् होने के कारण ब्रह्म कहा जाता है, उसे जो जानता है, वह ब्रह्मवित् पुरुष उस निरतिशय परब्रह्म को ही प्राप्त कर लेता है। दूसरे के विज्ञान से दूसरे की प्राप्ति नहीं होती। यह बात "निःसन्देह जो उस परब्रह्म को जानता है, वह ब्रह्म ही हो जाता है" ऐसी दूसरी श्रुति स्पष्ट रूप से ब्रह्मवेत्ता को ब्रह्म की प्राप्ति बतलाती है।

---

१. विज्ञानादिति—प्रमाणजन्यज्ञानादित्यर्थस्तेन रजतज्ञानाच्छुक्तिप्राप्तावपि न क्षतिरित्यवधेयम्। २. ननु धूमज्ञानेन प्रवृत्तस्य वह्निप्राप्तिर्दृष्टेत्याशङ्क्याऽऽह—स्पष्टं चेत्यादि। ३. शक्यत इति—तथा च विद्यामोक्षयोः साध्यसाधनत्वं सम्बन्ध इति भावः। ४. तज्ज्ञापकमाह—ब्रह्मविदितिविशेषणादिति। उद्देश्यतावच्छेदकस्य विधेयं प्रति हेतुत्वस्य धनी सुखीत्यादौ दृष्टत्वादिति भावः। ५. पुरुषाकाङ्क्षाविषयतयेति—परप्राप्तेर्विद्याप्रयोजनत्वे हेतूक्तिरियम्। परप्राप्तेः प्रयोजनत्वमुपपादयति—पुरुषेत्यादिना।

ननु सर्वगतं सर्वस्याऽऽत्मभूतं ब्रह्म वक्ष्यति। अतो नाऽऽप्यं प्राप्तिश्चान्यस्यान्येन परिच्छिन्नस्य च परिच्छिन्नेन दृष्टा। अपरिच्छिन्नं सर्वात्मकं च ब्रह्मेत्यतः परिच्छिन्नवदनात्मवच्च तस्याऽऽप्तिरनुपपन्ना। नायं दोषः। कथम्? दर्शनादर्शनापेक्षत्वाद्ब्रह्मण आप्त्यनाप्त्योः। परमार्थतो ब्रह्मरूपस्यापि सतोऽस्य जीवस्य भूतमात्राकृतबाह्यपरिच्छिन्नान्नमयाद्यात्मदर्शिनस्तदासक्तचेतसः प्रकृतसंख्यापूरणस्याऽऽत्मनोऽव्यवहितस्यापि बाह्यसंख्येयविषयासक्तचित्ततया स्वरूपाभावदर्शनवत्परमार्थब्रह्मस्वरूपाभावदर्शनलक्षणयाऽविद्ययाऽन्नमयादीन्बाह्यानात्मन आत्मत्वेन प्रतिपन्नत्वादन्नमयाद्यनात्मभ्यो नान्योऽहमस्मीत्यभिमन्यते। एवमविद्ययाऽऽत्मभूतमपि ब्रह्मानाप्तं स्यात्। तस्यैवमविद्ययाऽनाप्तब्रह्मस्वरूपस्य प्रकृतसंख्यापूरणस्याऽऽत्मनोऽविद्ययाऽनाप्तस्य सतः केनचित्स्मारितस्य पुनस्तस्यैव विद्ययाऽऽप्तिर्यथा तथा श्रुत्युपदिष्टस्य सर्वात्मब्रह्मण आत्मत्वदर्शनेन विद्यया तदाप्तिरुपपद्यत एव।

आप्नोतिशब्दस्यौपचारिकमर्थं दर्शयितुं [१]शङ्कामुखेन मुख्यार्थे बाधकमाह — ननु सर्वगतमित्यादिना। परमार्थतो ब्रह्मस्वरूपस्यापि सतो जीवस्याविद्यया ब्रह्मानाप्तं स्यादिति संबन्धः। भूतमात्राभिर्भूतांशैः कृता ये [२]बाह्याः परिच्छिन्नाश्चान्नमयादयस्तदात्मत्वदर्शिन इत्यविद्याया विक्षेपकत्वं स्वरूपमुक्तम्। परमार्थं ब्रह्मस्वरूपं नास्तीत्यभावदर्शनमा[३]वरणलक्षणं लिङ्गं यस्याः सा तथोक्ता। स्वरूपेऽप्यग्रहणविपर्ययौ भवत इत्यत्र दृष्टान्तमाह — प्रकृतेति। प्रकृतसंख्यापूरणस्य दशमस्य नवैव वयं वर्तामह इति विपर्ययः स्वरूपादर्शनं च यथेत्यर्थः। अदर्शननिमित्तामनाप्तिं विविच्य दर्शननिमित्तामाप्तिं विवृणोति — तस्यैवमिति।

शङ्काः— ब्रह्म सर्वव्यापक और सबका आत्मा है, ऐसा आगे श्रुति कहेगी। अतः वह प्राप्तव्य नहीं हो सकता। किसी दूसरे परिच्छिन्न पदार्थ द्वारा ही उससे भिन्न किसी परिच्छिन्न पदार्थ की प्राप्ति देखी गयी है किन्तु ब्रह्म अपरिच्छिन्न और सर्वात्मक है। अतः परिच्छिन्न और अनात्म पदार्थ के समान उसकी प्राप्ति होनी असंगत है। समाधान :— यह कोई दोष नहीं है। कैसे? क्योंकि ब्रह्म की प्राप्ति और अप्राप्ति उसके साक्षात्कार और असाक्षात्कार की अपेक्षा रखती है। जैसे दशम पुरुष के लिए प्रकृत दशम संख्या की पूर्ति करने वाला वह स्वयं सर्वथा अव्यवहित होता हुआ भी संख्या योग्य वाह्य विषयों में आसक्त रहने के कारण वह अपने स्वरूप का अभाव देखता है; ठीक उस दशम पुरुष की भाँति पंचभूत तन्मात्राओं से उत्पन्न बाह्य परिच्छिन्न अन्नमय कोशादि में आत्मभाव देखने वाला यह जीव परमार्थतः ब्रह्मस्वरूप होता हुआ भी अनात्म में आसक्त हो जाता है और अपने परमार्थ स्वरूप ब्रह्म का अभाव दर्शनरूप अविद्या से अन्नमयादि कोश बाह्य अनात्म पदार्थों को आत्मस्वरूप से देखने के कारण मैं अन्नमय आदि अनात्म पदार्थों से भिन्न नहीं हूँ; ऐसा अभिमान कर वैठता है। इसी प्रकार अपना स्वरूप होता हुआ भी ब्रह्म अविद्या के कारण अप्राप्त सा हो गया है जिस प्रकार प्रकृत दशम संख्या का पूरक अपने आप अविद्या के कारण अप्राप्त रहता है और पुनः किसी के द्वारा

---

१. शङ्काव्याजेनेति यावत्। २. अनात्मानः। ३. आवरणलक्षणं यस्या इति—यस्या आवरणशक्त्यंशज्ञापकमिति यावत्।

ब्रह्मविदाप्नोति परमिति वाक्यं सूत्रभूतं सर्वस्य वल्ल्यर्थस्य। ब्रह्मविदाप्नोति परमित्यनेन वाच्येन वेद्यतया सूत्रितस्य ब्रह्मणोऽनिर्धारितस्वरूपविशेषस्य सर्वतो व्यावृत्तस्वरूपविशेषसमर्पणसमर्थस्य लक्षणस्याभिधानेन स्वरूपानिर्धारणायाविशेषेण चोक्तवेदनस्य ब्रह्मणो वक्ष्यमाणलक्षणस्य विशेषेण प्रत्यगात्मतयाऽनन्यरूपेण विज्ञेयत्वाय ब्रह्मविद्याफलं च ब्रह्मविदो यत्परब्रह्मप्राप्तिलक्षणमुक्तं स सर्वात्मभावः सर्वसंसार-धर्मातीतब्रह्मस्वरूपत्वमेव नान्यदित्येतत्प्रदर्शनायैषर्गुदाह्रियते —

तदेषाऽभ्युक्तेति। तत्तस्मिन्नेव ब्राह्मणवाक्योक्तेऽर्थ एषर्गभ्युक्ताऽऽम्नाता। सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मेति ब्रह्मणो लक्षणार्थवाक्यम्। सत्यादीनि हि त्रीणि विशेषणार्थानि

आद्यं ब्राह्मणवाक्यं व्याख्यायोत्तरं मन्त्रं संक्षेपतोऽर्थकथनेनावतारयति — ब्रह्मविदाप्नोतीत्यादिना। सर्वतो व्यावृत्तो यः स्वरूपविशेषस्तत्समर्पणे समर्थस्य लक्षणस्याभिधानेन स्वरूपनिर्धारणायैष-र्गुदाह्रियत इति संबन्धः। बृहत्त्वाद्ब्रह्मेति व्युत्पत्तिबलेनास्ति किमपि महद्वस्त्वित्यविशेषेण प्रतीयते। ततो लक्ष्योद्देशेन [1]लक्षणविधानमिति प्रसिद्धिरुपपद्यते। अव्याकृतादि ब्रह्मशब्दवाच्यतया सजातीयं घटादि विजातीयम्। तस्मात्सजातीयविजातीयव्यावर्तकतया सत्यादिलक्षणस्य लक्षणत्वप्रसिद्धिरुपपद्यते। लक्षणाभिधानद्वारेण स्वरूपविशेषप्रतिपादने तात्पर्यमिति वाक्यस्य व्यर्थतादोषः परिहृतः। पूर्वत्र ब्रह्मविदित्यनेनाविशेषेणोक्तं वेदनं यस्य ब्रह्मणस्तस्य यो वेद निहितं गुहायामित्यनेन प्रत्यगात्मतया वेदनं वक्तव्यमित्येवमर्था चर्गुदाह्रियत इत्याह — अविशेषेण चेति। आपातप्रतिपन्नं विशेषणविशेष्य-भावमादाय पदानि विभजते — सत्यादीनि हि त्रीणीति। विशेषणार्थानीति। व्यावृत्त्यर्थानि। कुतो

स्मरण कराये जाने पर विद्या द्वारा उसकी प्राप्ति हो जाती है। उसी प्रकार अविद्या के कारण जिसे ब्रह्म स्वरूप की उपलब्धि नहीं हो पा रही है उस सर्वात्मभूत श्रुति उपदिष्ट ब्रह्म की आत्मदर्शन रूपा विद्या के द्वारा प्राप्ति होनी उचित ही है।

'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' यह सूत्ररूप वाक्य है। सम्पूर्ण वल्ली के अर्थ का 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' इस वाक्य द्वारा ज्ञातव्यरूप से सूत्ररूप में उल्लेख किया गया है। जिसके विशेषरूप का निश्चय नहीं किया जा सका है और जो सम्पूर्ण वस्तुओं से पृथक् विशेषरूप का ज्ञान कराने में समर्थ है उस ब्रह्म का लक्षण बतलाते हुए स्वरूप का निश्चय कराने के लिए (यह प्रसंग है) तथा जिसके ज्ञान का सामान्य रूप से वर्णन किया जा चुका है, उस आगे कहे जाने वाले लक्षणों से युक्त ब्रह्म को अपना अन्तरात्मा होने के कारण विशेषतया अभिन्नरूप से जानने योग्य है; ऐसा प्रतिपादन करने के लिये और यह दिखलाने के लिये ब्रह्मज्ञानी को परब्रह्म की प्राप्ति रूप फल जो ब्रह्म विद्या का कहा गया है, वह सर्वात्मभाव सम्पूर्ण सांसारिक धर्मों से अतीत ब्रह्म स्वरूपता ही है, दूसरा कुछ नहीं।

"तदेषाऽभ्युक्ता" यह ऋचा कही जाती है। ब्राह्मण वाक्य द्वारा कहे गये उसी अर्थ में 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" यह ऋचा कही गयी है। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' यह वाक्य ब्रह्म का लक्षण प्रतिपादक है। सत्यादि तीन पद विशेषण हैं जो विशेष्य ब्रह्म के बतलाने के लिये हैं। वेद्यरूप से जिसे

---

१. वाक्यं हि विशिष्टवाक्यार्थबोधोत्पादने नैव सफलीभवति न त्वसाधारणधर्ममात्रबोधनेनेत्याशयवानाह—लक्षणाभिधा-नेत्यादि। विशिष्टेति अखण्डार्थस्योपलक्षणमिदम्।

पदानि विशेष्यस्य ब्रह्मणः। विशेष्यं विवक्षितत्वाद्वेद्यतया। विशेषणविशेष्यत्वादेव सत्यादीन्येक-विभक्त्यन्तानि पदानि [1]समानाधिकरणानि। सत्यादिभिस्त्रिभिर्विशेषणैर्विशेष्यमाणं ब्रह्म विशेष्यान्तरेभ्यो निर्धार्यते। एवं हि तज्ज्ञानं भवति यदन्येभ्यो निर्धारितम्। यथा लोके नीलं महत्सुगन्ध्युत्पलमिति।

ननु विशेष्यं विशेषणान्तरं व्यभिचरद्विशेष्यते। यथा नीलं रक्तं चोत्पलमिति। यदा ह्यनेकानि द्रव्याण्येकजातीयान्यनेकविशेषणयोगीनि तदा विशेषणस्यार्थवत्त्वम्। न ह्येकस्मिन्नेव वस्तुनि विशेषणान्तरायोगाद्यथाऽसावेक आदित्य इति। तथैकमेव च ब्रह्म न ब्रह्मान्तराणि येभ्यो विशेष्येत नीलोत्पलवत्। न। लक्षणार्थत्वाद्विशेष-णानाम्। नायं दोषः। कस्मात्। यस्माल्लक्षणार्थप्रधानानि विशेषणानि न विशेषणप्रधा-

---

विशेषणविशेष्यभावप्रतीतिरित्यत आह — विशेषणविशेष्यत्वादेवेति। नीलं महत्सुगन्ध्युत्पलमित्यादौ सत्येव विशेषणविशेष्यभावे समानाधिकरणतयै[2]कविभक्त्यन्तानि प्रसिद्धान्येतान्यपि च तथाभूतानि नानार्थगतविशेषणविशेष्यभावनिबन्धनानीति गम्यत इत्यर्थः। विशेषणविशेष्यभावस्य फलमाह — एवं हीति।

विशेषणविशेष्यभावमाक्षिपति — नन्विति। नीलत्वं व्यभिचरदुत्पलं रक्तमपि संभवतीति नीलं विशेषणं घटते न तथा सत्यत्वादिकं व्यभिचरद्ब्रह्मान्तरं लोके प्रसिद्धम्। ततः सजातीयव्यवच्छेद्य-स्याभावाद्विशेषणविशेष्यभावो न घटत इत्यर्थः। विशेषणविशेष्यभावस्य तात्पर्येणाप्रतिपाद्य-त्वादव्याकृतादिशास्त्रीयब्रह्मपदार्थव्यवच्छेदेनानिर्वाच्यविशेषणविशेष्यभावसंभवात्तद्द्वारेण ब्रह्मलक्षणं विवक्षितमित्याह — नेति। संग्रहवाक्यं विवृणोति — नायं दोष इत्यादिना। सर्वत एवेति। सजातीयाद्विजाती-

---

बतलाना अभीष्ट है। अतः ब्रह्म विशेष्य है और सब विशेषण हैं क्योंकि प्रधानतया वेद्यरूप से ब्रह्म को बतलाना ही अभीष्ट है। अतः उसे विशेष्य समझना चाहिये। अतएव विशेषण-विशेष्यभाव रहने के कारण सत्यादि पदों में समान विभक्तिरूप सामानाधिकरण्य है। सत्यादि तीन विशेषणों से विशिष्ट ब्रह्म अन्य विशेष्यों से पृथक् रूप में निश्चित किया जाता है। जिसका निश्चय दूसरे पदार्थों में पृथक् रूप से किया गया है, उसका इसी प्रकार से ज्ञान हुआ करता है। जैसे लोक में 'नील' विशाल और सुगन्धित कमल है। ऐसा कहते हुए पूर्वोक्त कमल का अन्य कमलों से पार्थक्य निश्चय किया जाता है।

शङ्काः— दूसरे विशेषणों का व्यावर्तन करने पर ही कोई विशेषण विशिष्ट हुआ करता है, जैसे नीला अथवा लाल कमल। जिस समय अनेक द्रव्य एक ही जाति के अनेक विशेषणों के योग्य होते हैं, तभी विशेषणों की सार्थकता होती है। एक ही वस्तु में अन्य विशेषण का सम्बन्ध न होने पर विशेपण सार्थक नहीं होता। जैसे वह सूर्य एक है, उसी प्रकार ब्रह्म भी एक ही है। उसके अतिरिक्त अन्य ब्रह्म है ही नहीं, जिनसे पृथक् करने के लिये नील कमल के समान उसमें विशेषण लगाना सार्थक हो सके। समाधान :— ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि ये विशेषण लक्षण के लिये हैं। (इतर

---

१. समानाधिकरणानि—एकार्थवृत्तीनीत्यर्थः। तत्त्वं च पदानां वाक्यस्य चकाराघटितत्वादेवावसीयत इत्यवधेयम्। २. एक-विभक्त्यन्तानि पदानीति शेषः।

नान्येव। कः पुनर्लक्षणलक्ष्ययोर्विशेषणविशेष्ययोर्वा विशेष इति। उच्यते। समानजातीयेभ्य एवं निवर्तकानि विशेषणानि विशेष्यस्य लक्षणं तु सर्वत एव यथाऽवकाशदात्राकाशमिति। लक्षणार्थं च वाक्यमित्यवोचाम।

सत्यादिशब्दा न परस्परं संबध्यन्ते परार्थत्वाद्विशेष्यार्था हि ते। अत एकैको विशेषणशब्दः परस्परं निरपेक्षो ब्रह्मशब्देन संबध्यते। सत्यं ब्रह्म ज्ञानं ब्रह्मानन्तं

याच्च यथा महाभूतत्वेन सदृशभावात्पृथिव्यादेर्विसदृशाच्चाऽऽत्मादेराकाशस्य व्यावर्तकमवकाशदातृत्वमित्यर्थः। [1]एतदुक्तं भवति—अतिव्याप्त्यादिरहितो व्यावर्तको धर्मो लक्षणं [2]न्यायविशेष इति मीमांसकाः। ब्रह्मपदव्युत्पत्तिबलेन यदविशेषतः प्रतिपन्नं किंचिन्महदस्तीति तत्सत्यं ज्ञानमनन्तमनृतजडपरिच्छेदविरोधिस्वरूपमिति विशेषतः प्रतिपत्तव्यमिति विशेषावगतिशेषभूतं लक्षणं प्रमितिस्तु प्रमाणादेवेति। तार्किकाः पुनर्लक्षणं केवलव्यतिरेक्यनुमानमाचक्षते तदा लक्षणादेव स्वभावविशेषप्रमितिः। यथा गुणवद्द्रव्यमिति लक्षणाद्गुणाश्रयत्वयोग्यस्वभावविशेषस्य प्रमितिः सामान्यप्रतिपन्नस्य द्रव्यपदाभिधेयस्य भवति। यद्वा [3]व्यवहारसिद्धिः [4]फलं गुणवद्द्रव्यमिति व्यवहर्तव्यं गुणवत्त्वान्न यदेवं न तदेवं यथा रूपं तथा सत्यत्वादिमद्ब्रह्मेति व्यवहर्तव्यं सत्यत्वादिमत्वान्न यदेवं न तदेवं यथा घट इति। [5]एतच्च खण्डन[6]युक्त्यसहमानमपि व्यवहाराङ्गं भवतीति नातीव सूक्ष्मेक्षिका कार्या।

[7]पुनर्विशेषणविशेष्यभावपक्षमवलम्ब्याऽऽह — सत्यादिशब्दा इति। [8]सत्यं ब्रह्मेत्युक्ते जाड्यव्यावृत्तिः परिच्छेदव्यावृत्तिश्च यद्यपि लभ्यते जडस्य परिच्छिन्नस्य सर्वस्यानृतत्वाज्ज्ञानं ब्रह्मेत्युक्ते

व्यावृत्ति के लिये नहीं) पूर्वोक्त दोष देना ठीक नहीं है। क्यों? क्योंकि ये विशेषण लक्षणार्थ प्रधान हैं, केवल विशेषण ही प्रधान नहीं है। लक्षण, लक्ष्य और विशेषण-विशेष्य में भेद क्या है। इसे बतलाते हैं—विशेषण तो अपने विशेष्य के सजातीय पदार्थों से ही व्यावर्तक होते हैं किन्तु लक्षण, लक्ष्य को सभी से व्यावृत्ति करते हैं। जैसे अवकाश देने वाले को आकाश कहते हैं। इसमें आकाश का लक्षण अवकाश प्रदातृत्व उसके सजातीय अन्य भूतों से और विजातीय आत्मा से भी पृथक् कर देता है, ये हम पहले कह ही चुके हैं। यह वाक्य लक्षण के लिये है।

सत्यादि शब्द परार्थ होने के कारण परस्पर सम्बन्धित नहीं। वे सब के सब विशेष्य ब्रह्म के लिये हैं। अतः उनमें से प्रत्येक विशेषण शब्द परस्पर एक दूसरे की अपेक्षा न रखकर ही "सत्यं ब्रह्म, ज्ञानं ब्रह्म, अनन्तं ब्रह्म" इस प्रकार ब्रह्म शब्द से सम्बन्धित हैं। जो पदार्थ जिस रूप से निश्चित किया गया है, उससे व्यभिचरित नहीं होता तो वह सत्य कहलाता है और जो पदार्थ जिस रूप से निश्चित

---

१. लक्षणप्रमाणाभ्यां वस्तुसिद्धिरित्येतदनुसृत्य लक्षणस्य फलं वक्तुकाम आह—एतदुक्तं भवतीत्यादि। २. प्रमितौ प्रकारनियामकत्वेन प्रमाणानुग्राहकत्वमभिप्रेत्याह—न्यायविशेष इति। ३. व्यवहारः शब्दमयः। ४. फलं लक्षणस्येति शेषः। ५. तर्काप्रतिष्ठानादित्युक्तेस्तर्कस्य निर्दोषत्वासंभवमभिप्रेत्याह—एतच्चेत्यादि। एतल्लक्षणमनुमानं वा तदात्मकम्। ६. युक्त्यसहमानमिति—युक्तिमसहमानमिति युक्तं पठितुम्। द्वितीयेति योगविभागाद्वा समासः। युक्तिरसहमाना यदिति द्वितीयार्थे वा बहुव्रीहिः। ७. लक्षणादिभावेन विशेषणादिभावस्य त्यक्ततां द्योतयितुं पुनरिति। ८. सत्यं ब्रह्मेति—अनन्तं ब्रह्मेत्युक्ते जडानृतयोर्वस्तुतोऽनन्तत्वाभावेन व्यावृत्तिलाभेऽपि तदनुक्तौ मूलं मृग्यम्। यद्वाऽनन्तमित्यस्यान्तवत्त्वप्रतिषेधकत्वात्प्रतिषेधस्य च प्राप्तिसापेक्षत्वात्तत्प्राप्तेश्च ज्ञानत्वाद्युक्तावेव वृत्त्यादिसाधर्म्येण संभवान्न तावन्मात्रस्य लक्षणत्वमित्यभिप्रायः।

ब्रह्मेति। सत्यमिति। यद्रूपेण यन्निश्चितं तद्रूपं न व्यभिचरति तत्सत्यं यद्रूपेण निश्चितं यत्तद्रूपं व्यभिरचरदनृतमित्युच्यते। अतो विकारोऽनृतं "वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्" (छा.उ. ६-१-४) [1]एवं सदेव सत्यमित्यवधारणात्। अतः सत्यं ब्रह्मेति ब्रह्मविकारान्निवर्तयति। अतः कारणत्वं प्राप्तं ब्रह्मणः। कारणस्य च कारकत्वं [2]वस्तुत्वान्मृद्वदचिद्रूपता च प्राप्ताऽत इदमुच्यते ज्ञानं ब्रह्मेति। ज्ञानं ज्ञप्तिरवबोधो भावसाधनो ज्ञानशब्दो ब्रह्मविशेषणत्वात्सत्यानन्ताभ्यां सह। न हि सत्यताऽनन्तता च ज्ञानकर्तृत्वे सत्युपपद्यते। ज्ञानकर्तृत्वेन हि विक्रियमाणं कथं सत्यं भवेदनन्तं च। यद्धि न कुतश्चित्प्रविभज्यते तदनन्तम्। ज्ञानकर्तृत्वे च ज्ञेयज्ञानाभ्यां प्रविभक्तमित्यनन्तता न स्यात्। "यत्र नान्यद्विजानाति स भूमा" "अथ यत्रान्यद्विजानाति तदल्पम्" (छा.उ. ९-२४-१) इति श्रुत्यन्तरात्।

चानृतपरिच्छेदव्यावृत्तिर्लभ्यते स्वप्रकाशस्य [3]बाधाविषयत्वात्परिच्छेदग्राहकप्रमाणाविषयत्वाच्च लक्षणमपि चै[4]कैकं वैकल्पिकमदुष्टं तथाऽपि मन्दमति[5]व्युत्पादनाय [6]स्यात्। सत्यादिपदार्थव्याख्यानपूर्वकं प्रत्येकं व्यावर्त्यमाह — सत्यमिति यद्रूपेणेत्यादिना। भावसाधन इति। भावव्युत्पत्तिकः क्रियासामान्यं यद्यप्य[7]न्यत्र भाव उच्यते तथाऽप्यत्र निर्विशेषं चिन्मात्रं भावव्युत्पत्त्या लक्ष्यते [8]सत्यादिशब्दसंनिधानादिति द्रष्टव्यम्।

किया गया है, उससे व्यभिचरित नहीं होता तो वह सत्य कहलाता है और जो पदार्थ जिस रूप से निश्चित किया गया है, उस रूप से व्यभिचरित होने पर वह मिथ्या कहा जाता है। इसलिये विकार मिथ्या है " विकार केवल वाणी से आरम्भ होने वाला और नाममात्र है, सत्य तो केवल मृत्तिका ही है" इस प्रकार निश्चय किये जाने के कारण सत्य ही सत्य है। अतः 'सत्यं ब्रह्म' यह वाक्य ब्रह्म को विकारमात्र से पृथक् करता है। इससे ब्रह्म में कारणत्व प्राप्त होता है और वस्तु रूप होने से कारण में कारकत्व रहता ही है। अतः मृत्तिका की भाँति उसमें जड़रूपता का प्रसंग आ जाता है। इसीलिये 'ज्ञानं ब्रह्म' ऐसा कहा गया है। अवबोध को ज्ञान कहते हैं। ज्ञान शब्द भाव का वाचक है। सत्य और अनन्त के साथ ज्ञान पद ब्रह्म का विशेषण होने के कारण उसका अर्थ ज्ञान करने वाला नहीं हो सकता क्योंकि ब्रह्म में ज्ञानकर्तृत्व स्वीकार करने पर उसकी सत्यता और अनन्तता सिद्ध नहीं हो सकेगी। ज्ञान का कर्ता होने से विकारशील ब्रह्म सत्य और अनन्त कैसे हो सकेगा। जो किसी से विभक्त नहीं होता, वही अनन्त हो सकता है। ज्ञान का कर्ता होने पर तो उसे ज्ञेय और ज्ञान से पृथक् ही मानना पड़ेगा। फिर भला उसकी अनन्तता कैसे सिद्ध हो सकेगी। "किसी दूसरे को नहीं जानता, वह भूमा है और जहाँ किसी दूसरे को जानता है, वह परिच्छिन्न है" ऐसा दूसरी श्रुति से भी यही सिद्ध होता है।

---

१. श्रुत्यन्तरमाह—एवं सदेव सत्यमिति। सदेव सोम्येति तत्सत्यमित्यनयोरेकवाक्यत्वेनैतत् श्रुत्यन्तरमेव वैतदानुपूर्वीकमिति बोध्यम्। २. वस्तुत्वादिति—कारणत्वे सति भावरूपत्वादिति यावत्। ३. बाधज्ञानाविषयत्वादित्यर्थः। ४. एकैकमिति—अनेकमिति यावत्। क्वचित्तथैव पाठः। ५. व्युत्पादनाय—सुखबोधाय। ६. स्यादिति—त्रितयघटितमेकमेव लक्षणं नानुपपन्नमिति यावत्। ७. अन्यत्र—गमनं, भोजनमित्यादौ। ८. सत्यादिशब्दसंनिधानादिति—न हि क्रियामात्रे सत्यत्वादिसंभवीति भावः।

नान्यद्विजानातीति विशेषप्रतिषेधादात्मानं विजानातीति चेन्न। भूमलक्षण-विधिपरत्वाद्वाक्यस्य। यत्र नान्यत्पश्यतीत्यादि भूम्नो लक्षणविधिपरं वाक्यम्। यथा प्रसिद्धमेवान्योऽन्यत्पश्यतीत्ये[१]तदुपादाय यत्र तन्नास्ति स भूमेति भूमस्वरूपं तत्र ज्ञाप्यते। अन्य-ग्रहणस्य प्राप्तप्रतिषेधार्थत्वान्न स्वात्मनि क्रियास्तित्वपरं वाक्यम्। स्वात्मनि च भेदाभावाद्विज्ञानानुपपत्तिः। आत्मनश्च विज्ञेयत्वे ज्ञात्रभावप्रसङ्गः। ज्ञेयत्वेनैव विनियुक्त-त्वात्। एक एवाऽऽत्मा ज्ञेयत्वेन ज्ञातृत्वेन चोभयथा भवंतीति चेन्न युगपदनंशत्वात्। न हि निरवयवस्य युगपज्ज्ञेयज्ञातृत्वोपपत्तिः। आत्मनश्च घटादिवद्विज्ञेयत्वे ज्ञानोपदेशा-नर्थक्यम्। न हि घटादिवत्प्रसिद्धस्य ज्ञानोपदेशोऽर्थवान्। तस्माज्ज्ञातृत्वे सत्यानन्त्यानु-पपत्तिः। सन्मात्रत्वं चानुपपन्नं ज्ञानकर्तृत्वादिविशेषवत्त्वे सति। सन्मात्रत्वं च सत्यत्वम्, "तत्सत्यमिति" (छा.उ. ६-८-७) श्रुत्यन्तरात्। तस्मात्सत्यानन्तशब्दाभ्यां सह विशेषणत्वेन ज्ञानशब्दस्य प्रयोगाद्भावसाधनो ज्ञानशब्दः। ज्ञानं ब्रह्मेति कर्तृत्वादिकारकनिवृत्त्यर्थं मृदा-

---

विशेषनिषेधः शेषाभ्यनुज्ञाविषय इति न्यायेन प्रासङ्गिकं स्वज्ञातृत्वे तात्पर्यमाशङ्क्य निषेधति — नान्यद्विजानातीत्यादिना। कर्तृत्वं कर्मत्वं चैकक्रिया[२]वच्छिन्नं धर्मद्वयं भिन्नाधिकरणं प्रसिद्धम्। स्वात्मनि च भेदाभावान्निरुपपत्तिके स्वज्ञातृत्वे तात्पर्यं कल्पयितुं न शक्यत इत्याह — स्वात्मनि चेति।

इस श्रुति में "दूसरे को नहीं जानता" इस प्रकार भेद का प्रतिषेध होने के कारण वह स्वयं अपने को ही जानता है। यदि ऐसा कहें तो यह ठीक नहीं क्योंकि यह वाक्य भूमा के लक्षण का विधायक है। "यत्र नान्यत्पश्यति" इत्यादि वाक्य भूमा के लक्षण विधान करने में तत्पर हैं। दूसरा ही दूसरे को देखता है, इस लोक प्रसिद्धि को मानकर जहाँ ऐसा नहीं है, वह भूमा है। इस प्रकार उस श्रुति द्वारा भूमा के स्वरूप का बोध कराया गया है। अन्य शब्द का ग्रहण केवल यथा प्राप्त द्वैत प्रतिषेध के लिये है। अतः यह बात अपने में क्रिया की अस्तित्व प्रतिपादक नहीं है और अपने स्वरूप में भेद का अभाव होने के कारण उसका विज्ञान होना असम्भव ही है। आत्मा में विज्ञेयत्व मानने पर ज्ञाता के अभाव का प्रसंग आ जाता है क्योंकि वह विज्ञेयरूप से ही कहा जा चुका है। (इस परिस्थिति में उसे ज्ञाता कैसे कह सकते हैं?) शङ्का—यदि एक ही आत्मा ज्ञेय और ज्ञाता उभयरूप से हो जाता है, ऐसा मानें तो; समाधानः— अंश रहित होने के कारण एक साथ उभयरूप मानना ठीक नहीं है। निरवयव ब्रह्म का एक साथ ज्ञाता और ज्ञेय होना सम्भव नहीं है। इसके अतिरिक्त घटादि के समान आत्मा को विज्ञेय मानने पर उसके ज्ञान का उपदेश करना अनर्थक हो जायगा। क्योंकि जो घटादि के समान प्रसिद्ध है, उसके ज्ञान का उपदेश सार्थक नहीं हो सकता है। अतः आत्मा में ज्ञातृत्व मानने पर उसकी अनन्तता सिद्ध नहीं हो सकती। साथ ही ज्ञान कर्तृत्वादि धर्म विशेष से युक्त होने पर उसमें तन्मात्रत्व भी कहना सम्भव नहीं है। "वह सत्य है" ऐसी दूसरी श्रुति से आत्मा का सत्यरूपत्व सिद्ध होता है। अतः सत्य और अनन्त शब्द के साथ विशेषणरूप से ज्ञान शब्द का प्रयोग किये जाने के कारण ज्ञान शब्द भाववाचक है। अतः 'ज्ञानं ब्रह्म' यह विशेषण ब्रह्म में कर्तृत्वादि कारकों की निवृत्ति के लिये

---

१. एतदिति—यथोक्तं द्वैतमिति यावत्। २. निरूपितम्।

दिवदचिद्रूपतानिवृत्त्यर्थं च प्रयुज्यते। ज्ञानं ब्रह्मेतिवचनात्प्राप्तमन्तवत्त्वम्। लौकिकस्य ज्ञानस्यान्तवत्त्वदर्शनात्। अतस्तन्निवृत्त्यर्थमाह—अनन्तमिति।

सत्यादीनाम[1]नृतादिधर्मनिवृत्तिपरत्वाद्विशेष्यस्य च ब्रह्मण उत्पलादिवदप्रसिद्धत्वात्।

"मृगतृष्णाम्भसि स्नातः खपुष्पकृतशेखरः।
एष वन्ध्यासुतो याति शशशृङ्गधनुर्धरः"।।

इतिवच्छून्यार्थतैव प्राप्ता सत्यादिवाक्यस्येति चेन्न लक्षणार्थत्वात्। विशेषणत्वेऽपि सत्यादीनां लक्षणार्थप्राधान्यमित्यवोचाम। शून्ये हि लक्ष्येऽनर्थकं लक्षणवचनं लक्षणार्थत्वान्मन्यामहे न शून्यार्थतेति। विशेषणार्थत्वेऽपि च सत्यादीनां स्वार्थापरित्याग एव।

सत्यादीनि व्यावृत्त्यर्थानीत्युक्तं तत्र शङ्कते — सत्यादीनामिति। प्रमाणान्तरसिद्धमुत्पलादि विशेष्यं दृष्टं ब्रह्म तु प्रमाणान्तरासिद्धम्। [2]पदमात्रस्याप्रमाणत्वात्सत्यादीनां च [3]व्यावृत्त्यर्थत्वादसदर्थं वाक्यं स्यादित्यर्थः। सिद्धत्वमात्रेण विशेष्यत्वे संभवति प्रमाणान्तरविशेषणमनर्थकं [4]केवलव्यतिरेकाभावान्मिथ्यार्थस्य रज्जुसर्पादेः सदधिष्ठानत्वदर्शनात्प्रपञ्चस्यापि दृश्यत्वादिहेतुभिर्मिथ्यात्वेनावगतस्य सदधिष्ठानत्वं संभाव्यते तस्य प्रपञ्चाधिष्ठानतया [5]संभावितस्य स्वरूपविशेषलक्षणार्थमिदं वाक्यं ततो नासदर्थत्वमित्याह — न लक्षणार्थत्वादिति। विशेषणार्थत्वमभ्युपगम्याऽऽह — विशेषणार्थत्वेऽपि चेति। नीलं महदित्यादिविशेषणपदानि स्वार्थसमर्पणेन तद्विरुद्धव्यावर्तकानि प्रसिद्धानि, तथा सत्यशब्दोऽप्यबाधितसत्त्वे व्युत्पन्नो ज्ञानशब्दः स्वप्रकाशे विषयसंवेदनेऽनन्तोऽयमाकाश इत्यादावनन्तशब्दो व्यापके। ततः स्वार्थसमर्पणेन विरोधिव्यावर्तकत्वा[6]न्न व्यावृत्तिमात्रपर्यवसानमित्यर्थः।

और मृत्तिकादि के समान उसकी जड़-रूपता निवृत्ति के लिये प्रयुक्त किया गया है। 'ज्ञानं ब्रह्म' ऐसा कहने से ब्रह्म में अन्तवत्त्व प्राप्त हो जाता है क्योंकि लौकिक वृत्तिरूप ज्ञान अन्तवान् ही देखा गया है। अतः उस अन्तवत्त्व की निवृत्ति के लिये 'अनन्तम्' ऐसा कहना उचित ही है।

शङ्का :— सत्यादि शब्द अनृतादि धर्मों की निवृत्ति के लिये हैं और सत्यादि विशेषणों वाले ब्रह्म की कमलादि के समान प्रसिद्धि तो है नहीं। अतः "मृगतृष्णिका के जल में स्नानकर, मस्तक पर आकाश कुसुम को धारण कर तथा हाथ में शशशृंग का धनुष लेकर यह वन्ध्या पुत्र जा रहा है" इस कथन के समान 'सत्यं ज्ञानम्' इत्यादि वाक्य की शून्यार्थता ही प्राप्त होती है। **समाधान :—** ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि सत्यादि शब्द लक्षण के लिये हैं। विशेषण होते हुए भी सत्यादि शब्द का प्रधान प्रयोजन लक्षण करना है, ऐसा हम पहले कह आये हैं। लक्ष्यशून्य रहने पर लक्षण करना अनर्थक हो जाता है। अतः लक्षणार्थ होने के कारण सत्यादि शब्दों की शून्यता कहना ठीक नहीं, ऐसा

---

१. अनृतेति भावप्रधानम्। २. ब्रह्मपदादेव सिद्धत्वमाशङ्क्याऽऽह—पदमात्रस्येत्यादि। ३. व्यावृत्त्यर्थत्वादिति—अभावार्थकत्वात् अभावस्य च शून्यात्मकत्वादिति भावः। ४. केवलव्यतिरेकाभावादिति—ब्रह्म न विशेष्यमसिद्धत्वादुत्पलवदित्यस्य स्वरूपासिद्धत्वेनासंभवादित्यर्थः। ब्रह्मणः सिद्धत्वसाधनेन स्वरूपासिद्धिं साधयति—मिथ्यार्थस्येत्यादिना। ५. अनुमानस्य प्रमाणानुग्राहकत्वमात्रमभिप्रेत्याह—संभावितस्येति। अन्यथाप्रमितस्येत्येव ब्रूयात्। ६. न व्यावृत्तिमात्रेति—व्यावृत्तेरार्थिकत्वादेवेति भावः।

[1]शून्यार्थत्वे हि सत्यादिशब्दानां विशेष्य[2]नियन्तृत्वानुपपत्तिः। सत्याद्यर्थैरर्थवत्त्वे तु तद्विपरीतधर्मवद्भ्यो विशेष्येभ्यो ब्रह्मणो विशेष्यस्य नियन्तृत्वमुपपद्यते, ब्रह्मशब्दोऽपि स्वार्थेनार्थवानेव। तत्रानन्तशब्दोऽन्तवत्त्व[3]प्रतिषेधद्वारेण विशेषणम्। सत्यज्ञानशब्दौ तु स्वार्थसमर्पणेनैव [4]विशेषणे भवतः।

"तस्माद्वा एतस्मादात्मन" (तै.उ. २-१) इति ब्रह्मण्येवाऽऽत्मशब्द-प्रयोगाद्वेदितुरात्मा एव ब्रह्म। "एतमा[5]नन्दमयमात्मानमुपसंक्रामती"ति (तै.उ. २-८) च। तत्प्रवेशाच्च। "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशदिति" (तै.उ. २-६) च तस्यैव जीवरूपेण शरीरप्रवेशं दर्शयति। अतो वेदितुः स्वरूपं ब्रह्म। एवं तर्ह्यात्म—

किंच विशेषणस्य व्यावर्तकत्वं सति [6]व्यावर्त्ये घटतेऽतो विशेषणत्वानुपपत्त्यैव सदर्थत्वं वाच्यमित्याह — शून्यार्थत्वे हीति। यच्चोक्तं ब्रह्मशब्दोऽप्रसिद्धार्थ इति तत्राऽऽह — ब्रह्मशब्दोऽपीति। "बृह बृहि वृद्धौ" इति धातोर्ब्रह्मेति शब्दो निष्पन्नो वृद्धौ महत्त्वे वर्तते। तच्च महत्त्वं देशतः कालतो वस्तुतश्चानवच्छिन्नत्वं संकोचकमानान्तराभावा[7]न्निरतिशयमहत्त्वसंपन्ने धर्मिणि [8]पर्यवस्यति। ततो वन्ध्या-सुतादिशब्दविलक्षणो ब्रह्मशब्द इत्यर्थः। सत्यादिषु त्रिषु विशेषणेष्व[9]वान्तरभेदमाह — तत्रानन्तेति।

अनन्तमित्यनेन चाऽऽत्मैक्यं ब्रह्मण उक्तमित्यभिप्रत्यैक्ये शास्त्रतात्पर्यं दर्शयति — तस्माद्वा इत्यादिना। ब्रह्मण आत्मैक्यं चेद्विवक्षितं तर्हि ज्ञानशब्दस्य भावसाधनत्वव्याख्यानं हीयेतेत्याह — एवं

हम मानते हैं विशेषण के लिये होने पर भी सत्यादि शब्दों के अपने अर्थ का त्याग नहीं होता है।

सत्यादि शब्दों के शून्यार्थ हो जाने पर तो उनमें अपने विशेष्य का नियामकत्व सिद्ध नहीं होगा किन्तु सत्यादि अर्थों से अर्थवान् होने पर ही उनके द्वारा अपने से विपरीत अनृतादि धर्म वाले विशेष्यों से अपने विशेष्य ब्रह्म का नियामकत्व बन सकता है। ब्रह्म शब्द भी अपने अर्थ से अर्थवान् ही है, उनमें अनन्त शब्द ब्रह्म के अन्तवत्त्व का प्रतिषेध द्वारा विशेषण होता है किन्तु सत्य और ज्ञान शब्द अपने अर्थों के समर्पण द्वारा ही ब्रह्म के विशेषण होते हैं।

शङ्का :— "उस पूर्वोक्त लक्षण लक्षित इस आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ" इस श्रुति में आत्मा शब्द का प्रयोग ब्रह्म अर्थ में होने के कारण ब्रह्म जानने वाले का आत्मा ही है। "इस आनन्दमय आत्मा को प्राप्त हो जाता है" यह श्रुति ब्रह्म की आत्मरूपता दिखलाती है तथा "उसे रचकर वह स्वयं उसी में प्रविष्ट हो गया" ऐसा कहकर श्रुति उस ब्रह्म का जीवरूप से प्रवेश होना दिखलाती है।

---

१. शून्यार्थत्वे—असदर्थत्वे। २. नियन्तृत्वं व्यावर्तकत्वम्। ३. प्रतिषेधद्वारेणेति—सत्यादिवन्न स्वार्थसमर्पणेनेति भावः। तदर्थस्याभाव-रूपतया भावरूपे ब्रह्मण्यभेदेन तत्समर्पणायोगात्। यद्यप्यभावोऽप्ययं न ब्रह्मणोऽतिरिच्यते तथापि ब्रह्मणोऽभाव-रूपत्वाभावादेव तथोक्तिरित्यवधेयम्। वस्तुवस्तु पूर्णत्वमेवानन्तशब्दार्थस्तस्य चानन्तशब्देनान्तवत्त्वप्रतिषेधद्वारैव समर्पणं न्याय्यं नञ्घटितशब्दैस्तथैव स्वार्थसमर्पणदर्शनात्। अभाव इत्युक्ते भावभिन्नः पदार्थविशेष इति प्रतीतेः सर्वसम्मतत्वादित्यवधेयम्। ४. विशेषणे व्यावर्तके। ५. आनन्दमयमिति—वृत्तिकारनयेनानन्दमयं ब्रह्म विवक्षित्वेदमुक्तम्। ६. व्यावर्त्ये—ब्रह्माभिन्नस्वार्थात्मके। ७. निरतिशयेति—तथा चेत्यादिः। ८. पर्यवस्यतीति—ब्रह्मशब्द इति शेषः। ९. अवान्तरभेदमिति—व्यावृत्तेरार्थिकत्वस्य त्रिष्वपि समानत्वेऽपि अनन्तशब्दे तु पुरस्तात्तद्बोधः परस्ताच्च स्वार्थबोधः। द्वयोस्तु तद्वैपरीत्यमित्यवान्तरभेदः। शब्दानां नञ्घटिताघटितत्वमेव चात्र हेतुरित्यवधेयम्।

त्वाज्ज्ञानकर्तृत्वमात्मा ज्ञातेति हि प्रसिद्धम्। "[१]सोऽकामयतेति" (तै.उ. २-६) च [२]कामिनो ज्ञानकर्तृत्वप्रसिद्धिः। अतो ज्ञानकर्तृत्वाज्ज्ञप्तिर्ब्रह्मेत्ययुक्तमनित्यत्वप्रसङ्गाच्च। यदि नाम ज्ञप्तिर्ज्ञानमिति भावरूपता ब्रह्मणस्तथाऽप्यनित्यत्वं प्रसज्येत पारतन्त्र्यं च। धात्वर्थानां कारकापेक्षत्वात्। ज्ञानं च धात्वर्थोऽतोऽस्यानित्यत्वं परतन्त्रता च। न, स्वरूपाव्यतिरेकेण कार्यत्वोपचारात्। आत्मनः स्वरूपं ज्ञप्तिर्न ततो व्यतिरिच्यतेऽतो नित्यैव तथाऽपि बुद्धेरुपाधिलक्षणायाश्चक्षुरादिद्वारैर्विषयाकारेण परिणामिन्या ये [३]शब्दाद्याकाराव-भासास्त आत्मविज्ञानस्य विषयभूता उत्पद्यमाना एवाऽऽत्मविज्ञानेन व्याप्ता उत्पद्यन्ते। तस्मादा[४]त्मविज्ञानावभासाश्च ते विज्ञानशब्दवाच्याश्च [५]धात्वर्थभूता आत्मन एव धर्मा विक्रियारूपा इत्यविवेकिभिः [६]परिकल्प्यन्ते।

तर्हीति। इतश्च भावव्युत्पत्तिरसंगतेत्याह – अनित्यत्वप्रसङ्गाच्चेति। वृत्तिमदन्तःकरणोपहितत्वेनाऽऽत्मनो ज्ञातृत्वं न स्वतः कार्यत्वं च ज्ञानस्यान्तःकरणवृत्त्युपहितत्वेन तत आत्माभिन्नत्वेऽपि ब्रह्मणो न ज्ञानकर्तृत्वं नापि कार्यत्वं प्रसज्यत इत्याह – न स्वरूपेति।

अतः उस ब्रह्म के प्रवेश होने से भी वह ब्रह्म जानने वाले का स्वरूप ही सिद्ध होता है। इस प्रकार आत्मा होने से उसमें ज्ञान का कर्तृत्व ही सिद्ध हो जाता है क्योंकि आत्मा ज्ञाता है, यह बात भी प्रसिद्ध है। "उसने कामना की" इस श्रुति से कामना करने वाले में ज्ञानकर्तृत्व की सिद्धि होती है। अतः ब्रह्म का ज्ञानकर्तृत्व सिद्ध हो जाने पर ब्रह्म चिन्मात्र स्वरूप है। ऐसा कहना असंगत है। इसके अतिरिक्त ब्रह्म में अनित्यत्व का प्रसंग भी आ जाता है। यदि ब्रह्म को चिन्मात्र स्वरूप माना जाय तो 'ज्ञप्तिर्ज्ञानम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार ज्ञान शब्द को भावार्थक मानने पर उसमें अनित्यता और परतन्त्रता प्रसक्त हो ही जायेगी क्योंकि धातु के अर्थ कारक सापेक्ष होते हैं। ज्ञान भी धातु का अर्थ है। अतः उस ज्ञान में अनित्यता और परतन्त्रता सिद्ध होगी ही । समाधानः– ऐसी बात नहीं है क्योंकि ज्ञान ब्रह्म के स्वरूप से अभिन्न होने के कारण उसमें कार्यत्व औपचारिक है। आत्मा का स्वरूप जो ज्ञप्तिमात्र है, वह आत्मा से भिन्न नहीं है। अतः ज्ञप्ति नित्य ही है। फिर भी चक्षुरादि के द्वारा विषयाकार रूप में परिणत होने वाली अन्तःकरण की वृत्ति की जो शब्दादि रूप प्रतीतियाँ हैं, वे आत्मविज्ञान की विषय होकर उत्पन्न होती हुई सदा आत्मविज्ञान से व्याप्त ही उत्पन्न होती हैं (इसीलिये वह कभी अज्ञात नहीं होती। उस बुद्धि वृत्ति की उत्पत्ति, स्थिति और विलय का प्रकाश सदा होता ही रहता है) अतः धातुओं की अर्थ स्वरूप एवं विज्ञान शब्द वाचक वे बुद्धिवृत्तियाँ नित्य विज्ञान स्वरूप आत्मा की विषयरूपा हैं। उन्हें आत्मा का ही विकाररूप धर्म कहना एकमात्र अविवेकियों की कल्पना है।

---

१. लोकप्रसिद्धिमुक्त्वा शास्त्रप्रसिद्धिवक्तुमाह–सोऽकामयतेति चेति। २. ननु कामकर्तृत्वमिदं न ज्ञानकर्तृत्वमित्यत आह–कामिन इति। कामित्वे न ज्ञानकर्तृत्वमनुमेयमित्यर्थः। ३. शब्दाद्याकारावभासा इति–शब्दाद्याकारा वृत्तय इत्यर्थः। विषयव्यञ्जकत्वादाभासतोक्तिः। व्यञ्जकत्वं संपादयति–त इत्यादिना।४. आत्मविज्ञानावभासाश्चेति–आत्मस्वरूपविज्ञानस्याभासः प्रतिबिम्बनं येषु ते तथोक्ताः।५. धात्वर्थभूताः सन्तोऽपीति शेषः। ६. परिकल्प्यन्त इति–तथा च काल्पनिकं ज्ञानकर्तृत्वमिष्टमेव, वास्तवं तु तच्छ्रुतिबाधितमिति भावः।

यत्तु ब्रह्मणो विज्ञानं तत्सवितृप्रकाशवदग्न्युष्णवच्च ब्रह्मस्वरूपाव्यतिरिक्तं स्वरूपमेव [1]तन्न कारणान्तरसव्यपेक्षम्। नित्यस्वरूपत्वात्। सर्वभावानां च तेनाविभक्त-देशकालत्वात्कालाकाशादिकारणत्वान्निरतिशयसूक्ष्मत्वाच्च न तस्यान्यदविज्ञेयं [2]सूक्ष्मं व्यवहितं विप्रकृष्टं भूतं भवद्भविष्यद्वाऽस्ति। तस्मात्सर्वज्ञं तद्ब्रह्म। मन्त्रवर्णाच्च—

"अपाणिपादो जवनो ग्रहीता [3]पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।
स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम्" इति। (श्वे. उ.-३-१९)

"न हि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यते[4]ऽविनाशित्वान्न तु तद्द्वितीयमस्ति" (बृ.उ. ४-३-३०) इत्यादिश्रुतेश्च।

विज्ञातृस्वरूपाव्यतिरेकात्करणादिनिमित्तानपेक्षत्वाच्च ब्रह्मणो ज्ञानस्वरूपत्वेऽपि

नित्यं चेज्ज्ञानं तर्हि तत्र ब्रह्मणः कर्तृत्वाभावे कथं सर्वज्ञत्वमित्यत आह — सर्वभावानां चेति। संविदव्यवधानमेव हि विषयस्य सिद्धिः सर्वं च संवित्स्वभावेन ब्रह्मणाऽव्यवहितमिति सर्वज्ञं ब्रह्मोपचर्यत इत्यर्थः। नित्यं ज्ञानं ब्रह्मणि [5]विद्यत इत्यत्र मन्त्रसंमतिमाह — मन्त्रवर्णाच्चेति।

ब्रह्मानित्यं ज्ञानत्वाल्लौकिकज्ञानवदित्यादि चोद्यमप्युक्तन्यायेन निरस्तमित्याह — विज्ञातृस्व-रूपेति। लौकिकज्ञानस्य करणादिसापेक्षत्वादनित्यत्वम्। आत्मस्वरूपं तु ज्ञानं न करणादिसापेक्षं सकलकरणव्यापारोपरमेऽपि सुषुप्ते भावादन्यथा सुषुप्तिसिद्ध्यनुपपत्तेः परामर्शासंभवप्रसङ्गादतः श्रुतितात्पर्यगम्येऽर्थे न [6]सामान्यतो दृष्टस्य प्रवेश इति भावः। आत्मनः स्वरूपभूतं ज्ञानं कारकसाध्यं

सत्य बात यह है कि उस ब्रह्म का जो विज्ञान है, वह सूर्य के प्रकाश तथा अग्नि की उष्णता के समान ब्रह्म के स्वरूप से भिन्न नहीं है, अपितु उसका स्वरूप ही है। उसे किसी भी अन्य कारण की अपेक्षा नहीं है क्योंकि वह नित्य स्वरूप है और उस ब्रह्म से सभी भाव पदार्थों के देश-काल अभिन्न हैं। वह ब्रह्म काल तथा आकाशादि का भी कारण एवं निरतिशय सूक्ष्म है। अतः ऐसी कोई सूक्ष्म, व्यवहित, विप्रकृष्ट तथा भूत, भविष्यत् या वर्तमान वस्तु नहीं है, जो उससे न जानी जाती हो। इसलिये वह ब्रह्म सर्वज्ञ कहा गया है। "वह विना हाथ के सबको पकड़ता है और बिना पाँव के सर्वत्र जाता है। नेत्र के विना ही सबको देखता है और विना कान के शब्द सुनता है। किं बहुना वह सम्पूर्ण वेद्य वस्तु को जानता है पर उसे जानने वाला कोई नहीं है। उसी को सर्वप्रथम और परम पुरुष कहा गया है" इस मन्त्र वर्ण से तथा "अविनाशी होने के कारण विज्ञाता के विज्ञान का कभी भी लोप नहीं होता और उससे भिन्न दूसरा कोई है भी नहीं" इत्यादि श्रुतियों से भी यही सिद्ध होता है।

अपने विज्ञातृ स्वरूप से अभिन्न तथा इन्द्रियादि निमित्तों की अपेक्षा न रखने के कारण ज्ञान

---

१. तन्नेत्यादि—तथा च तत्कर्तृत्वमपि ब्रह्मणो न संभवतीति भावः। २. सूक्ष्मं व्यवहितं चेत्यस्मदादिदृष्ट्या द्रष्टव्यम्। ३. पश्यत्यचक्षुरिति—न ह्यनित्यं दर्शनमन्तरेण चक्षुषा घटत इति नित्यमेव तदिति भावः। ४. अविनाशित्वाद्विनाशायोग्यत्वादित्यर्थः। ५. विद्यते तादात्म्येनेति द्रष्टव्यम्। ६. सामान्यतो दृष्टस्येति—कार्यकारणभावानापन्नहेतुसाध्यकस्य यथोक्तानुमानस्येत्यर्थः।

नित्यत्वप्रसिद्धिरतो नैव धात्वर्थस्तदक्रियारूपत्वात्। अत एव च न ज्ञानकर्तृ, तस्मादेव च न ज्ञानशब्दवाच्यमपि तद्ब्रह्म। तथाऽपि तदाभासवाचकेन बुद्धिधर्मविषयेण ज्ञान-शब्देन तल्लक्ष्यते न तूच्यते, शब्दप्रवृत्तिहेतुजात्यादिधर्मरहितत्वात्। तथा सत्यशब्देनापि सर्वविशेषप्रत्यस्तमितस्वरूपत्वाद्ब्रह्मणो [1]बाह्यसत्तासामान्यविषयेण सत्यशब्देन लक्ष्यते सत्यं ब्रह्मेति न तु सत्यशब्दवाच्यमेव ब्रह्म। एवं सत्यादिशब्दा इतरेतरसंनिधावन्योन्यनिय-म्यनियामकाः सन्तः सत्यादिशब्दवाच्यान्निवर्तका ब्रह्मणो लक्षणार्थाश्च भवन्तीत्यतः सिद्धं "यतो वाचो निवर्तन्ते। अप्राप्य मनसा सह" (तै.उ. २-४) "अनिरुक्तेऽनिलयने" (तै.उ. २-७)

धात्वर्थत्वादिति चासिद्धमित्याह — अत इति। नित्यात्मस्वरूपत्वादेवेत्यर्थः। अत एव चेति। नित्यत्वादेव ज्ञानस्य न तत्र कर्तृत्वमपि ब्रह्मण आपादयितुं शक्यते। लौकिकानित्यज्ञानविलक्षणत्वादेव च ज्ञानशब्दवाच्यमपि ब्रह्म न भवतीत्याह — तस्मादेव चेति। कथं तर्हि विज्ञानं ब्रह्मेति प्रयोगस्तत्राऽऽह — तथाऽपीति। शब्दस्य प्रवृत्तिहेतवो जात्यादिधर्मा गौः शुक्ल इत्यादौ तदभावाच्छब्दान्तरेणापि वाच्यं न भवतीत्याह — तथेति। तथा सत्यशब्देनापि न वाच्यं ब्रह्मेति शेषः। एतत्स्फुटयति — सर्वविशेषेति। सत्ता यस्यास्ति तत्सत्यमिति लोकरूढिः। सत्ता चानुगतरूपं सामान्यं व्यावृत्ताः [2]सत्ताविशेषाः। स चायमनुवृत्तव्यावृत्तभावो न वस्तु [3]परस्परापेक्षसिद्धत्वादतो यस्मिन्नयं व्यावृत्तानुवृत्तभावः कल्पितस्तदव्यावृत्ताननुगतं ब्रह्म लक्ष्यत इत्यर्थः। एवमेकैकस्य शब्दस्यार्थमुक्त्वा वाक्यार्थमाह — एवं सत्यादीति। [4]यद्यपि सत्यादिशब्दानां ब्रह्मणा मुख्योऽन्वयस्तथाऽप्यरुणयैकहायन्यादिवत्पार्ष्णि-कान्वयेनेतरेतरसंनिधावन्योन्यस्य वृत्तिनियामका भवन्ति। ज्ञानेन विशेषणात्सत्यशब्दो न जडे कारणे वर्तते। सत्येन विशेषणाज्ज्ञानशब्दो न विषयसापेक्षे ज्ञाने वर्तते। ज्ञानेन विशेषणान्नानन्तशब्दो ज्ञातृव्यतिरिक्ते वर्तते। ततश्च सत्यादिशब्देन यल्लौकिकं वाच्यं [5]तद्विलक्षणेन भवितव्यमिति [6]संभावयन्तः सकललौकिकाध्यासाधिष्ठानं ब्रह्मत्वेन लक्षयन्तीत्यर्थः। ततः किं फलतीत्यत आह — अतः सिद्धमिति।

स्वरूप होता हुआ भी ब्रह्म का नित्यत्व प्रसिद्ध ही है। अतः क्रियारूप न होने के कारण वह ज्ञान धात्वर्थ नहीं है। अतएव वह ज्ञान का कर्ता भी नहीं है और इसीलिये वह ज्ञान शब्द का वाच्य अर्थ भी नहीं है। इतने पर भी बुद्धि वृत्ति ज्ञानाभ्यास के वाचक ज्ञान शब्द से वह लक्षित होता है न कि ज्ञान शब्द से कहा जाता है क्योंकि शब्द की प्रवृत्ति के हेतुरूप जाति आदि धर्मों से वह रहित है। इसी प्रकार सत्य शब्द से भी वह लक्षित ही होता है। ब्रह्म का स्वरूप सभी विशेषणों से शून्य है। अतः सामान्यरूप से सत्य शब्द द्वारा ब्रह्म की बाह्य सत्यता ही उपलक्षित होती है। इसलिये 'सत्यं ब्रह्म' ऐसा कहा गया है। ब्रह्म सत्य शब्द का वाच्यार्थ कभी भी नहीं हो सकता। इस प्रकार ये सत्यादि शब्द एक दूसरे की सन्निधि से परस्पर नियम्य-नियामक होते हुए सत्यादि शब्दों के वाच्य

---

१. बाह्येत्यादि—बाह्या घटादयस्तेषां सत्तासामान्यं तद्विषयेणेत्यर्थः। २. सत्ताविशेषाः सत्ताया विशेषा आश्रया व्यक्तय इति यावत्। ३. परस्परापेक्षसिद्धत्वात्—परस्परापेक्षसिद्धिकत्वादिति यावत्। ४. सत्यादि शब्दा न परस्परं संबध्यन्त इत्याद्यु (६९पृ.) क्तभाष्यविरोधं परिजिहीर्षन्नाह—यद्यपीत्यादि। तथा च पूर्वभाष्यस्य मुख्यान्वयनिषेधपरत्वात्प्रकृतस्य च तस्य पार्ष्णिकान्वयपरत्वान्न विरोध इति भावः। ५. तद्विलक्षणेनेति—तद्विलक्षणार्थेन प्रकृतसत्यादिशब्देनेत्यर्थः। यद्वा प्रकृतसत्यादिशब्दार्थेनेति शेषः। ६. संभावयन्तः सत्यादिशब्दा इति शेषः। संभावनां जनयन्त इत्यर्थः।

इति चावाच्यत्वं नीलोत्पलवदवाक्यार्थत्वं च ब्रह्मणः।

तद्यथाव्याख्यातं ब्रह्म यो वेद विजानाति निहितं स्थितं गुहायाम्। गूहतेः संवरणार्थस्य निगूढा अस्यां ज्ञानज्ञेयज्ञातृपदार्था इति गुहा बुद्धिः। गूढावस्यां भोगापवर्गौ पुरुषार्थाविति वा तस्यां परमे प्रकृष्टे व्योमन्व्योम्न्याकाशेऽव्याकृताख्ये। तद्धि परमं व्योम "एतस्मिन्खल्वक्षरे गार्ग्याकाशः" (बृ.उ. ३-८-११) इत्यक्षरसंनिकर्षात्। गुहायां व्योम्नीति वा सामानाधिकरण्यादव्याकृताकाशमेव गुहा, तत्रापि निगूढाः सर्वे पदार्थास्त्रिषु कालेषु कारणत्वात्सूक्ष्मतरत्वाच्च। तस्मिन्नन्तर्निहितं ब्रह्म। हार्दमेव तु परमं व्योमेति न्याय्यं विज्ञानाङ्गत्वेनो[1]पासनाङ्गत्वेन व्योम्नो विवक्षितत्वात्।

शक्त्या बोधकशब्दानङ्गीकारादवाच्यत्वं सकलानिष्टव्यवच्छेदेनैकस्यैव लक्ष्यत्वाभ्युपगमाच्च गुणगुण्यादिसंभेदरूपवाक्यार्थ[2]वैलक्षण्यं च ब्रह्मणः सिद्धमित्यर्थः।

बुद्धौ कार्ये यदनुगतं परमं व्योमाव्याकृताख्यं तस्मिन्निहितमिति सप्तमीद्वयं वैयधिकरण्येन व्याख्यातम्। व्योमशब्दस्य भूताकाशे रूढिं परित्यज्य किमित्यव्याकृतविषयत्वं व्याख्यातं तत्राऽऽह – तद्धीति। भूताकाशस्य कार्यत्वेना[3]परमत्वादव्याकृताकाशस्य कारणत्वेन परमत्वविशेषणसंभवाच्छाखान्तरे शतपथे चाक्षरेण ब्रह्मणा सामीप्यावगमादव्याकृतं व्योमशब्देन लक्ष्यत इत्यर्थः। एवं पराभिप्रायेण व्याख्याय स्वाभिप्रायं व्याचष्टे – हार्दमेव त्विति। हृदयावच्छिन्ने भूताकाशे या गुहा तस्यां बुद्धौ साक्षितया निहितमभिव्यक्तं ब्रह्मेति व्याख्यानं युक्तम्। द्रष्टृभेदेन ब्रह्मण आपरोक्ष्यलाभात्। अन्यथा समष्टिरूपेऽव्याकृते मायातत्त्वेऽवस्थितं ब्रह्मेत्युक्ते ब्रह्मणः पारोक्ष्यं प्रसज्येत, पारोक्ष्येण च ज्ञानं नापरोक्षसंसाराध्यासनिवर्तकम्। तस्मादपरोक्षद्रष्टृचैतन्याभेदेन ब्रह्मणः स्वहृदये प्रत्यक्षताया विवक्षितत्वाद्धृदयाकाशमेव विज्ञानशेषभूतं विवक्षितमित्यर्थः।

अर्थ से ब्रह्म को पृथक् रखने वाले हैं और ब्रह्म के लक्षण करने में उपयोगी हैं। अतः "जहाँ से मन के सहित वाणी उसे न प्राप्तकर लौट आती है" "जो वाणी का अविषय और अनाश्रित हैं" इत्यादि श्रुतियों के अनुसार ब्रह्म में सत्यादि शब्दों का वाच्यत्व और नील कमल के समान वाक्यार्थत्वाभाव सिद्ध होता है।

उपर्युक्त प्रकार से व्याख्या किये गये उस ब्रह्म को जो पुरुष बुद्धिरूप गुफा में छिपा हुआ जानता है। आच्छादनार्थक 'गुह' धातु से गुहा शब्द बनता है। इस गुहा में ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय पदार्थ छिपे हुए हैं। इसीलिये बुद्धि को गुहा कहते हैं अथवा इसमें भोग और मोक्ष ये पुरुषार्थ निगूढ़ावस्था में स्थित होने के कारण इसे गुहा कहा है। उसके भीतर उत्कृष्ट आकाश में अर्थात् अव्याकृत आकाश में सार पदार्थ छिपे हुए हैं। इसीलिये इसे गुहा कहते हैं। 'हे गार्गि! निःसन्देह इस अक्षर में ही आकाश ओत-प्रोत है" इस श्रुति के अनुसार अक्षर के सन्निकर्ष से यह अव्याकृत आकाश ही परम आकाश है अथवा "गुहायां व्योम्नि" इस प्रकार इन दोनों पदों का सामानाधिकरण्य होने के कारण

---

१. उपासनेति–ध्यानमपि सदृशं ज्ञानायोपयुज्यत एवेति ज्ञानप्रकरणेऽपि ध्यानाङ्गत्वोक्तिर्व्योम्नो न विरुध्यत इत्यवधेयम्। वस्तुतस्तु प्रक्षिप्त एवायं पाठः। आदर्शपुस्तकेऽनुपलम्भात्। २. वैलक्षण्यमिति–अखण्डवाक्यार्थत्वरूपमित्यर्थः। न तु संसृष्टरूपत्वम्। ३. अपरमत्वादिति पाठः।

"[1]यो वै स बहिर्धा पुरुषादाकाशो यो वै सोऽन्तः पुरुष आकाशो योऽयमन्तर्हृदय आकाशः" इति श्रुत्यन्तरात्प्रसिद्धं हार्दस्य व्योम्नः परमत्वम्। तस्मिन्हार्दे व्योम्नि या बुद्धिर्गुहा तस्यां निहितं ब्रह्म तद्वृत्त्या विविक्ततयोपलभ्यत इति। न ह्यन्यथा विशिष्टदेशकालसंबन्धोऽस्ति ब्रह्मणः सर्वगतत्वान्निर्विशेषत्वाच्च।

स एवं ब्रह्म विजानन्किमित्याह—अश्नुते भुङ्क्ते सर्वान्निरवशिष्टान्कामान्भोगानित्यर्थः। किमस्मदादिवत्पुत्रस्वर्गादीन्पर्यायेण? नेत्याह। सह युगपदेकक्षणोपारूढानेवैकयोपलब्ध्या सवितृप्रकाशवन्नित्यया ब्रह्मस्वरूपाव्यतिरिक्तया यामवोचाम सत्यं ज्ञानमनन्तमिति। एतत्तदुच्यते—[2]ब्रह्मणा सहेति। ब्रह्मभूतो विद्वान्ब्रह्मस्वरूपेणैव सर्वान्कामान्सहाश्नुते, न यथोपाधिकृतेन स्वरूपेणाऽऽत्मना जलसूर्यकादिवत्प्रतिबिम्ब-

---

[3]यदुक्तं भूताकाशस्य परमत्वानुपपत्तिरिति तत्राऽऽह—यो वा इति। ननु निहितशब्दः स्थितिं ब्रूते कथं विविक्ततया स्फुटतयोपलम्भाभिप्रायेण व्याख्यायते तत्राऽऽह—न हीति। अन्यथेति। उपलम्भव्यतिरेकेण।

आकाश ही गुहा शब्द से कहा गया है क्योंकि सब का कारण और सूक्ष्मतर होने से उसमें भी तीनों कालों में सभी पदार्थ छिपे हुए हैं। इतना ही नहीं अपितु ब्रह्म भी उसी के भीतर स्थित है। परन्तु उचित तो यही है कि हृदयाकाश ही परमाकाश है क्योंकि उस आकाश को उपासना के अंगरूप से यहाँ पर बतलाना अभीष्ट ही है।

"जो आकाश इस शरीररूप पुर से बाहर है" "जो आकाश इस पुरुष के भीतर है" "जो यह आकाश हृदय के भीतर है" इन अन्य श्रुतियों से हृदयाकाश का परमत्व प्रसिद्ध ही है। उस हृदयाकाश में जो बुद्धिरूप गुहा है, उसमें ब्रह्म निहित है अर्थात् बुद्धिवृत्ति से पृथक् रूप में वह स्पष्ट उपलब्ध होता है अन्यथा किसी भी विशेष देश या काल में ब्रह्म का सम्बन्ध नहीं है क्योंकि वह सर्वव्यापक और निर्विशेष है।

इस प्रकार ब्रह्म को जानने वाला वह ब्रह्मवेत्ता पुरुष क्या करता है? इस पर श्रुति कहती है कि वह निःशेष कामनाओं, अर्थात् इष्ट भोगों को भोगता है। तो फिर क्या वह ब्रह्मवेत्ता पुरुष भी हम लोगों के समान पुत्र एवं स्वर्गादि भोगों को क्रमशः भोगता है? इस पर श्रुति कहती है। नहीं, उन्हें एक साथ भोगता है, जैसे सूर्य सम्पूर्ण जगत् को एक साथ प्रकाशता है वैसे ही वह ब्रह्मवेता पुरुष भी एक ही क्षण में बुद्धि वृत्ति पर आरूढ़ सम्पूर्ण भोगों को नित्य एवं ब्रह्मस्वरूप से अभिन्न एक ही उपलब्धि द्वारा अनुभव करता है। जिस उपलब्धि को हमने 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इस श्रुति के द्वारा

---

१. यो वा इति। अत्रायं श्रुतिपाठः—"यद्वै तद्ब्रह्मेतीदं वाव तद्योऽयं बहिर्धा पुरुषादाकाशो यो वै स बहिर्धा पुरुषादाकाशः। अयं वाव स योऽयमन्तः पुरुष आकाशो यो वै सोऽन्तः पुरुष आकाशः। अयं वाव स योऽयमन्तर्हृदय आकाशस्तदेतत्पूर्णमप्रवर्ति पूर्णामप्रवर्तिनीं श्रियं लभते य एवं वेद" छा. ३।१२।७-९। इति। २. देहलीदीपकन्यायेन सहेत्यस्योभयत्रान्वयमभिप्रेत्याह—ब्रह्मणा सहेति। ३. भूताकाशपरत्वे परमत्वानुपपत्तिमुक्तामनूद्योत्तरमवतारयति—यदुक्तमित्यादिना।

भूतेन सांसारिकेण धर्मादिनिमित्तापेक्षांश्चक्षुरादिकरणापेक्षांश्च कामान्पर्यायेणाश्नुते लोकः। कथं तर्हि? यथोक्तेन प्रकारेण सर्वज्ञेन सर्वगतेन सर्वात्मना नित्यब्रह्मात्मस्वरूपेण धर्मादिनिमित्तानपेक्षांश्चक्षुरादिकरणनिरपेक्षांश्च सर्वान्कामान्सहैवाश्नुत इत्यर्थः। विपश्चिता मेधाविना सर्वज्ञेन। तद्धि वैपश्चित्यं यत्सर्वज्ञत्वं तेन सर्वज्ञस्वरूपेण ब्रह्मणाऽश्नुत इति। इतिशब्दो मन्त्रपरिसमाप्त्यर्थः।

सर्व एव वल्ल्यर्थो ब्रह्मविदाप्नोति परमिति ब्राह्मणवाक्येन सूत्रितः। स च सूत्रितोऽर्थः संक्षेपतो मन्त्रेण व्याख्यातः। पुनस्तस्यैव विस्तरेणार्थनिर्णयः कर्तव्य इत्युत्तरस्तद्वृत्तिस्थानीयो ग्रन्थ आरभ्यते तस्माद्वा एतस्मादित्यादिः। तत्र च सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मेत्युक्तं मन्त्रादौ तत्कथं सत्यं ज्ञानमनन्तं चेत्यत आह। तत्र त्रिविधं ह्यानन्त्यं देशतः कालतो वस्तुतश्चेति। तद्यथा देशतोऽनन्त आकाशो न हि देशतस्तस्य परिच्छेदोऽस्ति। न तु कालतश्चाऽऽनन्त्यं वस्तुतश्चाऽऽकाशस्य। कस्मात्? कार्यत्वात्।

अविद्यावस्थायां ये सुखविशेषा हिरण्यगर्भाद्युपाधिषु भोग्यत्वेनाभिमतास्तेषां सर्वेषां ब्रह्मानन्दाव्यतिरेकाद्ब्रह्मीभूतो विद्वान्सर्वानेवाऽऽनन्दानश्नुत इत्युपचारेण बहुवचनमित्यर्थः।

वृत्तमनुवदत्युत्तरग्रन्थावतारणाय — सर्व एवेत्यादिना। आकाशादिकारणत्वाभिधानेनाऽऽनन्त्य-प्रपञ्चः क्रियत इति समनन्तरग्रन्थतात्पर्यं दर्शयितुं पूर्वोक्तेष्वर्थविशेषमनुवदति —तत्र चेति। वस्तुत

बतलाया था, उसी से भोगता है। यही वात "ब्रह्मणा सह सर्वान्कामानश्नुते' इस वाक्य से कही गयी है। ब्रह्मभूत विद्वान् ब्रह्म स्वरूप से ही सम्पूर्ण भोगों को एक साथ भोगता है। अन्य लोगों की भाँति जलगत प्रतिबिम्बित सूर्य के समान अपने औपाधिक और सांसारिक आत्मा के द्वारा धर्मादि निमित्त की अपेक्षा रखने वाले तथा चक्षुरादि इन्द्रियों की अपेक्षा से युक्त सम्पूर्ण भोगों को क्रमशः नहीं भोगता, तो फिर कैसे भोगता है? वह उपर्युक्त प्रकार से सर्वज्ञ, सर्वगत, सर्वव्यापक, सर्वात्मा एवं नित्य ब्रह्मात्म स्वरूप से धर्मादि निमित्त की अपेक्षा विना ही एवं चक्षुरादि इन्द्रियों से भी निरपेक्ष होकर सम्पूर्ण भोगों को एक साथ ही प्राप्त कर लेता है। यही इसका तात्पर्य है। ब्रह्म का जो सर्वज्ञत्व है, वही उस ब्रह्मवेत्ता पुरुष की विद्वत्ता है। उस सर्वज्ञ स्वरूप ब्रह्मरूप से ही वह ब्रह्मवेत्ता पुरुष उन्हें भोगता है। मूलमन्त्र में 'इति' शब्द वल्ली की समाप्ति सूचित करने के लिये ही है।

"ब्रह्मविदाप्नोति परम्" इस ब्राह्मण वाक्य द्वारा इस सम्पूर्ण वल्ली का तात्पर्यार्थ सूत्ररूप से कह दिया गया है। उसी सूत्ररूप से कहे गये अर्थ की मन्त्र द्वारा संक्षेपतः व्याख्या की गयी है। अब पुनः विस्तार से उसी का अर्थ निर्णय करना है। इसीलिये "तस्माद्वा एतस्मात्" इत्यादि उसका वृत्ति रूप आगे का ग्रंथ प्रारम्भ किया जाता है। उस मन्त्र में सर्वप्रथम "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" ऐसा कहा गया है। वह सत्य, ज्ञान और अनन्त कैसा है, इसे बतलाते हैं—देशतः, कालतः और वस्तुतः ऐसी अनन्तता तीन प्रकार की है। उनमें से जैसे आकाश देशतः अनन्त है क्योंकि उसका देशकृत परिच्छेद नहीं होता है, फिर भी काल से और वस्तु से आकाश की अनन्तता नहीं है क्योंकि आकाश भी कार्य है, ब्रह्म आकाश के समान किसी का कार्य न होने के कारण, इस प्रकार ब्रह्म का काल से भी अन्त नहीं

नैवं ब्रह्मण आकाशवत्कालतोऽप्यन्तवत्त्वमकार्यत्वात्। कार्यं हि वस्तु कालेन परिच्छिद्यते। अकार्यं च ब्रह्म। तस्मात्कालतोऽप्यनन्तम्। तथा वस्तुतः। कथं पुनर्वस्तुत आनन्त्यं सर्वानन्यत्वात्। भिन्नं हि वस्तु वस्त्वन्तरस्यान्तो भवति। वस्त्वन्तरबुद्धिर्हि प्रसक्ता वस्त्वन्तरान्निवर्तते। यतो यस्य बुद्धेर्विनिवृत्तिः स तस्यान्तः। तद्यथा गोत्वबुद्धिरश्वत्वाद्विनिवर्तत इत्यश्वत्वान्तं गोत्वमित्यन्तवदेव भवति। स चान्तो भिन्नेषु वस्तुषु दृष्टो नैवं ब्रह्मणो भेदः। अतो वस्तुतोऽप्यानन्त्यम्। कथं पुनः सर्वानन्यत्वं ब्रह्मण इत्युच्यते, सर्ववस्तुकारणत्वात्। सर्वेषां हि वस्तूनां कालाकाशादीनां कारणं ब्रह्म। कार्यापेक्षया वस्तुतोऽन्तवत्त्वमितिचेन्न। अनृतत्वात्कार्यवस्तुनः। न हि कारणव्यतिरेकेण कार्यं नाम वस्तुतोऽस्ति। यतः कारणबुद्धिर्विनिवर्तेत। वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यमेवं सदेव सत्यमिति (छा. उ. ६-१-४) श्रुत्यन्तरात्। तस्मादाकाशादिकारणत्वाद्देशतस्तावदनन्तं ब्रह्म। आकाशो ह्यनन्त इति प्रसिद्धं देशतस्तस्य चायं कारणं तस्मात्सिद्धं देशत आत्मन आनन्त्यम्। न ह्यसर्वगतात्सर्वगतमुत्पद्यमानं लोके किंचिद्दृश्यते। अतो निरतिशयमात्मन

आनन्त्यं व्याख्यातुं वस्तुतोऽन्तवत्त्वं तावदाह — भिन्नं हीत्यादिना। विस्तरेणोक्तमानन्त्यं संक्षिप्याऽऽह — तस्मात्सिद्धमिति। देशतोऽनवच्छिन्नस्याऽऽकाशस्य कारणत्वाद्व्यापकत्वान्निरतिशयमात्मनो देशत आनन्त्यमकार्यत्वाच्च कालत आनन्त्यं तद्यतो व्यावर्तेत तस्य पृथगसत्त्वात्कार्यस्योपादानादन्यत्र सत्त्वा-

---

है। क्योंकि कार्यरूप वस्तु ही काल पाकर नष्ट होने के कारण काल से परिच्छिन्न हुआ करती है। ब्रह्म किसी का कार्य नहीं है। इसीलिये उसकी काल से अनन्तता है वैसे ही वस्तु से भी ब्रह्म की अनन्तता है। वस्तु से अनन्तता उसमें किस प्रकार है? क्योंकि वह सबसे अभिन्न है। परस्पर भिन्न वस्तु ही एक दूसरी भिन्न वस्तु का अन्त हुआ करती है। किसी भिन्न वस्तु में गयी हुई बुद्धिवृत्ति ही किसी अन्य प्रसक्त वस्तु से पृथक् की जाती है जो बुद्धि किसी भिन्न पदार्थ से निवृत्त होती है, वही उस पदार्थ का अन्त है। जैसे गोत्व बुद्धि अश्वत्व बुद्धि से निवृत्त होती है। इसलिये गोत्व का अन्त अश्वत्व हो जाता है। अतः वह अन्तवान् ही है और ऐसा अन्त भिन्न पदार्थों में ही देखा जाता है किन्तु ब्रह्म का ऐसा कोई भेद नहीं है। अतः ब्रह्म में वस्तु से भी अनन्तता है। ब्रह्म की सबसे अभिन्नता किस प्रकार समझे; इसे बतलाते हैं—ब्रह्म सम्पूर्ण वस्तुओं का कारण है (इसीलिये सबसे उसकी अभिन्नता है) यदि कहो तब तो कार्य की अपेक्षा से वस्तुकृत अन्तवत्त्व हो जायेगा ही तो ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि कार्यरूप वस्तु मिथ्या है। वास्तव में कारण से भिन्न कार्य है ही नहीं, जिससे कि कारण बुद्धि की निवृत्ति कार्य में हो सके "वाणी से कहे जाने वाला विकार केवल नाममात्र है, मृत्तिका ही सत्य है" इसी प्रकार "सत् ही सत्य है" ऐसा दूसरी श्रुति से भी सिद्ध होता है। अतः आकाश आदि का कारण होने से ब्रह्म देश से भी अनन्त है। आकाश देशतः अनन्त है। यह तो सर्व प्रसिद्ध है ही। ऐसे व्यापक आकाश का यह ब्रह्म कारण होने से इसका देशकृत अनन्तत्व सुतरां सिद्ध है क्योंकि लोक में असर्वव्यापक वस्तु से कोई सर्वव्यापक वस्तु उत्पन्न होती नहीं देखी जाती है। अतः आत्मा का देशतः निरतिशय अनन्तत्व सिद्ध हुआ। इसी प्रकार किसी का कार्य न होने के कारण वह कालतः

आनन्त्यं देशतस्तथाऽकार्यत्वात्कालतस्तद्भिन्नवस्त्वन्तराभावाच्च वस्तुतोऽत एव निरतिशयसत्यत्वम्।

तस्मादिति मूलवाक्यसूत्रितं ब्रह्म परामृश्यते। एतस्मादितिमन्त्रवाक्येणानन्तरं यथालक्षितम्। यद्ब्रह्माऽऽदौ ब्राह्मणवाक्येन सूत्रितं यच्च सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मेत्यनन्तरमेव लक्षितं तस्मादेतस्माद्ब्रह्मण आत्मन आत्मशब्दवाच्यात्। आत्मा हि तत्सर्वस्य "तत्सत्यं स आत्मेति (छा.उ. ६-८-७)" श्रुत्यन्तरादतो ब्रह्माऽऽत्मा। तस्मादेतस्माद्ब्रह्मण आत्मस्वरूपादाकाश संभूतः समुत्पन्नः। आकाशो नाम शब्दगुणोऽवकाशकरो मूर्तद्रव्याणाम्। तस्मादाकाशात्स्वेन स्पर्शगुणेन पूर्वेण च कारणेन शब्देन द्विगुणो वायुः। संभूत इत्यनुवर्तते। वायोश्च स्वेन रूपगुणेन पूर्वाभ्यां च त्रिगुणोऽग्निः संभूतः। अग्नेः स्वेन रसगुणेन पूर्वैश्च त्रिभिश्चतुर्गुणा आपः संभूताः। अद्भ्यः स्वेन गन्धगुणेन पूर्वैश्चतुर्भिः

योगाद्वस्तुतोऽप्यानन्त्यं सिद्धमित्यर्थः। अत इति। निरतिशयानन्त्यादेव [1]सत्यत्वमपि सिद्धमन्तवत एव रज्जुसर्पादिवदसत्यत्वादित्यर्थः।

एवं सृष्टिवाक्यतात्पर्यमुक्त्वा पदानि विभजते — तस्मादित्यादिना। अन्त्यकार्यपर्यन्तं परमात्मनः सर्वत्रोपादानत्वादाकाशभावापन्नात्परमात्मन एव वायुः संभूतो[2]ऽत एव तद्गुणस्योत्तरत्रानुवृत्ति-

---

अनन्त भी है, साथ ही उससे भिन्न पदार्थ का सर्वथा अभाव होने के कारण उसमें वस्तुतः अनन्तता भी है। अत एव आत्मा में निरतिशय सत्यत्व है।

मन्त्र में आये हुए 'तस्मात्' इस पद के द्वारा मूल वाक्यों में सूत्ररूप से कहे हुए ब्रह्म पद का परामर्श होता है और तदनन्तर 'एतस्मात्' इत्यादि मन्त्र वाक्य से भी पूर्व निर्दिष्ट ब्रह्म ही उपलक्षित होता है। तात्पर्य यह है कि पहले ब्राह्मण वाक्य द्वारा जिस ब्रह्म का सूत्ररूप से उल्लेख किया गया है और जो तत्पश्चात् 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इस वाक्य से लक्षित किया गया है, उसी इस ब्रह्मस्वरूप आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ। आत्मा और ब्रह्म का अभेद है; इसे 'तत्सत्यं स आत्मा' इस श्रुति द्वारा यही निश्चय किया जा सकता है। अतः यहाँ पर ब्रह्म ही आत्मा है, उसी आत्मस्वरूप ब्रह्म से आकाश का उत्पन्न होना कहा गया है। शब्द गुण वाला, समस्त मूर्त पदार्थों को अवकाश देने वाला आकाश है। ऐसे आकाश से अपने गुण स्पर्श और पूर्ववर्ती आकाश के गुण शब्द से युक्त दो गुण विशिष्ट वायु उत्पन्न हुआ। यहाँ पर प्रथम वाक्यगत 'सम्भूतः' इस क्रिया पद की अनुवृत्ति आगे के वाक्य में भी की जाती है। वायु से अपने गुणरूप और पहले के दो गुणों के सहित तीन गुण वाला अग्नि उत्पन्न हुआ और अग्नि से अपने गुण रस और पूर्व के तीन गुणों के सहित सभी चार गुण वाला जल उत्पन्न हुआ और जल से अपने गुण गन्ध और पहले के चार गुणों से युक्त पाँच गुणों वाली पृथिवी उत्पन्न हुई, पृथिवी से औषधियाँ, औषधियों से अन्न हुआ और उस वीर्यरूप में परिणत हुए अन्न से मस्तक तथा हस्त

---

१. सत्यत्वमपीति—सत्यत्वादेव चाजडत्वमपि सिद्धं जडस्य सत्यत्वादर्शनादिति विभावनीयम्। २. अत एवेति—वायुर्यदि परमात्मन एव तदा शब्दो नानुवर्तेत यदि त्वाकाशादेव न तदाऽऽत्मनः सर्वकारणत्वमिति भावः।

पञ्चगुणा पृथिवी संभूता। पृथिव्या ओषधयः। [१]ओषधीभ्योऽन्नम्। अन्नाद्रेतोरूपेण परिणतात्पुरुषः शिरःपाण्याद्याकृतिमान्। स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयोऽन्नरसविकारः। पुरुषाकृतिभावितं हि सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यस्तेजः संभूतं रेतो बीजं तस्माद्यो जायते सोऽपि तथा पुरुषाकृतिरेव स्यात्। सर्वजातिषु जायमानानां जनकाकृतिनियमदर्शनात्।

सर्वेषामप्यन्नरसविकारत्वे ब्रह्मवंश्यत्वे चाविशिष्टे कस्मात्पुरुष एव गृह्यते? प्राधान्यात्। किं पुनः प्राधान्यम्। कर्मज्ञानाधिकारः। पुरुष एव हि शक्तत्वादर्थित्वादपर्युदस्तत्वाच्चार्थी विद्वान्समर्थः कर्मज्ञानयोरधिक्रियते— "पुरुषे त्वेवाऽऽविस्तरामात्मा स हि प्रज्ञानेन संपन्नतमो [२]विज्ञातं पश्यति वेद श्वस्तनं वेद लोकालोकौ मर्त्येनामृतमीप्सति" इत्येवं संपन्नः, अथेतरेषां पशूनाम[३]शनापिपासे एवाभिविज्ञानमित्यादिश्रुत्यन्तरदर्शनात्।

र्गुणशब्दप्रयोगोऽपि भेदकल्पनया तत्तन्त्रत्वाभिप्रायेण न वैशेषिकपक्षवत्तत्त्वभेदाभिप्रायेण तत्त्वतो भेदे प्रमाणाभावादिति द्रष्टव्यम्।

पुरुषग्रहणस्य तात्पर्यमाह — सर्वेषामपीति। शक्तत्वादिति विधिनिषेधविवेकसामर्थ्योपेतत्वादित्युक्तं तत्रैतरेयकश्रुतिसंमतिमाह — पुरुषे त्वेवेति। ब्राह्मण्यादिजातिमति [४]मनुष्यादिदेहआविस्तरामतिशयेनप्रकट आत्मा ज्ञानातिशयदर्शनादित्यर्थः। मर्त्येन ज्ञानकर्मादिसाधनेनाक्षयफलं प्राप्तुमिच्छतीत्यर्थः। येन विवेकज्ञानेन पुरुषस्य प्राधान्यं विवक्षितं तत्पश्वादीनां नास्तीत्याह — अथेतरेषामिति।

पादादि आकृति वाला पुरुष उत्पन्न हुआ। वही यह पुरुष अन्न और रस का विकार होने से अन्नरसमय है। पुरुष के आकार की वासना से युक्त तथा उसके सम्पूर्ण अङ्गों से उत्पन्न हुआ तेजःस्वरूप रेत ही उन सव का बीज है। इसीलिये उससे जो उत्पन्न होता है, वह भी उसी के समान पुरुषाकार ही होता है क्योंकि सभी जातियों में उत्पन्न होने वाले देहों में पिता के समान आकृति होने का नियम देखा जाता है।

शङ्काः— सृष्टि में सभी शरीर समान रूप से अन्न और रस के विकार हैं एवं ब्रह्म के वंश में उत्पन्न हुए हैं, फिर भला वहाँ पर पुरुष ही क्यों ग्रहण किया गया है? समाधान :— सभी शरीरों में पुरुष की प्रधानता होने के कारण ही ऐसा किया गया है। शङ्का—पुरुष की प्रधानता क्यों है? समाधान :— कर्म और ज्ञान का अधिकार (पुरुष की प्रधानता का द्योतक है) ज्ञान और कर्म साधन में समर्थ एवं उनके फल का इच्छुक तथा उससे उदासीन न होने के कारण मनुष्य ही कर्म तथा ज्ञान का अधिकारी है "इसी पुरुष में आत्मा का पूर्णरूपेण आविर्भाव हुआ है। वही प्रकृष्ट ज्ञान से सर्वाधिक सम्पन्न है। इसीलिये वह विज्ञात वस्तु को कहता है, विज्ञात वस्तु को देखता है, वह भावी वात को भी जान सकता है, लोकालोक को जानता है एवं सभी लोकों को नश्वर कर्म तथा उपासनारूप साधन से अमर पद को चाहता है" ऐसा वह विवेक सम्पन्न है। "उससे भिन्न पशुओं को तो केवल भूख-प्यास का ही विशेष ज्ञान होता है" ऐसी दूसरी श्रुति को देखने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

---

१. ओषधीभ्य इति—"ओषधेश्च विभक्तावप्रथमायाम्" इति च्छान्दसं दैर्घ्यम्। २. विज्ञातमिति—विहितत्वादिनाऽवगतमित्यर्थः। ३. अशनापिपासे—इत्यभिनिबन्धना द्वितीया। ४. मनुष्यादीत्यादिना सुरासुरादिसंग्रहस्तत्राप्युक्तजातिभावात्।

स हि पुरुष इह विद्ययाऽन्तरतमं ब्रह्म संक्रामयितुमिष्टस्तस्य च बाह्याकार-विशेषेष्वनात्मस्वात्मभाविता बुद्धिरनालम्ब्य विशेषं कंचित्सहसाऽन्तरतमप्रत्यगात्म-विषया निरालम्बना च कर्तुमशक्येति दृष्टशरीरात्मसामान्यकल्पनया शाखाचन्द्रनिदर्श-नवदन्तः प्रवेशयन्नाह—तस्येदमेव शिरः। तस्यास्य पुरुषस्यान्नरसमयस्येदमेव शिरः प्रसिद्धम्। प्राणमयादिष्व[1]शिरसां शिरस्त्वदर्शनादिहापि [2]तत्प्रसङ्गो मा भूदितीदमेव शिर इत्युच्यते। एवं पक्षादिषु योजना। अयं दक्षिणो बाहुः पूर्वाभिमुखस्य दक्षिणः पक्षः। अयं सव्यो बाहुरुत्तर पक्षः। अयं मध्यमो देहभाग आत्माऽङ्गानाम्। "मध्यं ह्येषामङ्गानामात्मा" इति श्रुतेः। इदमिति नाभेरधस्ताद्यदङ्गं तत्पुच्छं प्रतिष्ठा। प्रतितिष्ठत्यनयेति प्रतिष्ठा पुच्छमिव पुच्छमधोलम्बनसामान्याद्यथा गोः पुच्छम्। [3]एतत्प्रकृत्योत्तरेषां प्राणमयादीनां

कोशपञ्चकोपन्यासस्य तात्पर्यमाह — स हीत्यादिना। पक्षपुच्छशब्द प्रयोगात्सुपर्णाकारक्लृप्तिं दर्शयति। उत्तरत्र तत्कल्पनया बाह्यविषयासङ्गव्यपोहेन बुद्धेरात्मनि स्थिरीकरणार्थम्, नोपासन-विधानमिह विवक्षितम्। उपक्रमोपसंहारयोर्ब्रह्मात्मैकत्वप्रतिपादनेनैवोपक्षयान्मध्ये ग्रन्थस्योपासनविधौ तात्पर्ये च वाक्यभेदप्रसङ्गादत एवा[4]ङ्गेषु स्तुतिः परार्थत्वादितिन्यायेन यथा [5]प्रयाजादिषु फलश्रवणमर्थ-वादस्तथाऽन्नमयादिप्रतिपत्तेरपि [6]फलश्रवणमर्थवाद एव तत्तद्बुद्धिस्थिरीकारस्य पूर्वपूर्वबुद्धिविलाप-

---

उसी पुरुष को इस वल्ली में विद्या द्वारा अन्तरतम ब्रह्म के पास पहुँचना अभीष्ट है। पुरुष की बुद्धि जो बाह्याकार विशेष रूप अनात्म पदार्थों में आत्म भावना कर चुकी है, उसे किसी विशेष आलम्बन के बिना सहसा सर्वान्तरतम, अन्तरात्मा सम्बन्धी एवं निरालम्ब करना असम्भव है। अतः दृष्टिगोचर इस शरीररूप आत्मा की समानता की कल्पना द्वारा शाखा-चन्द्र दृष्टान्त की भाँति उसे भीतर की ओर प्रवेश कराकर श्रुति कहती है उस पुरुष का यही प्रसिद्ध शिर है अर्थात् उस इस अन्न रसमय पुरुष का यह प्रसिद्ध शिर ही शिर है। आगे प्राणमयादि शिर रहित कोशों में भी शिरस्थ कल्पना दीखने के कारण यहाँ भी कल्पित शिर न समझ लिया जाय। इसलिये यह प्रसिद्ध शिर ही उसका शिर है। ऐसा कहा जाता है इसी प्रकार पक्षादि के सम्बन्ध में भी योजना कर लेनी चाहिये। पूर्वाभिमुख व्यक्ति का दक्षिण दिग्वर्ती बाहु दक्षिण पक्ष है, यह वाम बाहु उत्तर पक्ष है और यह देह का मध्यभाग अङ्गों का आत्मा है। ऐसा ही "मध्यभाग ही इन अङ्गों का आत्मा है" इस श्रुति से प्रमाणित होता है जो नाभि से नीचे का अंग है, वही पुच्छ अर्थात् प्रतिष्ठा है। क्योंकि इसी के द्वारा वह पुरुष प्रतिष्ठित होता है। इसीलिये यह भाग उसकी प्रतिष्ठा कही गयी है। जैसे गौ की पुच्छ होती है। ठीक वैसे ही नीचे की और लटकने में सादृश्य होने के कारण वह अधोभाग पुच्छ के समान पुच्छ है। इस अन्नमय कोश से प्रारम्भ कर साँचे में डाले गये पिघले ताम्र की प्रतिमा के समान आगे के प्राण

---

१. अशिरसां शिरोभिन्नानां प्राणादीनामित्यर्थः। २. तत्प्रसङ्गोऽशिरस्येव शिरस्त्वप्रसङ्गः। ३. एतत्प्रकृत्येति—एतद्रूपेणेत्यर्थः। तदाश्रित्येति वा। ४. 'अङ्गेषु स्तुतिः परार्थत्वात्' जै. ४.३.१७। ननु यस्य पर्णमयीत्यत्रापि फलश्रुतिः स्यादत्राह अङ्गे जुह्वादौ स्तुतिरेव परार्थत्वात् प्रकरणेन यागार्थत्वस्य क्लृप्तत्वादित्यर्थः। अपिना प्रतितिष्ठन्ति ह वा य एता रात्रीरुपयन्तीति दृष्टान्त्यते। ५. प्रयाजादिषु फलश्रवणमिति—तथाहि श्रूयते "यस्यैवं विदुषः प्रयाजा इज्यन्ते प्रैभ्यो लोकेभ्यो भ्रातृव्यानुदतेऽभिक्रा-मञ्जुहोत्यभिजित्यै" इति। ६. फलश्रवणं सर्वे वैतेऽन्नमाप्नुवन्तीत्यादिवक्ष्यमाणम्।

अथ ब्रह्मवल्ल्यध्याये द्वितीयोऽनुवाकः

अन्नाद्वै प्रजाः प्रजायन्ते। याः काश्च पृथिवीꣳ श्रिताः। अथो अन्नेनैव जीवन्ति। अथैनदपि यन्त्यन्ततः। अन्नꣳ हि भूतानां ज्येष्ठम्। तस्मात्सर्वौषधमुच्यते। सर्वं वै तेऽन्नमाप्नुवन्ति। येऽन्नं ब्रह्मोपासते। अन्नꣳ हि भूतानां ज्येष्ठम्। तस्मात्सर्वौषधमुच्यते। अन्नाद्भूतानि जायन्ते। जातान्यन्नेन वर्धन्ते। अद्यते-

(रसादिरूप में परिणत हुए) अन्न से ही स्थावर-जंगमरूप प्रजा उत्पन्न होती है, जो कोई प्रजा पृथिवी के आश्रित है और उत्पत्ति के अनन्तर अन्न से ही जीवित रहती है। पुनः जीवनवृत्ति की समाप्ति होने पर अन्न में ही लीन हो जाती है क्योंकि अन्नही प्राणियों का अग्रज है। इसीलिए सम्पूर्ण (प्राणियों के देह के संताप को शान्त करने वाला) औषध कहलाता है। जो कोई अन्न ब्रह्म की उपासना करते हैं वे निश्चय ही सम्पूर्ण अन्न को प्राप्त करते हैं। अन्न ही प्राणियों में ज्येष्ठ है, अन्न

---

[1]रूपकत्वसिद्धिः। मूषानिषिक्तद्रुतताम्रप्रतिमावत्। तदप्येष श्लोको भवति। तत्तस्मिन्नेवार्थे ब्राह्मणोक्तेऽन्नमयात्मप्रकाशक एष श्लोको मन्त्रो भवति।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ तैत्तिरीयोपनिषदि द्वितीयब्रह्मवल्ल्यध्यायभाष्ये प्रथमोऽनुवाकः।।१।।

अन्नाद्रसादिभावपरिणतात्। वा इति स्मरणार्थः। प्रजा स्थावरजङ्गमाः प्रजायन्ते। याः काश्चाविशिष्टाः पृथिवीं श्रिताः पृथिवीमाश्रितास्ताः सर्वा अन्नादेव प्रजायन्ते। अथो अपि जाता अन्नेनैव जीवन्ति प्राणान्धारयन्ति वर्धन्त इत्यर्थः। अथाप्येनदन्नमपि यन्त्यपि गच्छन्ति। अपिशब्दः प्रतिशब्दार्थे। अन्नं प्रति प्रलीयन्त इत्यर्थः। अन्ततोऽन्ते जीवनलक्षणाया वृद्धेः परिसमाप्तौ। कस्मात्? अन्नं हि यस्माद्भूतानां

नेनाऽऽत्मप्रतिपत्तिशेषत्वादिति द्रष्टव्यम्।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छुद्धानन्दपूज्यपादशिष्यानन्दज्ञानविरचितायां तैत्तिरीयोपनिषच्छांकरभाष्यटीकायां द्वितीयब्रह्मवल्ल्यध्याये प्रथमोऽनुवाकः।।१।।

मयादि कोशों में रूपकत्व की सिद्धि होती है, उसी विषय में यह श्लोक है अर्थात् अन्नमय आत्मा को बतलाने वाले उस ब्राह्मणोक्त अर्थ में ही यह मन्त्र है।

अन्न महिमा और प्राणमय कोश का वर्णन

रसादिरूप में परिणत हुए अन्न से ही स्थावर जङ्गम प्रजा उत्पन्न होती है। 'वै' यह निपात स्मरण के अर्थ में है। जो कुछ प्रजा सामान्य रूप से पृथिवी के आश्रित है, वे सब अन्न से ही उत्पन्न होते हैं और उत्पन्न होकर अन्न से ही जीवित रहते हैं अर्थात् बढ़ते हैं और अन्त में वृत्तिरूप जीवन के समाप्त होने पर वे अन्न में ही लीन हो जाते हैं। 'अपि' शब्द प्रति के अर्थ में है अर्थात् अन्न के प्रति

---

१. रूपकत्वेति—रूपवत्त्वेति यावत्।

ऽत्ति च भूतानि। तस्मादन्नं तदुच्यत इति। तस्माद्वा एतस्मादन्नरसमयात्। अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः। तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुष-विधताम्। अन्वयं पुरुषविधः। तस्य प्राण एव शिरः। व्यानो दक्षिणः पक्षः। अपान उत्तरः पक्षः। आकाश आत्मा। पृथिवी पुच्छं प्रतिष्ठा। तदप्येष श्लोको भवति।।१।।

इति कृष्णयजुर्वेदीयतैत्तिरीयोपनिषदि द्वितीये ब्रह्मवल्ल्यध्याये द्वितीयोऽनुवाकः।।२।।

से ही प्राणी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर अन्न से बढ़ते हैं, अन्न प्राणियों द्वारा खाया जाता है और जो स्वयं भी प्राणियों को खाता है। अतएव वह अन्न कहा जाता है। उस इस पूर्वोक्त अन्नरसमय पिण्ड से पृथक् उसके भीतर रहने वाला शरीर प्राणमय है। उस प्राणमय से ही वह अन्नमय कोश परिपूर्ण है। वह यह प्राणमय आत्मा भी पुरुषाकार ही है, उस अन्न रसमय की पुरुषाकारता के अनुसार (साँचे में ढली हुई प्रतिमा के समान) यह प्राणमय कोश भी पुरुषाकार है, उस (वायुविकाररूप प्राणमय कोश) का मुख और नासिका से निकलने वाला प्राण ही शिर है। व्यान दक्षिण पक्ष है, अपान उत्तर पक्ष है, आकाश मध्यभाग है और पृथिवी पुच्छ प्रतिष्ठा है, उसी प्राणमय कोश के विषय में यह मन्त्र है।।१।।

।। इति द्वितीयोऽनुवाकः।।

प्राणिनां ज्येष्ठं प्रथमजम्। अन्नमयादीनां हीतरेषां भूतानां कारणमन्नमतोऽन्नप्रभवा अन्नजीवना अन्नप्रलयाश्च सर्वाः प्रजाः। यस्माच्चैवं तस्मात्सर्वौषधं सर्वप्राणिनां देहदाहप्रशमनमन्नमुच्यते।

अन्नब्रह्मविदः फलमुच्यते। सर्वं वै ते समस्तमन्नजातमाप्नुवन्ति। के। येऽन्नं ब्रह्म यथोक्तमुपासते। कथमन्नजोऽन्नात्माऽन्नप्रलयोऽहं तस्मादन्नं ब्रह्मेति। कुतः पुनः सर्वान्नप्राप्तिफलमन्नात्मोपासनमिति?उच्यते। अन्नं हि भूतानां ज्येष्ठम्। भूतेभ्यः पूर्वं

लीन हो जाते हैं। क्योंकि अन्न ही प्राणियों का अग्रज है। अन्नमयादि इतर प्राणियों का कारण अन्न ही है। इसीलिये सभी प्रजा अन्न से उत्पन्न होने वाली, अन्न से जीने वाली और अन्न में लीन हो जाने वाली है। जबकि ऐसी बात है, इसीलिए अन्न को सभी प्राणियों के देहगत सन्ताप को शान्त करने वाली ओषध के समान कहा गया है।

अन्न रूप ब्रह्म की उपासना करने वाले का फल बतलाते हैं। निःसन्देह वे उपासक सम्पूर्ण अन्न समूह को प्राप्त कर लेते हैं, कौन? जो पूर्वोक्त अन्न की ही ब्रह्म रूप से उपासना करते हैं। किस प्रकार उपासना करते हैं? मैं अन्न से उत्पन्न अन्नरूप और अन्न में ही लीन हो जाने वाला हूँ।

निष्पन्नत्वाज्ज्येष्ठं हि यस्मात्तस्मात्सर्वौषधमुच्यते। तस्मादुपपन्ना सर्वान्नात्मोपासकस्य सर्वान्नप्राप्तिः। अन्नाद्भूतानि जायन्ते। जातान्यन्नेन वर्धन्त इत्युपसंहारार्थं पुनर्वचनम्। इदानीमन्ननिर्वचनमुच्यते। अद्यते भुज्यते चैव यद्भूतैरन्नमत्ति च भूतानि स्वयं तस्माद्भूतैर्भुज्यमानत्वाद्भूतभोक्तृत्वाच्चान्नं तदुच्यते। इतिशब्दः [1]प्रथमकोशपरिसमाप्त्यर्थः।

अन्नमयादिभ्य आनन्दमयान्तेभ्य आत्मभ्योऽभ्यन्तरतमं ब्रह्म, विद्यया प्रत्यगात्मत्वेन दिदर्शयिषु शास्त्रमविद्याकृतपञ्चकोशापनयनेनानेकतुष[2]कोद्रववितुषीकरणेनेव तदन्तर्गततण्डुलान्प्रस्तौति तस्माद्वा एतस्मादन्नरसमयादित्यादि। तस्मादेतस्माद्यथोक्तादन्नरसमयात्पिण्डादन्यो व्यतिरिक्तोऽन्तरोऽभ्यन्तर आत्मा पिण्डवदेव मिथ्यापरिकल्पित आत्मत्वेन प्राणमयः प्राणो वायुस्तन्मयस्तत्प्रायः। तेन प्राणमयेनान्नरसमय आत्मैष पूर्णो वायुनेव [3]दृतिः।

स वा एष प्राणमय आत्मा पुरुषविध एव पुरुषाकार एव। शिरःपक्षादिभिः किं स्वतः एव? नेत्याह। प्रसिद्धं तावदन्नरसमयस्याऽऽत्मनः पुरुषविधत्वम्। तस्मादन्नर-

---

इसीलिये अन्न ब्रह्म है। अन्न ही आत्मा है। ऐसी उपासना सम्पूर्ण अन्न की प्राप्ति रूप फल वाली किस प्रकार हो सकती है, इसे बतलाते हैं—प्राणियों में ज्येष्ठ अन्न ही है। सर्वप्रथम प्राणियों से उत्पन्न होने के कारण वह अन्न उनसे ज्येष्ठ है। इसलिए वह सर्व औषध कहा जाता है। अतः सम्पूर्ण अन्न की आत्मा रूप से उपासना करने वाले कर्म को सम्पूर्ण अन्न की प्राप्ति का कहना उचित ही है। अन्न से प्राणी उत्पन्न होते हैं और उत्पन्न होकर अन्न से बढ़ते हैं। यह पुनरुक्ति उपासना प्रकरण के उपसंहार के लिये है। अब अन्न शब्द की व्युत्पत्ति की जाती है; जो प्राणियों द्वारा खाया जाता है और जो प्राणियों को स्वयं भी खाता है। इस प्रकार सभी प्राणियों का भोज्य और सभी प्राणियों का भोक्ता होने से भी वह अन्न कहा जाता है। वाक्य में इति शब्द प्रथम कोश के विवरण की समाप्ति के लिये है।

अनेक तुषा वाले धानों को तुष रहित कर जिस प्रकार चावल निकाल लिये जाते हैं, उसी प्रकार अन्नमय से लेकर आनन्दमय कोश पर्यन्त सम्पूर्ण शरीरों की अपेक्षा आन्तरतम ब्रह्म को तत्त्वज्ञान के द्वारा अपने प्रत्यगात्म रूप से अपरोक्ष अनुभव कराने के इच्छुक शास्त्र अविद्या परिकल्पित पंचकोशों का बाध करके "तस्माद्वा एतस्मादन्नरसमयात्" इत्यादि वाक्य से आरम्भ करते हैं। उसी इस पूर्वोक्त अन्न रसमय से पृथक् उसके भीतर रहने वाला आत्मा प्राणमय है, जो अन्नरसमय पिण्ड के समान मिथ्या ही है। आत्मरूप से परिकल्पित है। प्राण यानी वायु उससे युक्त या वायु प्रधान को प्राणमय कहते हैं। जैसे वायु से धौंकनी भरी रहती है, उसी प्रकार उस प्राणमय से अन्नरसमय शरीर भरा हुआ है।

निःसन्देह वही यह प्राणमय आत्मा शिर और पक्षादि के कारण पुरुषाकार ही है। क्या वह स्वतः ही पुरुषाकार है? नहीं, ऐसा कहते हैं, अन्नरसमय शरीर की पुरुषाकारता प्रसिद्ध ही है, उस

---

१. प्रथमेति—मन्त्रसमाप्त्यर्थश्चेत्यपि द्रष्टव्यमेवमुत्तरत्रापि। २. कोरदूषस्तु कोद्रवः धान्यभेदः। ३. "दृतिश्चर्मपुटे मत्स्ये ना" इति मेदिनी।

समयस्य पुरुषविधतां पुरुषाकारताम् अन्वयं प्राणमयः पुरुषविधो मूषानिषिक्तप्रतिमावन्न स्वत एव। एवं पूर्वस्य पूर्वस्य पुरुषविधतामनूत्तरोत्तरः पुरुषविधो भवति पूर्वः पूर्वश्चोत्त-रोत्तरेण पूर्णः। कथं पुनः पुरुषविधताऽस्येत्युच्यते। तस्य प्राणमयस्य प्राण एव शिरः प्राणमयस्य वायुविकारस्य प्राणो मुखनासिकानिःसरणो वृत्तिविशेषः शिर एव परिकल्प्यते वचनात्। सर्वत्र वचनादेव पक्षादिकल्पना। व्यानो व्यानवृत्तिर्दक्षिणः पक्षः। अपान उत्तरः पक्षः। आकाश आत्मा य आकाशस्थो वृत्तिविशेषः समानाख्यः स आत्मेवाऽऽत्मा प्राणवृत्त्यधिकारान्मध्यस्थत्वादितराः पर्यन्ता वृत्तीरपेक्ष्याऽऽत्मा। "मध्यं ह्येषामङ्गाना-मात्मा" इतिश्रुतिप्रसिद्धं मध्यस्थस्याऽऽत्मत्वम्। पृथिवी पुच्छं प्रतिष्ठा। पृथिवीति पृथिवी देवताऽऽध्यात्मिकस्य प्राणस्य धारयित्री स्थितिहेतुत्वात्। "सैषा पुरुषस्यापान-मवष्टभ्य" (प्र.उ. ३-८) इति हि श्रुत्यन्तरम्। अन्यथोदानवृत्त्योर्ध्वगमनं गुरुत्वाच्च पतनं वा स्याच्छरीरस्य तस्मात्पृथिवीदेवता पुच्छं प्रतिष्ठा प्राणमयस्याऽऽत्मनः। तत्तस्मिन्नेवार्थे प्राणमयात्मविषय एष श्लोको भवति।।१।।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ तैत्तिरीयोपनिषदि द्वितीयब्रह्मवल्ल्यध्यायभाष्ये द्वितीयोऽनुवाकः।।२।।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छुद्धानन्दपूज्यपादशिष्यानन्दज्ञानविरचितायां तैत्तिरी-योपनिषच्छांकरभाष्यटीकायां ब्रह्मवल्ल्यध्याये द्वितीयोऽनुवाकः।।२।।

अन्नरसमय की पुरुषाकारता के अनुसार साँचे में ढाली हुई प्रतिमा के समान यह प्राणमय पुरुष भी पुरुषाकार है, स्वतः ही पुरुषविध नहीं है। ठीक ऐसे ही पूर्व-पूर्व की पुरुषाकारता के अनुसार उत्तर-उत्तर पुरुष भी आकार है और पीछे-पीछे के कोश से पूर्व-पूर्व पूर्ण है। इसकी पुरुषाकारता किस प्रकार है? इस पर कहा जाता है—उस प्राणमय का प्राण ही शिर है, वायु विकार रूप प्राणमय कोश का मुख्य प्राणवृत्ति विशेष मुख और नासिका से निकलने वाला प्राण श्रुतिवचनानुसार शिररूप से ही परिकल्पित है। इसके अतिरिक्त आगे भी सभी जगह श्रुति वाक्यानुसार ही पक्षादि की कल्पना की गयी है। व्यान नाम की वृत्ति दक्षिण पक्ष है, अपान उत्तर पक्ष है, आकाश आत्मा है। यहाँ प्राणवृत्ति का प्रसंग होने के कारण आकाश में स्थित जो समान नामक प्राण की वृत्ति है, वही आत्मा है। आसपास की सभी वृत्तियों की अपेक्षा मध्यवर्ती होने के कारण वह आत्मा है। "इन अङ्गों का मध्य आत्मा है" इस श्रुति में मध्यवर्ती अङ्ग का आत्मत्व प्रसिद्ध ही है। पृथिवी इस शब्द से पृथिवी की अधिष्ठातृ देवी समझनी चाहिए क्योंकि स्थिति के हेतुभूत होने से वही आध्यात्मिक प्राण को भी धारण करने वाली है। इस विषय में "वह पृथिवी देवता पुरुष के अपान को आश्रय करके" इत्यादि दूसरी श्रुति भी है; अन्यथा प्राण की उदानवृत्ति से शरीर ऊपर की ओर चला जाता अथवा गुरुतावश गिर पड़ता। अतः पृथिवी देवता ही प्राणमय आत्मा की प्रतिष्ठा रूप पुच्छ है। उसी प्राणमय आत्मा के अर्थ में यह श्लोक प्रसिद्ध है।।१।।

अथ ब्रह्मवल्ल्यध्याये तृतीयोऽनुवाकः

प्राणं देवा अनु प्राणन्ति। मनुष्याः पशवश्च ये। प्राणो हि भूतानामायुः। तस्मात्सर्वायुषमुच्यते। सर्वमेव त आयुर्यन्ति। ये प्राणं ब्रह्मोपासते। प्राणो हि भूताना-मायुः। तस्मात्सर्वायुषमुच्यत इति। तस्यैष एव शारीर आत्मा। यः पूर्वस्य। तस्माद्वा एतस्मात्प्राणमयात्।

इन्द्रियाँ प्राण के पीछे प्राणन करती हैं और अग्नि आदि देवगण वायु रूप प्राण के अनुगामी होकर प्राणन क्रिया करते हैं तथा जो भी मनुष्य पशु आदि हैं (वे प्राणन क्रिया से ही चेष्टा वाले होते हैं।) प्राण ही प्राणियों का जीवन है। इसीलिए वह आयु कहलाता है। जो कोई भी प्राणमय की ब्रह्म रूप से उपासना करते हैं, वे पूर्ण आयु प्राप्त करते हैं। प्राण ही प्राणियों की आयु है। इसलिए वह सर्वायुष कहलाता है। (इस प्रकार उपासना के फल की प्राप्ति बतलाने के लिए उक्त वात की पुनरावृत्ति की गयी।) उस पूर्वोक्त अन्नमय कोश का यही देहस्थित प्राणमय आत्मा है। उस इस प्राणमय कोश से पृथक् इसके भीतर रहने वाला शरीर मनोमय है, उस मनोमय से यह प्राणमय कोश परिपूर्ण है। वह यह (संकल्प-विकल्पात्मक मनोमय कोश) भी पुरुषाकार ही है। उस (प्राणमय कोश) की पुरुषा-

---

प्राणं देवा अनु प्राणन्ति। देवा अग्न्यादयः प्राणं वाय्वात्मानं प्राणन-शक्तिमन्तमनु तदात्मभूताः सन्तः प्राणन्ति प्राणनकर्म कुर्वन्ति प्राणनक्रियया क्रियावन्तो भवन्ति। अध्यात्माधिकाराद्देवा इन्द्रियाणि प्राणमनु प्राणन्ति मुख्यप्राणमनु चेष्टन्त इति वा। तथा मनुष्याः पशवश्च ये ते प्राणनकर्मणैव चेष्टावन्तो भवन्ति। अतश्च नान्नमयेनैव परिच्छिन्नेनाऽऽत्मनाऽऽत्मवन्तः प्राणिनः। किं तर्हि तदन्तर्गतेन प्राणमयेनापि साधारणेनैव सर्वपिण्डव्यापिनाऽऽत्मवन्तो मनुष्यादयः। एवं मनोमयादिभिः पूर्वपूर्वव्यापिभिरुत्तरोत्तरैः सूक्ष्मैरानन्दमयान्तैराकाशादिभूतारब्धैरविद्याकृतैरात्मवन्तः सर्वे

प्राण की महिमा और मनोमयकोश

"प्राणं देवा अनु प्राणन्ति" अर्थात् अग्नि आदि देवगण प्राणन शब्द से युक्त वायुरूप प्राण के तद्‌रूप होकर प्राणन क्रिया करते हैं, यानी प्राणन क्रिया से क्रियावान् होते हैं अथवा यहाँ अध्यात्म का प्रसंग होने से ऐसा समझना चाहिए कि इन्द्रियाँ रूप देव मुख्य प्राण के पीछे प्राणन क्रियारूप चेष्टा करते हैं तथा जो भी मनुष्य और पशु हैं, वे प्राणन क्रिया से ही चेष्टा वाले होते हैं। इससे जाना जाता है कि प्राणी केवल परिच्छिन्न अन्नमय कोश से ही आत्मवान् नहीं है तो फिर हैं क्या? वे मनुष्यादि जीव उसके अन्तर्गत सम्पूर्ण पिण्ड में व्याप्त साधारण प्राणमय कोश से भी आत्मवान् हैं। इसी प्रकार पूर्व-पूर्व कोश में व्यापक मनोमय से लेकर आनन्दमय कोश पर्यन्त आकाशादि भूतों से होने वाले अविद्याकृत कोशों से सभी प्राणी आत्मवान् हैं। वैसे ही वे स्वभाव से आकाशादि के कारण नित्य,

अन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः। तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुषविधताम्। अन्वयं पुरुषविधः। तस्य यजुरेव शिरः। ऋग्दक्षिणः पक्षः। सामोत्तरः पक्षः। आदेश आत्मा। अथर्वाङ्गिरसः पुच्छं प्रतिष्ठा। तदप्येष श्लोको भवति।।१।।

इति कृष्णयजुर्वेदीयतैत्तिरीयोपनिषदि द्वितीये ब्रह्मवल्ल्यध्याये तृतीयोऽनुवाकः।।३।।

कारता के अनुरूप ही यह मनोमय भी पुरुषाकार है "यजुः" (संकेत विशिष्ट मनोवृत्ति) उसका शिर है, ऋग् विषयक मनोवृत्ति दक्षिणपक्ष है, साम विषयक मनोवृत्ति उत्तरपक्ष है। आदेश (ब्राह्मण भाग) आत्मा है तथा अथर्वाङ्गिरस (ऋषि के साक्षात्कार किये मन्त्र और ब्राह्मण ही) पुच्छ प्रतिष्ठा है, (क्योंकि उनमें शान्ति और पुष्टि के कारण रूप कर्मों की प्रधानता है) इस मनोमय आत्मा के विषय में ही यह मन्त्र है।।१।।

।।इति तृतीयोऽनुवाकः।।

प्राणिनः। तथा स्वाभाविकेनाऽऽप्याकाशादिकारणेन नित्येनाविकृतेन सर्वगतेन सत्यज्ञानानन्तलक्षणेन पञ्चकोशातिगेन सर्वात्मनाऽऽत्मवन्तः। स हि परमार्थत आत्मा सर्वेषामित्येतदप्यर्थादुक्तं भवति। प्राणं देवा अनु प्राणन्तीत्युक्तं तत्कस्मादित्याह। प्राणो हि यस्माद्भूतानां प्राणिनामायुर्जीवनम्। "यावद्ध्यस्मिञ्शरीरे प्राणो वसति तावदायुः" इति (कौ. उ. ३-२) श्रुत्यन्तरात्। तस्मात्सर्वायुषम्। सर्वेषामायुः सर्वायुः सर्वायुरेव सर्वायुषमित्युच्यते। प्राणापगमे मरणप्रसिद्धेः। प्रसिद्धं हि लोके सर्वायुष्ट्वं प्राणस्य। अतोऽ-

---

पूर्वपूर्वकोशस्योत्तरोत्तरः कोश एवाऽऽत्मेति [1]व्याख्यातमापातदर्शनेन, तदसत्। [2]आत्मशब्द-स्यामुख्यार्थत्वप्रसङ्गात्प्रकृतपरामर्शकै[3]तच्छब्दकोपाच्च। अतः सर्वकोशाध्यासाधिष्ठानभूतश्चिदात्मै-वात्राऽऽत्मशब्देनविवक्षितइतितात्पर्यमाह — तथा स्वाभाविकेनेति। अर्थादिति। [4]आत्मशब्दसामर्थ्यात्कल्पित-

---

निर्विकार, सर्वव्यापक, सत्य, ज्ञान एवं अनन्त स्वरूप पंचकोशातीत सर्वात्मा से आत्मवान् हैं। परमार्थतः वही सब का आत्मा है इस वाक्य द्वारा अर्थतः यह बात भी कह दी गयी। देवगण प्राण के पीछे प्राणन क्रिया करते हैं, ऐसा पहले कहा जा चुका है। ऐसा क्यों है? इसे कहते हैं क्योंकि प्राणियों का जीवन प्राण ही है। "जब तक इस शरीर में प्राण रहता है तभी तक आयु है" इस दूसरी श्रुति से भी यह बात सिद्ध होती है। इसीलिये प्राण सर्वायुष है। सबकी आयु को सर्वायु कहते हैं। स्वार्थ में अण् प्रत्यय होने पर सर्वायु ही सर्वायुष कहा गया है क्योंकि प्राण के निकल जाने पर मृत्यु हो जाना प्रसिद्ध ही है और लोक में प्राण का सर्वायुष्ट्व प्रसिद्ध है ही। अतः जो लोग इस बाह्य असाधारण अन्नमय

---

१. व्याख्यातमस्माभि(र्भाष्यकृद्भि) रितिशेषः। २. आत्मशब्दस्येति—तस्यैष एव शारीर आत्मेत्यात्मशब्दस्येत्यर्थः। ३. एतच्छब्दोऽप्यत्रत्य एव। ४. आत्मशब्देति—तस्यैष एवेत्यादावुक्तात्मशब्देत्यर्थः।

स्माद्बाह्यादसाधारणादन्नमयादात्मनोऽपक्रम्यान्तःसाधारणं प्राणमयमात्मानं ब्रह्मोपासते येऽहमस्मि प्राणः सर्वभूतानामात्माऽऽयुर्जीवनहेतुत्वादिति ते सर्वमेवाऽऽयुरस्मिँल्लोके यन्ति नापमृत्युना म्रियन्ते प्राक्प्राप्तादायुष इत्यर्थः। [1]शतं वर्षाणीति तु युक्तं सर्वमायुरिति [2]श्रुतिप्रसिद्धेः। किं कारणं प्राणो हि भूतानामायुस्तस्मात्सर्वायुषमुच्यत इति। यो यद्गुणकं ब्रह्मोपास्ते स तद्गुणभाग्भवतीति विद्याफलप्राप्तेर्हेत्वर्थं पुनर्वचनं प्राणो हीत्यादि। तस्य पूर्वस्यान्नमयस्यैष एव शरीरेऽन्नमये भवः शारीर आत्मा। कः। य एष प्राणमयः।

तस्माद्वा एतस्मादित्युक्तार्थं[3]मन्यत्। अन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः। मन इति संकल्पाद्यात्मकमन्तःकरणं तन्मयो यथाऽन्नमयः। सोऽयं प्राणमयस्याऽऽभ्यन्तर आत्मा। तस्य यजुरेव शिरः। यजुरित्य[4]नियताक्षरपादावसानो मन्त्रविशेषस्तज्जातीय-

---

स्याधिष्ठानत्वानुपपत्तेश्चेत्यर्थः। असाधारणादिति। व्यावृत्तस्वरूपात्। अपक्रम्य तत्राऽऽत्मबुद्धिं हित्वेत्यर्थः। साधारणमिति। सर्वेन्द्रियसाधारणम्। प्राणकृतेनाशनादिना सर्वेषां पुष्ट्यादिदर्शनादित्यर्थः। सर्वभूतानामात्मेति। सूत्रात्मना। पूर्वस्य य आत्मा चिद्धातुरेष एव तस्य प्राणमयस्याऽऽत्मेति योजना।

कोश से आत्मबुद्धि हटाकर उसके अन्तवर्ती और सम्पूर्ण इन्द्रियों में अनुगत होने से साधारण प्राणमय कोश को "मैं प्राण सम्पूर्ण भूतों का आत्मा और उनके जीवन का कारण होने से उनकी आयु हूँ" इस प्रकार ब्रह्मरूप से उपासना करते हैं; वे इस लोक में पूर्ण आयु को प्राप्त करते हैं अर्थात् प्रारब्ध से प्राप्त आयु से पूर्व अल्पमृत्यु द्वारा नहीं मरते। "पूर्ण आयु को प्राप्त होता है" ऐसी श्रुति में प्रसिद्धि होने के कारण यहाँ पर सर्वायु शब्द से सौ वर्ष समझना चाहिये। ऐसा समझने में कारण क्या है? क्योंकि प्राणियों की आयु प्राप्त ही है। इसलिये वह सर्वायुष कहा जाता है। जो उपासक जिस गुण विशिष्ट ब्रह्म की उपासना करता है, वह उसी प्रकार गुणों का भागी हो जाता है। इस प्रकार उपासना के फल की प्राप्ति के हेतु को दिखलाने के लिये "प्राणो हि भूतानामायुः" इत्यादि वाक्यों की पुनरुक्ति कही गयी है। यह प्राणमय कोश ही उस पूर्वोक्त अन्नमय शरीर में रहने वाला आत्मा है, कौन जो कि यह प्राण है।

"तस्माद्वा एतस्मात्" इत्यादि शेष पदों का अर्थ पहले कर आए हैं। दूसरा आत्मा मनोमय है। संकल्प-विकल्पात्मक अन्तःकरण का नाम मन है, तद्रूप को मनोमय कहते हैं। जैसे अन्नरूप होने के कारण शरीर को अन्नमय कहा गया है। वही यह मनोमय प्राणमय का अन्तवर्ती आत्मा है। उसका यजुः ही शिर है। जिनमें अक्षरों का नियम नहीं है ऐसे पादों में समाप्त होने वाले मन्त्र विशेष

---

१. नन्वायुष्प्राप्तेः प्रारब्धफलत्वेन कस्यापि प्राङ्मरणासंभवादिदमयुक्तमित्याशङ्क्यार्थान्तरमाह—शतं वर्षाणीतीति। सर्वमायुरित्यनेन शतं वर्षाणीत्येव युक्तं ग्रहीतुमित्यर्थः। तथा चोपासकः शतं वर्षाणि जीवतीत्युपास्तिः स्तूयत इति भावः २. उक्तेऽर्थे प्रमाणमाह—श्रुतिप्रसिद्धेरिति। "जिजीविषेच्छतꣳसमाः" "जीवेम शरदः शतमि" त्यादिश्रुतिषु शतवर्षाणामेव पूर्णायुष्ट्वेन प्रसिद्धेरित्यर्थः। तैत्तिरीयब्राह्मणे तृतीयकाण्डे "शतायुर्वै पुरुषः शतवीर्य" इति श्रूयते। ३. अन्यद्—व्याख्यास्यमानादितरत्। ४. अनियतैरक्षरैः पादपूर्तिर्यस्य तथेत्यर्थः।

वचनो यजुःशब्दस्तस्य शिरस्त्वं प्राधान्यात्। प्राधान्यं च यागादौ संनिपत्योपकारात्। यजुषा हि हविर्दीयते स्वाहाकारादिना। वाचनिकी वा शिरआदिकल्पना सर्वत्र। मनसो हि स्थानप्रयत्ननादस्वरवर्णपदवाक्यविषया तत्संकल्पात्मिका तद्भाविता वृत्तिः श्रोत्रादिकरणद्वारा यजुःसंकेतविशिष्टा यजुरित्युच्यते। एवमृगेवं साम च। एवं च मनोवृत्तित्वे मन्त्राणां वृत्तिरेवाऽऽवर्त्यत इति मानसो जप उपपद्यते। अन्यथाऽविषयत्वान्मन्त्रो नाऽऽवर्तयितुं शक्यो घटादिवद्दिति मानसो जपो नोपपद्यते। मन्त्रावृत्तिश्च चोद्यते बहुशः कर्मसु। अक्षरविषयस्मृत्यावृत्त्या मन्त्रावृत्तिः स्यादिति चेन्न। मुख्यार्थासंभवात्। "त्रिः प्रथमामन्वाह त्रिरुत्तमाम्" इति ऋगावृत्तिः श्रूयते। तत्रर्चोऽविषयत्वे

यजुःशब्देन बाह्यो यजुर्वेद उच्यते। तस्य कथमान्तरं मनोमयं प्रति शिरस्त्वमित्याशङ्क्याऽऽह — मनसो हीति। यद्यपि यजुःशब्दो बाह्ये शब्दराशौ रूढस्तथाऽपि श्रुतेरनतिशङ्कनीयत्वात्तत्प्रामाण्याद्विशिष्टमनोवृत्तिर्यजुःसंकेतविषयभूता यजुर्वेदमधीमह एतत्क्रमका वर्णा यजुर्वेदतयाऽध्येतव्या इत्येवं संकल्परूपा ग्राह्येत्यर्थः। श्रुत्यनुग्राहिकां युक्तिमप्याह — एवं चेति। अन्यथेति। शब्दानां घटादिवद्बाह्यद्रव्यत्वे [1]मनोविषयत्वासंभवान्मनसो बाह्योऽर्थेऽस्वातन्त्र्यान्मानसो जपो न स्यादित्यर्थः। इतश्च मनोवृत्तित्वं मन्त्राणां वाच्यमित्याह — मन्त्रावृत्तिश्चेति। शब्दानां घटादिवद्बाह्यद्रव्यत्वे मन्त्राणां घटादिवदावृत्तिर्नोपपद्यते क्रियैव ह्यावर्त्यते। आवृत्तिविध्यनुपपत्त्या क्रियात्वं वाच्यमित्युक्तं तत्रान्यथाऽप्युपपत्तिमाशङ्कते — अक्षरविषयेति। मन्त्रेभ्यः स्मृतेरन्यत्वादन्याऽऽवृत्तिर्गौणी प्रसज्यतेऽतो नान्यथाऽप्युपपत्तिरित्युक्तमेतत्स्फुटयति — त्रिः प्रथमामित्यादिना। [2]सामिधेन्यः समिधो यदाऽध्वर्युणा हूयन्ते तदा "प्र वो वाजा अभिद्यवः" इत्याद्यष्टादशर्चं सूक्तं होता शंसति तासां चर्चां मध्ये प्रथमामृचं सूक्तस्यान्त्यां चर्चं होता त्रिरनुब्रूयादित्यावृत्तिः श्रूयत इत्यर्थः। मन्त्राणां मनोवृत्तित्वमुक्त्वा मनोवृत्तीनां सदा

को यजुः कहते हैं। उस जाति के मन्त्रों का वाचक यजुःशब्द है। प्रधानता के कारण उसे शिर कहा गया है। यागादि में संनिपत्य उपकारक होने से यजुः मन्त्रों की प्रधानता है क्योंकि स्वाहा आदि के द्वारा यजुर्मन्त्रों से ही हवि दी जाती है अथवा इन सब प्रसङ्गों में शिर आदि की कल्पना श्रुति वाक्य से ही समझनी चाहिए। अक्षरों के उच्चारण स्थान बाह्याभ्यन्तर प्रयत्न उससे उत्पन्न नाद, उदात्तादि स्वर, अकारादि वर्ण उनसे रचित पद और पद समुदायरूप वाक्य से सम्बन्ध रखने वाली तथा उन्हीं के संकल्प और भाव से युक्त जो श्रवणादि इन्द्रियों द्वारा उत्पन्न होने वाली यजुः विशिष्ट मन की वृत्ति है, वही यजुः कही जाती है। इस प्रकार ऋक् और ऐसे ही साम को भी समझना चाहिये। इस प्रकार मन्त्रों के मनोवृत्तिरूप होने पर ही उसकी आवृत्ति करने से उनका मानसिक जप सम्भव हो जाता है अन्यथा घटादि के समान मन के विषय न होने के कारण मन्त्रों की आवृत्ति भी नहीं की जा सकती थी। ऐसी स्थिति में मानसिक जप होना असम्भव था। मन्त्रों की आवृत्ति का विधान बहुत से कर्मों में किया ही गया है। इससे उसकी असम्भावना तो सिद्ध हो ही नहीं सकती।

शङ्का :— मन्त्र के अक्षरों को विषय करने वाली स्मृति की आवृत्ति से मन्त्र की आवृत्ति हो सकती

---

१. मनोविषयत्वासंभवादिति—मनोव्यापारात्मकत्वाभावे तेन कर्तुमशक्यत्वादिति यावत्। २. सामिधेन्यः—अग्निसमिन्धनसाधनीभूता इत्यर्थः।

तद्विषयस्मृत्यावृत्तौ च क्रियमाणायां त्रिः प्रथमामन्वाहेति ऋगावृत्तिर्मुख्योऽर्थश्चोदितः परित्यक्तः स्यात्। तस्मान्मनोवृत्त्युपाधिपरिच्छिन्नं मनोवृत्तिनिष्ठमात्मचैतन्यमनादिनिधनं यजुःशब्दवाच्यमात्मविज्ञानं मन्त्रा इति। एवं च नित्यत्वोपपत्तिर्वेदानाम्। अन्यथा विषयत्वे रूपादिवदनित्यत्वं च स्यान्नैतद्युक्तम्। "सर्वे वेदा यत्रैकं भवन्ति स मानसीन आत्मा" इति च श्रुतिर्नित्यात्मनैकत्वं ब्रुवत्यृगादीनां नित्यत्वे समञ्जसा स्यात्। "[१]ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्यस्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदुः" इति च मन्त्रवर्णः।

चिद्व्याप्तत्वेनैव सिद्धेश्चिदात्मतामाह — तस्मादिति। मन्त्राणां मनोवृत्तित्वेनाऽऽवृत्तिर्घटत इत्युक्तम्। परम्परया चिदात्मत्वेन नित्यत्वमपि घटत इत्याह — एवं चेति। चैतन्यरूपत्वे सति। अन्यथेति। स्वप्रकाशचिदात्मत्वानङ्गीकारे रूपादिवद्विषयत्वादनित्यत्वमपि प्रसज्येत। कालिदासादिवाक्यानामप्येतेन न्यायेन नित्यत्वापाताद्युक्त्याभासमेतत्। अस्त्वनित्यत्वमिति न वाच्यमित्याह — नैतद्युक्तमिति। [२]वाचा विरूप नित्ययेति श्रुत्या नित्यत्वस्याऽऽवेदितत्वाद्वेदानित्यत्वं युक्तं न भवतीत्यर्थः। [३]वेदानां जडत्वे स्वप्रकाशेनाऽऽत्मनैकत्वं न संभवति जडाजडयोर्विरोधादतो मनोवृत्तिव्यापकचिदात्मत्वं सूचितमित्यर्थः। साक्षितया मनसि भवो मानसीनोऽक्षरे परमे व्योमकल्पे ब्रह्मणि ऋचो विधिनिषेधरूपा निषेदुस्तादात्म्येन व्यवस्थिता इति च मन्त्रवर्ण एकत्वं दर्शयतीत्यर्थः।

है। ऐसा यदि माना जाये तो ; समाधान :— ऐसा मानना ठीक नहीं क्योंकि ऐसा मानने पर जप विधायक श्रुति का मुख्य अर्थ असम्भव होगा। "तीन बार प्रथम ऋक् की आवृत्ति करनी चाहिये। तीन बार अन्तिम ऋक् का आवर्तन करे" इस प्रकार ऋक् की आवृत्ति सुनी जाती है। ऐसी दशा में मन्त्रमय ऋक् तो मन का विषय नहीं है। अतः मन्त्र की आवृत्ति के स्थान में यदि केवल उसकी स्मृति का ही आवर्तन किया जाय तो "तीन बार प्रथम ऋक् की आवृत्ति करनी चाहिये" इस श्रुति का मुख्य अर्थ छूट जाता है। अतः यहाँ ऐसा समझना ठीक है कि मनोवृत्ति रूप उपाधि से परिच्छिन्न मनोवृत्ति में स्थित जो अनादि, अनन्त आत्मचैतन्य यजुः शब्द वाच्य आत्मविज्ञान है, वही यजुर्मन्त्र है। इस प्रकार वेदों की नित्यता भी सिद्ध हो सकती है। अन्यथा इन्द्रियों के विषय होने पर तो रूपादि के समान उनकी भी अनित्यता ही सिद्ध होगी और ऐसा होना उचित नहीं है। "जिसमें समस्त वेद एकरूप हो जाते हैं, वह मनरूप उपाधि में स्थित आत्मा है" यह नित्य आत्मा के साथ ऋगादि का एकत्व कहने वाली श्रुति भी उनका नित्यत्व सिद्ध होने पर ही सार्थक हो सकती है। इस विषय में "जिसमें सम्पूर्ण देव स्थित हैं, उस अक्षर परब्रह्म रूप आकाश में ही ऋचाएँ तादात्म्य भाव से व्यवस्थित हैं" ऐसा मन्त्रवर्ण भी है।

'आदेशः आत्मा' इस वाक्य में आदेश शब्द ब्राह्मण अर्थ का वाचक है क्योंकि वेदों का ब्राह्मण भाग कर्तव्य विशेष का उपदेश करता है। अथर्वाङ्गिरस ऋषि के द्वारा देखे गये मन्त्र और ब्राह्मण ही

---

१. श्वे० ४-८। २. वाचेत्यादि— तथा च वाचनिकं वेदानां नित्यत्वं न कालिदासादिवाक्यानामिति भावः। वाचनिकमिति युक्तिस्तु तत्संभावनामात्रमिति भावः। ३. ननु वाचनिकं नित्यत्वं द्रव्यत्वेऽप्यविरुद्धमित्याशङ्क्याऽऽह—वेदानामित्यादि। वचनस्याकारकत्वादुपपद्यमानमात्रार्थबोधकत्वान्न तद्बलादसंभवादर्थः शक्योऽभ्युपगन्तुमिति भावः।

अथ ब्रह्मवल्ल्यां चतुर्थोऽनुवाकः।

यतो वाचो निवर्तन्ते। अप्राप्य मनसा सह। आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्। न बिभेति कदाचनेति। तस्यैष एव शारीर आत्मा। यः पूर्वस्य। तस्माद्वा एतस्मान्मनोमयात्। अन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयः। तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुषविध-

जहाँ से मन के सहित वाणी उसे प्राप्त न कर लौट आती है। उस ब्रह्म के आनन्द को जानने वाला पुरुष कभी डरता नहीं। जो मनोमय कोश है, उस अपने प्राणमय कोश का यही आत्मा है। उस इस मनोमय से पृथक् इसके भीतर आत्मा विज्ञानमय कोश है। उस विज्ञानमय से यह मनोमय परिपूर्ण है। वह यह निश्चय रूप विज्ञानमय भी पुरुष के आकार का ही है। उसकी पुरुषाकारता के

आदेशोऽत्र ब्राह्मणमतिदेष्टव्यविशेषानतिदिशतीति। [1]अथर्वणाऽङ्गिरसा च दृष्टा मन्त्रा [2]ब्राह्मणं च शान्तिकपौष्टिकादिप्रतिष्ठाहेतुकर्मप्रधानत्वात्पुच्छं प्रतिष्ठा तदप्येष श्लोको भवति मनोमयात्मप्रकाशकः पूर्ववत्।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ तैत्तिरीयोपनिषदि द्वितीयब्रह्मवल्ल्यध्यायभाष्ये तृतीयोनुऽवाकः।।३।।

यतो वाचो निवर्तन्ते। अप्राप्य मनसा सहेत्यादिः। तस्य पूर्वस्य प्राणमयस्यैष एवाऽऽत्मा शारीरः शरीरे प्राणमये भवः शारीरः। कः। य एष मनोमयः। तस्माद्वा एतस्मादित्यादि पूर्ववत्। अन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयो मनोमयस्याऽऽभ्यन्तरो विज्ञान-

---

अतिदेष्टव्यविशेषान्कर्तव्यविशेषानिदमेवं कर्तव्यमित्युपदिशतीत्यर्थः।।१।।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छुद्धानन्दपूज्यपादशिष्यानन्दज्ञानविरचितायां तैत्तिरीयोपनिषच्छांकरभाष्यटीकायां द्वितीये ब्रह्मवल्ल्यध्याये तृतीयोऽनुवाकः।।३।।

प्रतिष्ठा रूप पुच्छ हैं क्योंकि उनमें शान्ति और पुष्टि की स्थिति के हेतुभूत कर्मों की प्रधानता है। इस विषय में ही मनोमय आत्मा का प्रकाशक यह श्लोक है, इत्यादि पूर्ववत् समझना चाहिये।

मनोमय कोश की महिमा और विज्ञानमय कोश का वर्णन

"मन के सहित वाणी उसे न पाकर जहाँ से लौट आती है" इत्यादि उस पूर्वोक्त प्राणमय का यही प्राणमय शरीर में रहने वाला शरीर आत्मा है। कौन? यह जो मनोमय है 'तस्माद्वा एतस्मात्' इत्यादि वाक्य का अर्थ पूर्ववत् समझना चाहिये। उस इस मनोमय से अन्तर्वर्ती इसका दूसरा आत्मा विद्यमान है अर्थात् मनोमय कोश के भीतर विज्ञानमय कोश रहता है। मनोमय कोश वेदरूप कहा गया था। वेदों के अर्थ को विषय करने वाली निश्चयात्मिका बुद्धि को विज्ञान कहते हैं और वह अन्तः

---

१. अथर्वाङ्गिरस इत्येतद्व्याचष्टे—अथर्वणेत्यादिना। २. ब्राह्मणं च ताभ्यां दृष्टमित्यनुषङ्गः।

ताम्। अन्वयं पुरुषविधः। तस्य श्रद्धैव शिरः। ऋतं दक्षिणः पक्षः। सत्यमुत्तरः पक्षः। योग आत्मा। महः पुच्छं प्रतिष्ठा तदप्येष श्लोको भवति।।१।।

इति कृष्णयजुर्वेदीयत्तैत्तिरीयोपनिषदि द्वितीये ब्रह्मवल्ल्यध्याये चतुर्थोऽनुवाकः।।४।।

अनुरूप ही यह विज्ञानमय भी पुरुषाकार है। उसका शिर श्रद्धा ही है, ऋत दक्षिणपक्ष है, सत्य उत्तरपक्ष है, समाधान ही मध्यभाग है और महत्तत्त्व पुच्छ प्रतिष्ठा है। उस विज्ञानमय के विषय में ही यह मन्त्र है।।१।।

।।इति चतुर्थोऽनुवाकः।।

मयो मनोमयो वेदात्मोक्तः। वेदार्थविषया बुद्धिर्निश्चयात्मिका विज्ञानं तच्चाध्यवसायलक्षणमन्तःकरणस्य धर्मः। तन्मयो निश्चयविज्ञानैः प्रमाणस्वरूपैर्निव(र्व)र्तित आत्मा विज्ञानमयः। [1]प्रमाणविज्ञानपूर्वको हि यज्ञादिस्तायते। यज्ञादिहेतुत्वं च [2]वक्ष्यति श्लोकेन।

निश्चयविज्ञानवतो हि कर्तव्येष्वर्थेषु पूर्वं श्रद्धोत्पद्यते। सा सर्वकर्तव्यानां प्राथम्याच्छिर इव शिरः। ऋतसत्ये यथाव्याख्याते एव। योगो युक्तिः समाधानम्। आत्मेवाऽऽत्मा। [3]आत्मवतो हि युक्तस्य समाधानवतोऽङ्गानीव श्रद्धादीनि यथार्थप्रतिपत्तिक्षमाणि भवन्ति, तस्मात्समाधानं योग आत्मा विज्ञानमयस्य। महः पुच्छं प्रतिष्ठा।

वाङ्मनसयोर्वाङ्मनसगोचरत्वं नोपपद्यते स्वात्मनि वृत्तिविरोधादतो वाङ्मनोविशिष्टान्मनोमयाद्वाचो मनसा सह निवर्तन्त इत्यर्थः। तस्य च मनोमयस्य ब्रह्मण उपासनफलभूतमाधिदैविकमानन्दं विद्वान्न बिभेति गर्भवासादिदुःखादित्यर्थः। वेदार्थेति। तथाऽध्यवसायलक्षणं लौकिकमपि विज्ञानं ग्राह्यमित्यर्थः।

कारण का अध्यवसाय रूप धर्म है। प्रमाण स्वरूप निश्चय विज्ञान से निष्पन्न होने वाला आत्मा तन्मय अर्थात् विज्ञानमय है क्योंकि प्रमाण के विज्ञानपूर्वक ही यज्ञादि का विस्तार किया जाता है। यज्ञादि का हेतु विज्ञान है, यह बात श्रुति मन्त्र द्वारा आगे कहेगी।

निश्चयात्मिका वृत्ति से सम्पन्न पुरुष को सर्वप्रथम कर्तव्य कर्म में श्रद्धा ही उत्पन्न होती है। अतः सम्पूर्ण कर्मों में प्रथम होने के कारण वह शिर के समान उस विज्ञानमय का शिर है। ऋत और सत्य का अर्थ पूर्व व्याख्या के समान ही समझना चाहिये। समाधानरूप योग ही आत्मा के समान उस विज्ञानमय का आत्मा है क्योंकि समाहित आत्मवान् पुरुष के ही अङ्गादि के समान श्रद्धादि साधन यथार्थज्ञान की प्राप्ति में समर्थ होते हैं। अतः समाधानरूप योग ही विज्ञानमय कोश का आत्मा है। और महः उसकी पुच्छ यानी प्रतिष्ठा है। "प्रथम उत्पन्न महान् यक्ष को जानता है" इस अन्य श्रुति से

---

१. किमिति संशयादिसाधारणमेव विज्ञानं नोपादीयते तत्राऽऽह—प्रमाणेत्यादि। २. वक्ष्यति विज्ञानस्येति शेषः। ३. आत्मवतो ह्यङ्गानीवेत्यन्वयः।

अथ ब्रह्मवल्ल्यां पञ्चमोऽनुवाकः।

विज्ञानं यज्ञं तनुते। कर्माणि तनुतेऽपि च। विज्ञानं देवाः सर्वे। ब्रह्म ज्येष्ठमुपासते। विज्ञानं ब्रह्म चेद्वेद। तस्माच्चेन्न प्रमाद्यति। शरीरं पाप्मनो हित्वा।

विज्ञानवान् (पुरुष ही श्रद्धादि पूर्वक) यज्ञ का विस्तार करता है और वही कर्मों का भी विस्तार करता है। इन्द्रादि सभी देवगण (सर्वप्रथम उत्पन्न होने से) ज्येष्ठ विज्ञानस्वरूप ब्रह्म की उपासना करते हैं। विज्ञान ब्रह्म है, इस प्रकार साधक जाने और फिर उससे प्रमाद भी न करे

मह इति महत्तत्त्वं प्रथमजम्। "[1]महद्यक्षं प्रथमजम्" इति श्रुत्यन्तरात्। पुच्छं प्रतिष्ठा। कारणत्वात्। कारणं हि कार्याणां प्रतिष्ठा। यथा वृक्ष[2]वीरुधां पृथिवी। सर्वबुद्धिविज्ञानानां च महत्तत्त्वं कारणम्। तेन तद्विज्ञानमयस्याऽऽत्मनः प्रतिष्ठा। तदप्येष श्लोको भवति पूर्ववत्। यथाऽन्नमयादीनां ब्राह्मणोक्तानां प्रकाशकाः श्लोका एवं विज्ञानमयस्यापि।।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ तैत्तिरीयोपनिषदि द्वितीयब्रह्मवल्ल्यध्यायभाष्ये चतुर्थोऽनुवाकः।।१।।

विज्ञानं यज्ञं तनुते। विज्ञानवान्हि यज्ञं तनोति श्रद्धादिपूर्वकम्। अतो विज्ञानस्य कर्तृत्वं तनुत इति, कर्माणि च तनुते। यस्माद्विज्ञानकर्तृकं सर्वं तस्माद्युक्तं विज्ञानमय आत्मा ब्रह्मेति। किंच विज्ञानं ब्रह्म सर्वे देवा इन्द्रादयो ज्येष्ठं प्रथमजत्वात्सर्वप्रवृत्तीनां

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छुद्धानन्दपूज्यपादशिष्यानन्दज्ञानविरचितायां तैत्तिरीयोपनिषच्छांकरभाष्यटीकायां द्वितीये ब्रह्मवल्ल्यध्याये चतुर्थोऽनुवाकः।।४।।

प्रथमजत्वादिति। हिरण्यगर्भाभेदेनेत्यर्थः।

प्रथम उत्पन्न महत्तत्त्व को ही महः शब्द से कहा गया है। वह विज्ञानमय का कारण होने से उसकी प्रतिष्ठा है क्योंकि कारण ही कार्यवर्ग का आश्रय हुआ करता है। जैसे वृक्ष और लता गुल्मादि की प्रतिष्ठा उनकी कारणरूपा पृथिवी है। बुद्धि के सम्पूर्ण विज्ञानों का कारण महत्तत्त्व ही है। इसीलिये यह विज्ञानमय आत्मा की प्रतिष्ठा है। पूर्व की भाँति इस विषय में भी यह श्लोक है। जैसे पहले श्लोक ब्राह्मणोक्त अन्नमयादि के प्रकाशक हैं; वैसे ही इस विज्ञानमय का भी प्रकाशक यह श्लोक है।

विज्ञान की महिमा तथा आनन्दमय का वर्णन

विज्ञान यज्ञ का विस्तार करता है। अर्थात् विज्ञानवान् पुरुष ही श्रद्धादि पूर्वक यज्ञ का अनुष्ठान करता है। अतः यज्ञानुष्ठान में विज्ञान का कर्तृत्व है और 'तनुते' का भाव यह है कि वही विज्ञान कर्मों का भी विस्तार करता है क्योंकि सब कुछ विज्ञान का किया हुआ है। अतः विज्ञानमय आत्मा ब्रह्म है, ऐसा कहना ठीक ही है। इतना ही नहीं, बल्कि इन्द्रादि सभी देवगण भी सर्वप्रथम उत्पन्न होने के

---

१. बृ. उ. ५।४।१। २. "वीरुल्लताविटपयोः स्त्रियाम्"।

सर्वान्कामान्त्समश्नुत इति। तस्यैष एव शारीर आत्मा। यः पूर्वस्य। तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयात्। अन्योऽन्तर आत्माऽऽनन्दमयः। तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुषविधताम्। अन्वयं

(अर्थात् बाह्य अनात्म पदार्थों में आत्मबुद्धिरूप प्रमाद न करे) तो अपने (शरीराभिमान के कारण होने वाले) सम्पूर्ण पापों को त्याग कर वह समस्त भोगों को विज्ञानमय स्वरूप से ही पूर्णतया उपभोग करता है। उस पूर्व कथित मनोमय शरीर का आत्मा यह विज्ञानमय कोश ही है। उस इस विज्ञानमय कोश से भिन्न उसके भीतर रहने वाला आनन्दमय है। उस आनन्दमय के द्वारा यह विज्ञानमय परि-

---

वा तत्पूर्वकत्वात्प्रथमजं विज्ञानं ब्रह्मोपासते ध्यायन्ति तस्मिन्विज्ञानमये ब्रह्मण्यभिमानं कृत्वोपासत इत्यर्थः। तस्मात्ते महतो ब्रह्मण उपासनाज्ज्ञानैश्वर्यवन्तो भवन्ति। तच्च विज्ञानं ब्रह्म चेद्यदि वेद विजानाति न केवलं वेदैव तस्माद्ब्रह्मणश्चेन्न प्रमाद्यति। बाह्येष्वेवानात्मस्वात्मभावितत्वात्प्राप्तं विज्ञानमये ब्रह्मण्यात्मभावनायाः प्रमदनं, तन्निवृत्त्यर्थमुच्यते तस्माच्चेन्न प्रमाद्यतीति। अन्नमयादिष्वात्मभावं हित्वा केवले विज्ञानमये ब्रह्मण्यात्मत्वं भावयन्नास्ते चेदित्यर्थः। ततः किं स्यादित्युच्यते—शरीरे पाप्मनो[१] हित्वा शरीराभिमाननिमित्ता हि सर्वे पाप्मानस्तेषां च विज्ञानमये ब्रह्मण्यात्माभिमानान्निमित्तापाये हानमुपपद्यते। छत्रापाय इव च्छायापायः। तस्माच्छरीराभिमाननिमित्तान्सर्वान्पाप्मनः शरीरप्रभवाच्छरीर एव हित्वा विज्ञानमयब्रह्मस्वरूपापन्नस्तत्स्थान्सर्वान् कामान्विज्ञानमयेनैवाऽऽत्मना समश्नुते सम्यग्भुङ्क्त इत्यर्थः।

कारण ज्येष्ठ विज्ञानमय की उपासना करते हैं अथवा समस्त वृत्तियाँ विज्ञानपूर्वक होने के कारण जो प्रथम उत्पन्न हुआ है, उस विज्ञानरूप ब्रह्म की उपासना करते हैं। उस विज्ञानमय ब्रह्म में अभिमान करके उसकी उपासना करते है।, यह इसका अभिप्राय है। अतः उस महद् ब्रह्म की उपासना करने से वे देवगण ज्ञान और ऐश्वर्य से सम्पन्न होते हैं। उस विज्ञानरूप ब्रह्म को न केवल जान ले प्रत्युत उसमें प्रमाद भी न करे। बाह्य अनात्म पदार्थों में आत्मबुद्धि का होना ही प्रमाद है। विज्ञानमय ब्रह्म में की हुई आत्मभावना से प्रमाद का होना सम्भव है, उसकी निवृत्ति के लिये कहते हैं कि यदि उससे प्रमाद न करे इत्यादि। अभिप्राय यह है कि यदि अन्नमयादि कोश में आत्मभाव को छोड़कर केवल विज्ञानमय ब्रह्म में ही आत्मत्व की भावना करके स्थित रहे। इससे क्या होगा? इसे कहते हैं कि शरीर के पापों को त्यागकर (उसमें स्थित सम्पूर्ण भोगों को विज्ञानमय स्वरूप से ही प्राप्त कर लेता है) सम्पूर्ण पापों का कारण शरीराभिमान ही है। विज्ञानमय ब्रह्म में आत्मत्व अभिमान करने से निमित्त के क्षय हो जाने पर पापों का क्षय होना भी उचित ही है। जैसे छाते के हटा लेने पर तन्निमित्तक छाया भी निवृत्त हो जाती है। अतः शरीराभिमान के कारण होने वाले शरीर-जनित सभी पापों को शरीर

---

१. शरीर एव हित्वेति तैरसंसृष्ट. एव सन्निति यावत्।

पुरुषविधः। तस्य प्रियमेव शिरः। मोदो दक्षिणः पक्षः।
प्रमोद उत्तरः पक्षः। आनन्द आत्मा। ब्रह्म पुच्छं
प्रतिष्ठा। तदप्येष श्लोको भवति।

इति कृष्णयजुर्वेदीयतैत्तिरीयोपनिषदि द्वितीये ब्रह्मवल्ल्यध्याये
पञ्चमोऽनुवाकः।।५।।

पूर्ण है। वह यह आनन्दमय कोश भी पुरुषाकार ही है। विज्ञानमय की पुरुषाकारता के अनुरूप ही यह भी पुरुषाकार है उस आनन्दमय आत्मा का प्रिय वृत्ति ही शिर है, मोदवृत्ति दक्षिण पंख है, प्रमोदवृत्ति उत्तर पंख है, आनन्द आत्मा और ब्रह्म पुच्छरूप आश्रय है। उसके विषय में यह मन्त्र है।।१।।

।।इति पञ्चमोऽनुवाकः।।

तस्य पूर्वस्य मनोमयस्याऽऽत्मैष एव शरीरे मनोमये भवः शारीरः। कः। य एष विज्ञानमयः। तस्माद्वा एतस्मादित्युक्तार्थम्। आनन्दमय इति कार्यात्म-प्रतीतिरधिकारान्मयट्शब्दाच्च। अन्नमयादि हि कार्यात्मानो भौतिका इहाधिकृताः। तदधिकारपतितश्चायमानन्दमयः। मयट्चात्र विकारार्थे दृष्टो यथाऽन्नमय इत्यत्र। तस्मात्कार्यात्माऽऽनन्दमयः प्रत्येतव्यः। संक्रमणाच्च, आनन्दमयमात्मानमुपसंक्रामतीति वक्ष्यति। कार्यात्मनां च संक्रमणमनात्मनां दृष्टम् संक्रमणकर्मत्वेन चाऽऽनन्दमय आत्मा श्रूयते। यथाऽन्नमयमात्मानमुपसंक्रामतीति। न चाऽऽत्मन एवोपसंक्रमणम्। अधिकारविरोधाद-

---

आनन्दमयः परमात्मेति वृत्तिकारैरुक्तं तन्निषेधेन व्याचष्टे – कार्यात्मप्रतीतिरित्यादिना। संक्रामतीत्येतदतिक्रामतीत्यभिप्रायेण व्याख्यातं प्राप्त्यभिप्रायं कस्मान्न व्याख्यायत इत्यत आह – न चाऽऽत्मन एवेति। अन्नमयादीनामतिक्रमणीयतया प्रकृतत्वादेकस्य कर्तृत्वकर्मत्वासंभवाच्च प्राप्तिः

में ही त्यागकर विज्ञानमय ब्रह्मस्वरूप को प्राप्त हुआ साधक उसमें स्थित सम्पूर्ण भोगों को विज्ञानमय स्वरूप से ही सम्यक् प्रकार से भोग करता है।

उस पूर्वोक्त मनोमय का (मनोमय शरीर में रहने वाला) शारीर आत्मा भी यही है। कौन? यह जो विज्ञानमय है। "तस्माद्वा एतस्मात्" इत्यादि वाक्य का अर्थ पहले किया जा चुका है। आनन्दमय इस शब्द से कार्यात्मा की प्रतीति होती है क्योंकि उसी का प्रसंग है और आनन्द के साथ 'मयट्' प्रत्यय का प्रयोग भी दीखता है। यहाँ पर अन्नमयादि भौतिक कार्य आत्माओं का अधिकार है, उन्हीं के अन्तर्गत यह आनन्दमय भी है। यहाँ पर 'मयट्' प्रत्यय भी विकारार्थक देखा गया है। जैसे अन्नमय इस शब्द में 'मयट्' प्रत्यय विकारार्थक है। अतः आनन्दमय कार्य आत्मा ही समझना चाहिए। संक्रमण के कारण भी ऐसा अर्थ मानना ठीक ही है। "वह आनन्दमय आत्मा को प्राप्त होता है" ऐसा आगे श्रुति कहेगी। अन्नमयादि अनात्मारूप कार्य आत्माओं का ही संक्रमण होता देखा गया है और संक्रमण के कर्मरूप से आनन्दमय आत्मा भी सुना जाता है। जैसे "यह अन्नमय आत्मा के प्रति संक्रमण करता है" इस वाक्य में देखा जाता है। स्वयं आत्मा का ही संक्रमण होना असम्भव है क्योंकि

संभवाच्च। न ह्यात्मनैवाऽऽत्मन उपसंक्रमणं संभवति। स्वात्मनि भेदाभावात्। आत्मभूतं च ब्रह्म संक्रमितुः। शिरआदिकल्पनानुपपत्तेश्च। न हि यथोक्तलक्षण आकाशादि-कारणेऽकार्यपतिते शिरआद्यवयवरूपककल्पनोपपद्यते। "अदृश्येऽनात्म्येऽनिलयनेऽनिरुक्ते" (तै.उ. २-७) "अस्थूलमनणु" (बृ.उ. ३-८-८) "नेति नेत्यात्मे" (बृ.उ. ३-९-२६) त्यादिविशेषा-पोहश्रुतिभ्यश्च। मन्त्रोदाहरणानुपपत्तेश्च। न हि प्रियशिरआद्यवयवविशिष्टे प्रत्यक्षतोऽनुभूयमान आनन्दमय आत्मनि ब्रह्मणि नास्ति ब्रह्मेत्याशङ्काभावात् "असन्नेव स भवति। असद्ब्रह्मेति वेद चेत्" मन्त्रोदाहरणमुपपद्यते। ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठेत्यपि चानुपपन्नं पृथग्ब्रह्मणः प्रतिष्ठात्वेन ग्रहणम्। तस्मात्कार्यपतित एवाऽऽनन्दमयो न पर एवाऽऽत्मा। आनन्द इति विद्याकर्मणोः फलम्। तद्विकार आनन्दमयः। स च विज्ञानमयादन्तरः। यज्ञादिहेतो[1]र्विज्ञानमयस्यान्तर(त्व?)-श्रुतेः। ज्ञानकर्मणोर्हि फलं भोक्त्रर्थत्वादन्तरतमं स्यात्। अन्तरतमश्चाऽऽनन्दमय आत्मा

संक्रमणं न भवतीत्यर्थः। आनन्दमयस्य परमात्मत्वासंभवे हेत्वन्तराण्याह — शिरआदीत्यादिना। आनन्दमयस्य परमात्मत्वविवक्षायां मन्त्रे तस्यैवासत्त्वाशङ्का वक्तव्या तदसंभवाच्च नाऽऽनन्दमयः परमात्मतया प्रतिपाद्यत इत्याह — मन्त्रोदाहरणानुपपत्तेश्चेति। न हि मन्त्रोदाहरणमुपपद्यत इति संबन्धः। विशिष्टस्य विशेषणकार्यत्वात्सुख्यहमित्युपलभ्यमानो भोक्ताऽऽनन्दमय इत्युक्तम्। कथं तस्य विज्ञानमयादान्तर-त्वमित्यत आह — स चेति। कर्त्रपेक्षया भोक्तृत्वस्योत्तरभावित्वं प्रसिद्धमेव श्रुत्योक्तमित्यर्थः। एतत्स्फुटयति — ज्ञानकर्मणोर्हीति। शरीरादिभ्य आनन्दसाधनेभ्यः सकाशात्साध्येनाऽऽनन्देन विशिष्टोऽ-

---

इससे उस प्रसंग में विरोध आता है और ऐसा होना असम्भव भी है। आत्मा के द्वारा आत्मा को प्राप्त होना सम्भव नहीं है क्योंकि आत्मा में भेद का सर्वथा अभाव है और ब्रह्म भी संक्रमण करने वाले का आत्मा ही तो है। आत्मा में शिर आदि की कल्पना असंगत होने के कारण ही (आनन्दमय कार्य आत्मा है) आकाशादि के कारण एवं कार्य वर्ग के अन्तःपाती न होने वाले पूर्वोक्त लक्षण लक्षित आत्मा में शिर आदि अवयवरूप कल्पना का होना असंगत है। आत्मा में विशेष धर्मों का बाध करने वाली "अदृश्य, शरीर, अनिर्वचनीय और अनाश्रय में" "स्थूल और सूक्ष्म से भिन्न" "आत्मा यह नहीं है, यह नहीं है" इत्यादि श्रुतियों से भी यही बात सिद्ध होती है। इसके अतिरिक्त (यदि आनन्दमय को आत्मा मान लिया जाय तो) आगे कहे जाने वाले मन्त्र का उदाहरण देना भी असंगत ही होगा। शिर आदि अवयवों से युक्त आनन्दमय आत्मारूप ब्रह्म के प्रत्यक्षतः अनुभव होने पर ऐसी शङ्का बन ही नहीं सकती है कि ब्रह्म नहीं है। फिर उस शङ्का की निवृत्ति के लिये "जो पुरुष ब्रह्म नहीं है, ऐसा जानता है, वह स्वयं असद् रूप ही है" इस मन्त्र का उल्लेख करना कैसे संगत हो सकेगा और "ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा" यानी प्रतिष्ठा है इस वाक्य के अनुसार प्रतिष्ठारूप से ब्रह्म को पृथक् ग्रहण करना भी नहीं बनता। अतः आनन्दमय कार्य वर्ग का अन्तःपाती है; परमात्मा नहीं है। 'आनन्द' यह उपासना और कर्म का फल है। उसका विकार, आनन्दमय कहलाता है और वह विज्ञानमय कोश के बाद आता है क्योंकि श्रुति ने यज्ञादि के कारणभूत विज्ञानमय की अपेक्षा उसमें आन्तरत्व कहा है। उपासना और कर्म का फल भोक्ता के लिये होने से उसे सर्वान्तरतम होना ही चाहिये। अतः पूर्वोक्त सभी

---

१. विज्ञानमयस्य तदपेक्षयेति यावत्।

पूर्वेभ्यः। विद्याकर्मणोः प्रियाद्यर्थत्वाच्च। प्रियादिप्रयुक्ते हि विद्याकर्मणी। तस्मात्प्रियादीनां फलरूपाणामात्मसंनिकर्षाद्[1]विज्ञानमयस्याऽऽभ्यन्तरत्वमुपपद्यते। प्रियादिवासनानिर्वृत्तो ह्यानन्दमयो विज्ञानमयाश्रितः स्वप्न उपलभ्यते।

तस्याऽऽनन्दमयास्याऽऽत्मन इष्टपुत्रादिदर्शनजं प्रियं शिर इव शिरः प्राधान्यात्। मोद इति प्रियलाभनिमित्तो हर्षः। स एव च प्रकृष्टो हर्षः प्रमोदः। आनन्द इति सुखसामान्यमात्मा प्रियादीनां सुखावयवानां तेष्वनुस्यूतत्वादानन्द इति परं ब्रह्म। तद्धि शुभकर्मणा प्रत्युपस्थाप्यमाने पुत्रमित्रादिविषयविशेषोपाधावन्तःकरणवृत्तिविशेषे तमसाऽप्रच्छाद्यमाने प्रसन्नेऽभिव्यज्यते। तद्विषयसुखमिति प्रसिद्धं लोके। तद्वृत्तिविशेषप्रत्युपस्थापकस्य कर्मणोऽनवस्थितत्वात्सुखस्य क्षणिकत्वम्। तद्यदाऽन्तःकरणं तपसा तमोघ्नेन विद्यया ब्रह्मचर्येण श्रद्धया च निर्मलत्वमापद्यते यावद्यावत्तावत्तावद्विविक्ते प्रसन्नेऽन्तःकरण आनन्दविशेष उत्कृष्यते विपुलीभवति। वक्ष्यति च—"रसो

न्तरतमः प्रसिध्यतीत्यर्थः। किंच [2]प्रियं च तत्साधनं चोद्दिश्य कर्ता विज्ञानकर्मणी अनुतिष्ठति। तत उद्देश्यत्वादस्याऽऽन्तर्यं सिद्धमित्याह — विद्याकर्मणोरिति। प्रियादिविशिष्टस्य स्वप्ने साक्षिणोपलभ्यत्वाच्च न मुख्यात्मत्वमित्याह — प्रियादिवासनेति।

यदुक्तं ज्ञानकर्मणोः फलभूत आनन्दमय इति तस्य साध्यत्वमौपाधिकं स्वमतानुसारेणाऽऽह — आनन्द इति परमिति। कथं तर्हि विषयसुखस्य क्षणिकत्वं सातिशयत्वं च व्यञ्जकवृत्तिनिबन्धनमित्याह — तद्वृत्तिविशेषेति। ब्रह्मण आनन्दस्वभावत्व एव किं प्रमाणमित्यत आह — वक्ष्यति चेति।

कोशों की अपेक्षा आनन्दमय आत्मा आन्तरतम है ही क्योंकि विद्या और कर्म भी प्रिय आदि के लिये ही हैं। प्रिय, मोद और प्रमोद आदि की प्राप्ति के लिये ही उपासना और कर्म का अनुष्ठान किया जाता है। अतः उनके फलरूप प्रिय आदि का आत्मा से सन्निकर्ष होने के कारण विज्ञानमय की अपेक्षा इस आनन्दमय का आन्तरतम होना उचित ही है। प्रिय आदि की वासना से निष्पन्न हुआ यह आनन्दमय स्वप्नावस्था में विज्ञानमय के आश्रित ही उपलब्ध होता है।

उस आनन्दमय आत्मा की पुत्रादि इष्ट वस्तु के दर्शन से होने वाली प्रियवृत्ति प्रधानता के कारण शिर के समान है। प्रिय वस्तु की प्राप्ति से होने वाले हर्ष को मोद कहा है, वही हर्ष बढ़ जाने पर प्रमोद कहा जाता है। आनन्द यह सामान्य सुख का नाम है वही सुख के अवयवभूत प्रिय आदि का आत्मा है क्योंकि उसी में वे सब ओत-प्रोत है।। आनन्द यह परब्रह्म का ही वाचक है। शुभ कर्म द्वारा प्राप्त पुत्र-मित्रादि विषय विशेष ही जिसकी उपाधि है। जब वह तमोगुण से आच्छादित नहीं होता, तब उस सुप्रसन्न अन्तःकरण की वृत्ति विशेष में आनन्दरूप ब्रह्म अभिव्यक्त होता है। लोक में यही विषय सुख के नाम से प्रसिद्ध है। उस ब्रह्म स्वरूप सुख को अभिव्यक्त करने वाली वृत्ति के उपस्थापक कर्म के स्थिर न होने के कारण उस सुख की भी क्षणिकता है। अतः जिस समय अन्तःकरण तमोगुण

---

१. तदपेक्षया। २. उद्देश्यस्यान्तरत्वे दृष्टान्तार्थत्वेन प्रियादीत्यादिशब्दं व्याचष्टे—प्रियं च तत्साधनं चेति। प्रियं विषयसुखं तत्साधनं चेन्द्रियसामर्थ्यादीत्यर्थः। वस्तुतो मोदाद्येवादिना युक्तं ग्रहीतुम्।

वै सः। रसꣳ ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति। एष ह्येवा[१]ऽऽनन्दयाति। [२]एतस्यैवाऽऽनन्द-स्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति" इति च श्रुत्यन्तरात्। एवं च कामोपशमोत्कर्षापेक्षया शतगुणोत्तरोत्तरोत्कर्ष आनन्दस्य वक्ष्यते। एवं चोत्कृष्यमाणस्याऽऽनन्दमयस्याऽऽत्मनः [३]परमार्थब्रह्मविज्ञानापेक्षया ब्रह्म परमेव यत्प्रकृतं सत्यज्ञानानन्तलक्षणं यस्य च प्रतिपत्त्यर्थंपञ्चान्नादिमयाः कोशा उपन्यस्ताः। यच्च तेभ्योऽभ्यन्तरं येन च ते सर्वे आत्म-वन्तस्तद्ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा। तदेव च सर्वस्याविद्यापरिकल्पितस्य द्वैतस्यावसान-भूतमद्वैतं ब्रह्म प्रतिष्ठा। आनन्दमयस्यै[४]कत्वावसानत्वादस्ति तदेकमविद्याकल्पितस्य द्वैतस्यावसानभूतमद्वैतं ब्रह्म प्रतिष्ठा पुच्छं तदेतस्मिन्नप्यर्थ एष श्लोको भवति।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ तैत्तिरीयोपनिषदि द्वितीयब्रह्मवल्ल्यध्याये पञ्चमोऽनुवाकः।।५।।

अन्तःकरणशुद्ध्युत्कर्षादेवाऽऽनन्दस्य सातिशयत्वमित्यत्र लिङ्गमाह — एवं चेति। यदि विषयविशेषजन्यत्वेनाऽऽनन्दोत्कर्षस्तदा निष्कामस्य विषयविशेषोपभोगासंभवादानन्दोत्कर्षो न श्राव्येत। आत्मस्वभावस्यैवाऽऽनन्दस्य व्यञ्जकान्तःकरणशुद्ध्युत्कर्षादेवोत्कर्ष इत्येवं तु सत्यकामहतत्वोत्कर्षादुत्कर्षः संभाव्यत इत्यर्थः। उक्तप्रकारेण विषयानन्दस्य सातिशयत्वे इति तद्विशिष्टस्याऽऽनन्दमयास्याब्रह्मत्वं सिद्धम्। सातिशयत्वेन प्रतिशरीरं भिन्नत्वात्। ब्रह्म तु तदध्यासाधिष्ठानमद्वितीयमित्याह — एवं चेति। एतस्मिन्नप्यर्थ इति। आनन्दमयस्य प्रतिष्ठाभूतब्रह्मप्रकाशनपर इत्यर्थः।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छुद्धानन्दपूज्यपादशिष्यानन्दज्ञानविरचितायां तैत्तिरी-योपनिषच्छांकरभाष्यटीकायां द्वितीयब्रह्मवल्ल्यध्याये पञ्चमोऽनुवाकः।।५।।

को नष्ट करने वाले तप, उपासना, ब्रह्मचर्य और श्रद्धा के द्वारा जिस मात्रा में निर्मलता को प्राप्त होता है, उतने-उतने ही स्वच्छ और प्रसन्न उस अन्तःकरण में आनन्द विशेष का उत्कर्ष होता है अर्थात् वह अत्यधिक बढ़ जाता है, यही बात "निःसन्देह वह रसरूप ही है। इस रस को प्राप्त कर पुरुष आनन्दित हो जाता है। यह रस ही सब को आनन्दित करता है" ऐसा आगे कहेंगे और "इस आनन्द के अंश मात्र के आश्रित ही सभी प्राणी जीवित रहते हैं" ऐसी दूसरी श्रुति से भी यही बात सिद्ध होती है। इसी प्रकार कामना के उपशम के बढ़ जाने पर उत्तरोत्तर आनन्द का सौ-सौ गुणा उत्कर्ष आगे कहा जायगा। इस प्रकार परमार्थ ब्रह्म के विज्ञान की अपेक्षा से क्रमशः उत्कर्ष को प्राप्त होने वाले आनन्दमय कोशरूप आत्मा की अपेक्षा ब्रह्म श्रेष्ठ है। जो इस प्रसङ्ग में सत्य, ज्ञान और अनन्तरूप लक्षण वाला है, जिसकी प्राप्ति के लिये अन्नमयादि पंचकोशों का वर्णन किया गया है, जो उन सबकी अपेक्षा अन्तर्वर्ती है और जिससे वे सभी कोश आत्मवान् हो रहे हैं, वह ब्रह्म ही उस आनन्दमय का आश्रय है। अविद्या कल्पित सम्पूर्ण द्वैत का निषेधावधिभूत वह अद्वैत ब्रह्म ही उसकी प्रतिष्ठा है क्योंकि आनन्दमय का पर्यवसान एकत्व में ही होता है। अविद्या परिकल्पित द्वैत की परिसमाप्ति उस एक अद्वय ब्रह्म में ही होती है। अतः ब्रह्म उसकी प्रतिष्ठारूप पुच्छ है। उसी इस अर्थ में यह श्लोक है।

---

१. आनन्दयातीति— अत्रेतिरपकृष्यते चशब्दाद्वक्ष्यत्यन्वयार्थम् २. बृ.उ. ४-३-३२। ३. परमार्थब्रह्मविज्ञा-नापेक्षया यत्प्रकृतमित्यन्वयः। ४. एकत्वावसानत्वादिति—अन्यथा तदग्रेऽपि कोशान्तरमुपक्षिप्येतेति भावः।

अथ ब्रह्मवल्ल्यध्याये षष्ठोऽनुवाकः

असन्नेव स भवति। असद्ब्रह्मेति वेद चेत्। अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद। सन्तमेनं ततो विदुरिति। तस्यैष एव शारीर आत्मा। यः पूर्वस्य। अथातोऽनुप्रश्नाः। उताविद्वानमुं लोकं प्रेत्य। कश्चन गच्छती३। आहो

"ब्रह्म असद् है" ऐसा यदि कोई पुरुष जानता है तो वह स्वयं ही असद् हो जाता है, (क्योंकि असद् पदार्थ पुरुषार्थ से सम्बन्ध नहीं रखता) और "ब्रह्म है" तो उसे ब्रह्मवेत्ता लोग सद्रूप मानते हैं। उस पूर्वोक्त विज्ञानमय का यह जो आनन्दमय है। वह शरीर स्थित आत्मा है (इस प्रकार आचार्य का उपदेश सुनकर शिष्य के) अब ये अनुप्रश्न हैं, (आकाशादि का कारण होने से ब्रह्म विद्वान् और अविद्वान् दोनों ही के लिये समान रूप से प्राप्त है अतः) क्या कोई अज्ञानी पुरुष भी इस वर्तमान शरीर

असन्नेवासत्सम एव यथाऽसन्न पुरुषार्थसंबन्ध्येवं स भवति अपुरुषार्थसंबन्धी। कोऽसौ। योऽसदविद्यमानं ब्रह्मेति वेद विजानाति चेद्यदि। तद्विपर्ययेण यत्सर्वविकल्पास्पदं सर्वप्रवृत्तिबीजं सर्वविशेषप्रत्यस्तमितमप्यस्ति तदब्रह्मेति वेद चेत्। कुतः पुनराशङ्का तन्नास्तित्वे, [1]व्यवहारातीतत्वं ब्रह्मण इति ब्रूमः। व्यवहारविषये हि वाचारम्भणमात्रेऽस्तित्वभाविता बुद्धिस्तद्विपरीते व्यवहारातीते नास्तित्वमपि प्रतिपद्यते। यथा घटादिर्व्यवहारविषयतयोपपन्नः संस्तद्विपरीतोऽसन्निति प्रसिद्धम्। एवं तत्सामान्यादिहापि स्यादब्रह्मणो नास्तित्वं प्रत्याशङ्का। तस्मादुच्यते—अस्ति ब्रह्मेति

सत् और असत् से ब्रह्म को जानने का फल तथा सम्पूर्ण प्रपंचरूप से ब्रह्म की स्थिति

जिस प्रकार अविद्यमान् पदार्थ पुरुषार्थ सम्बन्धी नहीं होता, उसी प्रकार वह भी असत् के समान ही पुरुषार्थ से सम्बन्ध रखने वाला नहीं रह जाता है। वह कौन? जो ब्रह्म को अविद्यमान जानता है। चेत् शब्द का अर्थ यदि है। इसके विपरीत जो तत्त्व सम्पूर्ण विकल्पों का आधार सभी प्रवृत्तियों का बीजरूप और सम्पूर्ण विशेषों से रहित भी है, वह ब्रह्म है। ऐसा यदि कोई जानता है (तो उसे ब्रह्मज्ञानी पुरुष 'सन्त' समझते हैं) ब्रह्म के अस्तित्वाभाव के विषय में क्यों शङ्का की जाती है? ब्रह्म व्यवहार से परे है, ऐसा हम कहते हैं। जो केवल वाणी से ही उच्चारण किये जाते हैं, ऐसे व्यवहार के विषय में ही अस्तित्व भावना से भावित बुद्धि होती है, उनसे विपरीत व्यवहारातीत पदार्थों में अस्तित्व का भी अनुभव बुद्धि नहीं कर सकती। जैसे जल लाना आदि व्यवहार के विषयरूप से उत्पन्न हुआ घटादि पदार्थ सत् और उससे विपरीत वन्ध्यापुत्रादि असत् होता है, इस प्रकार प्रसिद्ध है; ठीक उसकी समानता के कारण यहाँ पर भी ब्रह्म के अविद्यमानत्व की शङ्का हो सकती है। इसी

---

१. व्यवहारातीतत्वं कारणमिति शेषः।

विद्वानमुं लोकं प्रेत्य। कश्चित्समश्नुता३उ।
सोऽकामयत। बहु स्यां प्रजायेयेति। स तपोऽतप्यत।
स तपस्तप्त्वा। इदꣳसर्वमसृजत। यदिदं किंच।
तत्सृष्ट्वा। तदेवानुप्राविशत्। तदनुप्रविश्य। सच्च

को त्याग कर उस परमात्मा को प्राप्त कर सकता है या कोई विद्वान् इस वर्तमान देह को छोड़कर उस परमात्मा को प्राप्त होता है या नहीं प्राप्त होता है, (इस प्रकार इन दोनों के ब्रह्म प्राप्ति के विषय में की गयी शंका के समाधान के लिए आचार्य कहते हैं—) उस परमेश्वर ने कामना की "मैं बहुत रूप से उत्पन्न होऊँ।" इसलिए उसने विचाररूप तप किया और तप करने के बाद ही यह जो कुछ जगत् है, इस सबकी रचना उसने की। इसे रचकर वह परमेश्वर इसी में जीवन भाव से प्रविष्ट हो गया। इस

चेद्वेदेति। किं पुनः स्यात्तदस्तीति विजानतस्तदाह—सन्तं विद्यमानं ब्रह्मस्वरूपेण [1]परमार्थसदात्मापन्नमेनमेवंविदं विदुर्ब्रह्मविदस्ततस्तस्मादस्तित्ववेदनात्सोऽन्येषां ब्रह्मवद्विज्ञेयो भवतीत्यर्थः। अथवा यो नास्ति ब्रह्मेति मन्यते स सर्वस्यैव [2]सन्मार्गस्य वर्णाश्रमादिव्यवस्थालक्षणस्याश्रद्दधानतया नास्तित्वं प्रतिपद्यते ब्रह्मप्रतिपत्त्यर्थत्वा[3]त्तस्य। अतो नास्तिकः सोऽसन्नसाधुरुच्यते लोके। तद्विपरीतः सन्योऽस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद स तद्ब्रह्मप्रतिपत्तिहेतुं सन्मार्गं वर्णाश्रमादिव्यवस्थालक्षणं श्रद्दधानतया यथावत्प्रतिपद्यते यस्मात्ततस्तस्मात्सन्तं साधुमार्गस्थमेनं विदुः साधवः। तस्मादस्तीत्येव ब्रह्म प्रतिपत्तव्यमिति वाक्यार्थः।

तस्य पूर्वस्य विज्ञानमयस्यैष एंव शरीरे विज्ञानमये भवः शारीर आत्मा।

लिये कहा है—ब्रह्म है, ऐसा यदि कोई जानता है इत्यादि। ब्रह्म है, इस प्रकार ब्रह्म के अस्तित्व जानने वाले को फिर होता क्या है? इसका उत्तर श्रुति देती है—ब्रह्म स्वरूपतः पदार्थ सत् आत्मभावापन्न है। इस प्रकार ब्रह्म की सत्ता जानने वाले को ब्रह्मवित् पुरुष सन्त मानते हैं। इसलिये ब्रह्म के अस्तित्व को जानने से वह परोक्ष ब्रह्मज्ञानी दूसरों के लिये विज्ञेय वैसे ही हो जाता है, जैसे ब्रह्म विज्ञेय है। अथवा यों समझो कि ब्रह्म नहीं है, ऐसा जो मानता है; वह वर्णाश्रमादि व्यवस्थारूप सम्पूर्ण सन्मार्ग में श्रद्धा न रखने के कारण नास्तिकता को प्राप्त हो जाता है क्योंकि इस प्रकार की नास्तिकता से ब्रह्म प्राप्त नहीं हो सकता। इसीलिये वह पुरुष असत् असाधु अर्थात् लोक में नास्तिक कहा जाता है। इसके विपरीत ब्रह्म है; ऐसा जो जानता है, वह सन्त अर्थात् आस्तिक कहा जाता है क्योंकि वह ब्रह्म प्राप्ति के साधन वर्णाश्रम आदि व्यवस्थारूप सन्मार्ग में श्रद्धा रखने के कारण वस्तु स्थिति को प्राप्त करता है। इसलिये साधु पुरुष उस सन्मार्ग में आरूढ़ व्यक्ति को सन्त मानते हैं। अतः ब्रह्म है, इस प्रकार से ही उसे प्राप्त करना चाहिये। बस यही इस वाक्य का तात्पर्य अर्थ है।

विज्ञानमय शरीर के भीतर उपलब्ध होने के कारण यही पूर्वोक्त विज्ञानमय शरीर का शारीर

---

१. विद्यमानत्वं नास्तिकस्याप्यविशिष्टमित्यत आह—परमार्थसदात्मापन्नमिति। २. सन्मार्गस्य नास्तित्वमित्यन्वयः। ३. तस्य—सन्मार्गस्य।

त्यच्चाभवत्। निरुक्तं चानिरुक्तं च। निलयनं चानिलयनं च। विज्ञानं चाविज्ञानं च। सत्यं चानृतं च सत्यमभवत्। यदिदं किंच। तत्सत्यमित्याचक्षते। तदप्येष श्लोको भवति।

इति कृष्णयजुर्वेदीयतैत्तिरीयोपनिषदि द्वितीये ब्रह्मवल्ल्यध्याये षष्ठोऽनुवाकः।।६।।

शरीर में अनुप्रवेश कर वह अबाधित सत्यस्वरूप परमेश्वर पृथिव्यादि मूर्त, आकाशादि अमूर्त, देश-काल वस्तु से परिच्छिन्न कहने योग्य और ऐसा न कहने योग्य, आश्रय-अनाश्रय, चेतन-अचेतन एवं व्यावहारिक दृष्टि से सत्य तथा असत्य रूप में यह जो कुछ भी है, उसे ब्रह्मतत्त्वदर्शी "सत्य" इस नाम से कहते हैं। उसी के विषय में यह मन्त्र है।।१।।

।। इति षष्ठोऽनुवाकः ।।

कोऽसौ। य एष आनन्दमयः। तं प्रति नास्त्याशङ्का नास्तित्वे, अपोढसर्वविशेषत्वात्तु ब्रह्मणो नास्तित्वं प्रत्याशङ्का युक्ता। सर्वसामान्याच्च ब्रह्मणो यस्मादेवमतस्तस्मात्। अथानन्तरं श्रोतुः शिष्यस्यानुप्रश्ना आचार्योक्तिमन्वेते प्रश्ना अनुप्रश्नाः।

सामान्यं हि ब्रह्माऽऽकाशादिकारणत्वाद्विदुषोऽविदुषश्च। तस्मादविदुषोऽपि ब्रह्मप्राप्तिराशङ्क्यते। [1]उतापि। अविद्वानमुं लोकं परमात्मानमितः प्रेत्य कश्चन।

आनन्दमयस्य प्रकाशकोऽयं श्लोक इति केचन तान्प्रत्याह – तं प्रतीति। सविशेषतया प्रत्यक्षत्वादित्यर्थः। सर्वेषां साधारणत्वाच्च ब्रह्मणो व्यवहार्यत्वं सर्वान्प्रति भवेन्न च दृश्यते ततोऽपि नास्तित्वाशङ्का जायत इत्यर्थः।

आकाशादिकारणत्वादिति। भूतविशिष्टसर्वजीवकारणत्वादित्यर्थः।

आत्मा है। वह कौन है? जो यह आनन्दमय आत्मा है। उस आनन्दमय आत्मा के अस्तित्व में नास्तित्व की आशंका किसी को नहीं होती अर्थात् आनन्दमय आत्मा है या नहीं, ऐसा संशय नहीं होता और आनन्दमय आत्मा नहीं ही है, इस प्रकार का विपर्यय नहीं ही होता; किन्तु सम्पूर्ण विशेषों से रहित होने के कारण निर्विशेष ब्रह्म के सम्बन्ध में नास्तित्व की आशंका हो ही जाती है क्योंकि वह निर्विशेष ब्रह्म सर्वत्र सामान्य रूप से ही स्थित है, जबकि ऐसी बात है इसीलिये आचार्य के पूर्वोक्त उपदेश सुनने के बाद श्रोता शिष्य के मन में प्रश्न बन जाते हैं। ऐसे प्रश्न को अनुप्रश्न की संज्ञा दी गयी है।

आकाशादि सम्पूर्ण भूत भौतिक प्रपंच का कारण होने से विद्वान् और अविद्वान् सभी के लिये ब्रह्म सामान्य ही है। अतः अविद्वान् के लिये भी ब्रह्म की प्राप्ति की आशंका बन जाती है कि कोई भी यहाँ से मरकर उस परमात्मलोक को प्राप्त करता है या नहीं। 'कश्चन' इस श्रुति में 'चन' प्रत्यय

---

१. प्रश्नार्थमुतशब्दं तत्समानार्थेनापिना व्याचष्टे—उतापीति। वाक्याद्योऽपिः प्रश्नार्थ एव।

चनशब्दोऽप्यर्थे। अविद्वानपि गच्छति प्राप्नोति किंवा न गच्छतीति द्वितीयोऽपि प्रश्नो द्रष्टव्योऽनुप्रश्ना इति बहुवचनाद्विद्वांसं प्रत्यन्यौ प्रश्नौ। यद्यविद्वान्सामान्यं कारणमपि ब्रह्म न गच्छति ततो विदुषोऽपि ब्रह्मागमनमाशङ्क्यते। अतस्तं प्रति प्रश्न आहो विद्वानिति। विद्वान्ब्रह्मविदपि कश्चिदितः प्रेत्यामुं लोकं समश्नुते उ इत्येवं स्थितेऽयादेशे यलोपे च कृतेऽकारस्य [1]प्लुतिः समश्नुता उ इत्युकारं च वक्ष्यमाणमधस्तादपकृष्य तकारं च पूर्वस्मादुतशब्दाद्व्यासज्याऽऽहो इत्येतस्मात्पूर्वमुतशब्दं संयोज्य पृच्छ्यत उताऽऽहो विद्वानिति। विद्वान्समश्नुतेऽमुं लोकम्।

किंवा यथाऽविद्वानेव विद्वानपि न समश्नुत इत्यपरः प्रश्नः। द्वावेव वा प्रश्नौ विद्वदविद्वद्विषयौ। बहुवचनं तु सामर्थ्यप्राप्तप्रश्नान्तरापेक्षया घटते। "असद्ब्रह्मेति वेद चेत्। अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद" इति श्रवणादस्ति नास्तीति संशयस्ततोऽर्थप्राप्तः किमस्ति नास्तीति प्रथमोऽनुप्रश्नः। ब्रह्मणोऽपक्षपातित्वादविद्वान्गच्छति न गच्छतीति द्वितीयः। ब्रह्मणः समत्वेऽप्यविदुष इव विदुषोऽप्यगमनमाशङ्क्यते। किं विद्वान्समश्नुते

कस्य सामर्थ्येन प्राप्तं प्रश्नान्तरमित्यत आह — असद्ब्रह्मेतीति। चेच्छब्दात्पाक्षिकसत्त्वावग-

---

'अपि' के अर्थ में है अर्थात् कोई अविद्वान् भी उस ब्रह्म को प्राप्त करता है अथवा नहीं प्राप्त करता है, ऐसा दूसरा प्रश्न भी समझना चाहिये क्योंकि 'अनुप्रश्नाः' इस पद में बहुवचन का प्रयोग किया गया है वैसे ही विद्वान् के सम्बन्ध में भी दो प्रश्न बन जाते हैं कि यदि अविद्वान् सब के कारण ब्रह्म को प्राप्त नहीं करता, अतः विद्वान् को भी ब्रह्मप्राप्ति में आशङ्का बन जाती है। इसीलिये "तं प्रति प्रश्न आहो विद्वानिति" यहाँ पर आगे कहे जाने वाले उकार को पीछे की ओर आकर्षण करना चाहिये और पूर्व कहे गये तकार को उसके साथ जोड़कर 'उत' शब्द को 'आहो' इस शब्द के साथ मिला कर प्रश्न करता है 'उताहो विद्वानिति' अर्थात् कोई ब्रह्मज्ञानी भी यहाँ से मरकर उस परमात्मलोक को प्राप्त करता है।

या जैसे अविद्वान् उस परमात्मा को प्राप्त नहीं करता; वैसे ही विद्वान् भी उसे प्राप्त नहीं करता, ऐसा दूसरा प्रश्न भी बन जाता है। 'समश्नुते उ' इस स्थिति में 'एचोऽयवायावः' पा०सूत्र से अयादेश एवं 'लोपः शाकल्यस्य' से यकार का लोप कर देने पर परिशिष्ट अकार को प्लुत हो जाता है। इसीलिये 'समश्नुता ३ उ इति' ऐसी श्रुति दीख पड़ती है। (इस प्रकार विद्वान् और अविद्वान् के सम्बन्ध में दो-दो प्रश्न होने के कारण सभी चार प्रश्न बन जाते हैं अथवा यों समझो कि विद्वान् के सम्बन्ध में एक प्रश्न है और अविद्वान् के सम्बन्ध में भी एक ही प्रश्न है, ऐसा मानने पर दो ही प्रश्न बनते है। फिर भला 'अनुप्रश्नाः' इस पद में प्रयोग किये गये बहुवचन की संगति कैसे बैठेगी? इसका उत्तर यह है कि प्रसंगतः प्राप्त प्रश्नान्तर की अपेक्षा से बहुवचन घट जाता है। ब्रह्म नहीं है, ऐसा यदि जानता है और ब्रह्म है, ऐसा यदि जानता है, ऐसे वाक्य के सुनने पर ब्रह्म है या नहीं है, इस प्रकार संशय होता है। अतः क्या वह ब्रह्म है या नहीं, ऐसा अर्थतः प्राप्त प्रथम प्रश्न को अनुप्रश्न कहा (ब्रह्म

---

१. प्लुतिः "विचार्यमाणाना"मिति न्यायात्।

न समश्नुत 'इति तृतीयोऽनुप्रश्नः। एतेषां प्रतिवचनार्थमुत्तरग्रन्थ आरभ्यते। तत्रास्तित्वमेव ताव[1]दुच्यते। यच्चोक्तं "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इति, तच्च कथं सत्यत्वमित्येतद्वक्तव्यमिती[2]दमुच्यते सत्त्वोक्त्यैव सत्यत्वमुच्यते। उक्तं हि "सदेव सत्यम्" इति। तस्मात्सत्त्वोक्त्यैव सत्यत्वमुच्यते। कथमेवमर्थताऽवगम्यतेऽस्य ग्रन्थस्य शब्दानुगमादनेनैव ह्यर्थेनान्वितान्युत्तराणि वाक्यानि। "तत्सत्यमित्याचक्षते" (तै.उ. २-६) "यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्" (तै.उ. २-७) इत्यादीनि।

तत्रासदेव ब्रह्मेत्याशङ्क्यते। कस्मात्। यदस्ति तद्विशेषतो गृह्यते यथा घटादि। यन्नास्ति तन्नोपलभ्यते यथा शशविषाणादि। तथा नोपलभ्यते ब्रह्म। तस्माद्विशेषतोऽग्रहणान्नास्तीति। तन्न। आकाशादिकारणत्वाद्ब्रह्मणः। न नास्ति ब्रह्म कस्मादा-

---

मसामर्थ्यादित्यर्थः। सत्त्वं चेदुपपन्नं ब्रह्मणस्तावतैव सत्यत्वं सिध्यति सतो बाधासंभवादित्यर्थः। एवमर्थतेति। सत्त्वोपपादने सत्यवस्तुविषयतेत्यर्थः।

ब्रह्मणः सत्त्वसाधनं नामासत्त्वव्यावृत्तिरेवेत्यभिप्रेत्यासत्त्वशङ्कामुद्भावयति — तत्रासदेवेति।

के अस्तित्व और नास्तित्व के सम्बन्ध में पहला प्रश्न हुआ) दूसरा प्रश्न यह है कि निर्विशेष ब्रह्म का किसी के साथ पक्षपात नहीं है। अतः अविद्वान् ब्रह्म को प्राप्त करता है या नहीं करता तीसरा प्रश्न यह है कि सब के लिये समान होने पर भी यदि अविद्वान् को वह ब्रह्म प्राप्त नहीं होता तो वैसे ही विद्वान् को प्राप्त नहीं होता। ऐसी आशंका करके क्या विद्वान् उसे प्राप्त करता है या नहीं करता, ऐसा तीसरा प्रश्न है। ये सब प्रश्न आचार्य उपदेश श्रवण करने के बाद श्रोता शिष्य के मन में उठते हैं (इसीलिये इन्हें अनुप्रश्न कहा गया है) इन्हीं प्रश्नों के उत्तर देने के लिए आगे का ग्रन्थ प्रारम्भ किया जाता है। उनमें से पहले ब्रह्म के अस्तित्व के सम्बन्ध में ही कहा जाता है क्योंकि जो पूर्व में 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इस वाक्य से कहा गया है। वह सत्यत्व उसमें कैसे माना जाय, उसे कहना पड़ेगा। उसी का उत्तर देते हैं—सत्त्व के कथन से ही उसमें सत्यत्व कहा गया है क्योंकि "सदेव सत्यम्" ऐसा अन्यत्र भी कहा गया है। अतः सत्त्व कथन से उस ब्रह्म में सत्यत्व बतलाया जाता है। इस ग्रन्थ का ऐसा अर्थ आपने कैसे समझा? आगे के उत्तर वाक्य इसी अर्थ से सम्बन्धित होने के कारण शब्द के अनुगम के आधार पर ऐसा अर्थ लगाया गया है। वे आगे के वाक्य हैं—"वह सत्य है, ऐसा ब्रह्मवित् पुरुष कहते हैं" "यदि वह अपरिच्छिन्न आकाश के समान आनन्द न होता, तो भला प्राण एवं अपान जैसे सहज क्रिया भी कौन करता" इत्यादि।

शङ्का— वहाँ पर ब्रह्म असत् ही है, ऐसी आशंका होती है, कैसे? क्योंकि जो वस्तु है, वह विशेषरूप से गृहीत होती है यथा घट-पट आदि और जो नहीं है, वह उपलब्ध नहीं होती जैसे खरगोश सींग; ठीक वैसे ही विशेष रूप से ब्रह्म उपलब्ध नहीं होता। अतः विशेषरूप से ग्रहण न होने के कारण ब्रह्म नहीं है। समाधानः— ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि आकाशादि समस्त प्रपंच का कारण होने

---

१. इतिशब्दोऽयं काकाक्षिगोलकन्यायेनोभयान्वयी। २. उच्यते—सोऽकामयतेत्यादावित्यर्थः। ३. इदं सोऽकामयतेत्यादिकम्।

काशादि हि सर्वं कार्यं ब्रह्मणो जातं गृह्यते। यस्माच्च जायते किंचित्तदस्तीति दृष्टं लोके यथा घटाङ्कुरादिकारणं मृद्बीजादि। तस्मादाकाशादिकारणत्वादस्ति ब्रह्म। न चासतो जातं किंचिद्गृह्यते लोके कार्यम्। असतश्चेन्नामरूपादिकार्यं निरात्मकत्वान्नोपलभ्येत। उपलभ्यते तु, तस्मादस्ति ब्रह्म। असतश्चेत्कार्यं गृह्यमाणमप्यसदन्वितमेव तत्स्यात्। न चैवं, तस्मादस्ति ब्रह्म।

तत्र कथ[1]मसतः सज्जायेतेति श्रुत्यन्तरमसतः सज्जन्मासंभवमन्वाचष्टे न्यायतः। तस्मात्सदेव ब्रह्मेति युक्तम्। तद्यदि मृद्बीजादिवत्कारणं स्यादचेतनं [2]तर्हि, न, कामयितृत्वात्। न हि कामयित्रचेतनमस्ति लोके। सर्वज्ञं हि ब्रह्मेत्यवोचाम। अतः

विप्रतिपन्नमाकाशादि सत्पूर्वकं कार्यत्वाद्घटवदिति लौकिकव्याप्त्यावष्टम्भेन सत्कारणं तावत्सिद्धम्। तस्य च देशादिकारणत्वेन देशाद्यनवच्छिन्नत्वाद्ब्रह्मपदवाच्यत्वं सिद्धम्। तस्य विशेषतोऽनुपलम्भेनासच्छङ्का जायते [3]सा कारणत्वेन व्यावर्त्यते न तु कारणत्वात्सत्त्वं साध्यत आश्रयासिद्धिप्रसङ्गादिति भावः। इतोऽपि जगदुपादाने नासत्त्वाशङ्का कार्येत्याह — न चासत इति।

न्यायत इति। असदन्वयादर्शनादिति युक्तित इत्यर्थः। एवमसत्त्वाशङ्कां निरस्याचेतनत्वाशङ्कां प्रधानवादिनः प्रसङ्गान्निराचष्टे — तद्यदीति। यद्यपि सांख्यमते चेतनस्य निर्विकारत्वात्कामयितृत्वमसिद्धं तथाऽपि लौकिकव्याप्तिबलेन कामयितृत्वादचेतनत्वशङ्का निवर्त्यत इत्याह — न हीति। तर्हि

से ब्रह्म की सत्ता का अभाव मानना उचित नहीं है। क्यों? क्योंकि आकाशादि सम्पूर्ण कार्य ब्रह्म से उत्पन्न हुआ जाना जाता है। जिससे कुछ उत्पन्न होता है, ऐसे घटादि का कारण मृत्तिका और अंकुरादि का कारण बीजादि लोक में सत्य देखे गये हैं। अतः आकाशादि समस्त प्रपंच का कारण होने से ब्रह्म का अस्तित्व मानना ही चाहिये। लोक में कोई भी कार्य असत् से उत्पन्न होता हुआ नहीं देखा जाता। यदि नाम रूपादि कार्य से असत् उत्पन्न हुए हों तो निस्तत्त्व होने के कारण उनकी उपलब्धि नहीं होनी चाहिये (वैसी स्थिति में नाम, रूप और अन्य प्रपंच नहीं हैं, ऐसा भान एवं वाग् व्यवहार होना चाहिये) किन्तु इसके विपरीत घट है, पट है, इस प्रकार उपलब्ध होता है। अतः जगत् कारण ब्रह्म है, ऐसा मानना ही युक्तिसङ्गत है। कदाचित् असत् से उत्पन्न हुआ कार्य उपलब्ध हो तो भी 'नास्ति घटः' इस प्रकार असत् से अन्वित ही घटादि कार्य प्रतीत होना चाहिये था, पर ऐसा प्रतीत होता नहीं। अतः जगत् कारण ब्रह्म है।

इसके अतिरिक्त इस सम्बन्ध में "कथमसतः सज्जायेत" यह दूसरी श्रुति युक्तिपूर्वक असत् से सत् का होना असम्भव बतलाती है। अतः ब्रह्म सत्य ही है, यह पक्ष युक्ति-युक्त है। यदि मृत्तिका और बीज के समान ब्रह्म जगत् का उपादान कारण है तब तो वह ब्रह्म भी मृदादिवत् अचेतन ही होगा। ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि जगत् कारण ब्रह्म में कामयितृत्व सुना गया है। लोक में अचेतन वस्तु कामना वाली नहीं देखी जाती है। ब्रह्म सर्वज्ञ है, ऐसा हम पहले कह आये हैं। अतः चेतन सर्वज्ञ

---

१. छा०उ० ६-२-२। २. तर्हि कथं त्वदभिमतं ब्रह्म सिध्येदिति भावः। ३. सा कारणत्वेनेति—तथा च विशेषतोऽनुपलम्भान्नास्तीत्यत्राप्रयोजकत्वख्यापनार्थैव कारणत्वोक्तिरिति भावः।

कामयितृत्वोपपत्तिः। कामयितृत्वादस्मदादिवदनाप्तकामं चेत्, न, [1]स्वातन्त्र्यात्, यथाऽन्यान्परवशीकृत्य कामादिदोषाः प्रवर्तयन्ति न तथा ब्रह्मणः प्रवर्तकाः कामाः। कथं तर्हि, सत्यज्ञानलक्षणाः स्वात्मभूतत्वाद्विशुद्धा न तैर्ब्रह्म प्रवर्त्यते। तेषां तु तत्प्रवर्तकं ब्रह्म प्राणिकर्मापेक्षया। तस्मात्स्वातन्त्र्यं कामेषु ब्रह्मणः। अतो नानाप्तकामं ब्रह्म साधनान्तरानपेक्षत्वाच्च।

[2]किंच यथाऽन्येषामनात्मभूता धर्मादिनिमित्तापेक्षाः कामाः स्वात्मव्यतिरिक्त-कार्यकारणसाधनान्तरापेक्षाश्च न तथा ब्रह्मणो निमित्ताद्यपेक्षत्वं किं तर्हि स्वात्मनोऽनन्या-स्तदेतदाह—

लौकिकव्याप्तिबलेनैवानाप्तकामत्वमपि प्राप्तमित्याशङ्क्याऽऽह — कामयितृत्वादित्यादिना। जीवाना-मनाप्तानन्दत्वं [3]परवशत्वान्न तदस्ति ब्रह्मण इत्यर्थः। कथंभूतास्तर्हि ब्रह्मणः कामा इत्याशङ्क्याया-माह — सत्यज्ञानलक्षणा इति। सत्यज्ञान (नं) लक्षणं स्वरूपं येषां तेषां ते तथोक्ताः। एतदुक्तं भवति, मायाप्रतिबिम्बितं हि ब्रह्म जगतः कारणं मायापरिणामैरेव कामैः कामयितृ। तेषां च परिणामानामविद्याद्यनभिभूतचिद्व्याप्तत्वात्सत्यज्ञानात्मकत्वं ब्रह्म तादात्म्याच्चा[4]धर्माद्यननुस्पृष्टत्वेन शुद्धत्वम्। ततो [5]जीवकामवैलक्षण्यं सिद्धमिति। तर्हि ब्रह्मणः कामाः पुण्यकारिणामप्यनिष्टफल-प्राप्त्यनुकूलाः स्युः स्वातन्त्र्यादित्याशङ्क्याऽऽह — तेषां त्विति। कामस्य शरीरादिसंबन्धजन्यत्वप्रसिद्धेर्ब्रह्मणः शरीरादिमत्त्वप्रसङ्ग इति नाऽऽशङ्कनीयमित्याह — साधनान्तरानपेक्षत्वाच्चेति। [6]कामसंस्कारवत्या मायाया ब्रह्मतादात्म्यात्तत्परिणामानां कामानां ब्रह्मतादात्म्यान्न शरीरादिनिमित्तापेक्षाऽस्तीत्यर्थः।

ब्रह्म में कामयितृत्व सिद्ध हो जाता है। यदि कहो कि ब्रह्म कामना करता है, तब तो हम लोगों के समान ही वह भी अनाप्तकाम होगा। तो ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि ब्रह्म स्वतन्त्र है, कामनादि के अधीन नहीं है। जैसे दूसरों को अपने अधीन करके कामादि दोष तदनुरूप कार्य में प्रवृत्त करते हैं, उस प्रकार काम ब्रह्म के प्रवर्तक नहीं। तो फिर कैसे हैं? सत्य. ज्ञानादिरूप अपने स्वरूपभूत होने के कारण वे कामादि विशुद्ध हैं। उन कामादिकों से परवश हुआ ब्रह्म प्रवृत्त नहीं होता; किन्तु जीव के कर्मों की अपेक्षा से उन कामनाओं का वह ब्रह्म प्रवर्तक ही रहता है। अतः इच्छादि के होने पर भी ब्रह्म की स्वतन्त्रता है ही। इसलिये ब्रह्म अनाप्त काम नहीं है। इसके अतिरिक्त ब्रह्म को साधनान्तर की अपेक्षा भी नहीं होती।

जैसे दूसरों को अनात्म रूप धर्मादि निमित्त से होने वाली कामनायें और उन कामनाओं की पूर्ति के लिये अपने से भिन्न कार्य कारणादि साधनों की अपेक्षा होती है, वैसा ब्रह्म को किसी निमित्त की अपेक्षा नहीं है; क्योंकि (वे सभी निमित्त एवं कार्य-करण साधनादि ब्रह्म में कल्पित होने के

---

१. स्वातन्त्र्यादिति-पारतन्त्र्यस्योपाधित्वादिति भावः। २. सूत्रं व्याचक्षाणो वाक्यमवतारयति—किंचेत्यादिना। ३. परवशादित्यप्रयोजकत्वं च हेतोरिति भावः। ४. अधर्माद्यस्पृष्टत्वेनेति पाठः। ५. जीवेत्यादि— तथा च जीवकामानां हेतुत्वे स्वरूपासिद्धिः। ब्रह्मकामानां तथात्वे तु दृष्टान्ते साधनवैकल्यं न च कामसामान्यमेव तथा विशेषमनादाय सामान्यापर्यवसानादिति भावः। वस्तुतस्तु मलिनकामवत्त्वस्योपाधित्व एव तात्पर्यम्। ६. कामेत्यादि—तथा च ब्रह्मकामा न शरीरादिसापेक्षा ब्रह्मतादात्म्याद्व्यतिरेकेण जीवकामवदिति भावः।

सोऽकामयत स आत्मा यस्मादाकाशः संभूतोऽकामयत कामितवान्। कथं, बहु स्यां बहु प्रभूतं भवेयम्। कथमेकस्यार्थान्तराननुप्रवेशे बहुत्वं स्यादित्युच्यते। प्रजायेयोत्पद्येय। न हि पुत्रोत्पत्त्येवार्थान्तरविषयं बहुभवनं कथं तर्ह्यात्मस्थानभिव्यक्तनामरूपाभिव्यक्त्या। यदाऽऽत्मस्थे अनभिव्यक्ते नामरूपे व्याक्रियेते तदा नामरूपे आत्मस्वरूपापरित्यागेनैव ब्रह्मणाऽप्रविभक्तदेशकाले सर्वावस्थासु व्याक्रियेते तदा तन्नामरूपव्याकरणं ब्रह्मणो बहुभवनम्। नान्यथा निरवयवस्य ब्रह्मणो बहुत्वापत्तिरुपपद्यतेऽल्पत्वं वा। यथाऽऽकाशस्याल्पत्वं बहुत्वं च वस्त्वन्तरकृतमेव। अतस्तद्द्वारेणैवाऽऽत्मा बहु भवति। न ह्यात्मनोऽन्यदनात्मभूतं तत्प्रविभक्तदेशकालं सूक्ष्मं व्यवहितं विप्रकृष्टं भूतं भवद्भविष्यद्वा वस्तु विद्यते। अतो नामरूपे सर्वावस्थे ब्रह्मणेनाऽऽत्मवती,

---

तद्द्वारेणैवेति। नामरूपशक्त्यात्मकमायापरिणामद्वारेणैव। नामरूपशक्त्यात्मिका जडरूपा मायाऽङ्गीकृता चेत्तर्हि सा प्रधानवत्पृथक्सतीत्यद्वैतहानिरित्याशङ्क्याऽऽह — न हीति। आत्मातिरिक्तं किं स्वतः सिद्ध्यति परतो वा। नाऽऽद्यः। जाड्यहानेरतिरेकहानेश्च। न द्वितीयः प्रमासंसर्गानिरूपणात्। न च भिन्नदेशकालयोः संयोगादि संभवति विषयविषयिभावो वा। [१]नियामकगवेषणात्। न च स्वभाव एव संबन्धः। द्वयोः स्वभावयोः संबन्धत्वेनैवोपक्षये संबन्ध्यभावप्रसङ्गात्। न हि स्वात्मानं प्रति स्वस्यैव संबन्धित्वमात्माश्रयापातात्। [२]तथाविधार्थाभावे [३]व्यवहारमात्रप्रवर्तकत्वे च [४]मिथ्याव्यवहारापातादनिर्वचनीयवाद एव पर्यवस्यतीति भावः। यस्मादात्मातिरिक्तं वस्तु न संभाव्यते तस्मादात्मतादात्म्येनैव नामरूपयोः सिद्धिरित्याह — अत इति। तर्हि ब्रह्मणः सप्रपञ्चताप्रसङ्ग इति न वाच्यमित्याह — न ब्रह्मेति। न ब्रह्म तदात्मकमजडत्वात्तत्परिहारेणापि सिद्धिसंभवादित्यर्थः। कथं तर्हि

कारण) उसके स्वरूप से अभिन्न हैं। इसी को श्रुति कहती है।

"उसने कामना की" जिससे आकाश उत्पन्न हुआ है, उस आत्मा ने कामना की, कैसे? मैं बहुरूप अर्थात् अनेक रूप हो जाऊँ। अर्थान्तर में प्रवेश के विना एक का अनेक रूप होना किस प्रकार सम्भव है? इस पर कहते हैं—प्रजारूप में उत्पन्न होऊँ। जैसे पुत्र की उत्पत्ति के बाद पिता में बहुत्व आया है, वैसे यहाँ पर अर्थान्तररूप से ब्रह्म बहुत्व को प्राप्त नहीं किया है, तो फिर कैसे किया? जैसे अपने में स्थित अनभिव्यक्त नाम-रूप को अभिव्यक्त कर डाले। ठीक वैसे ही अपने स्वरूप में स्थित अनभिव्यक्त नाम-रूप् का व्याकरण ब्रह्म जब करता है, तब वह अपने स्वरूप का परित्याग किये विना ही और अपने से अभिन्न देश-काल वाले नाम-रूप का व्याकरण सभी अवस्थाओं में करता है। बस यह नाम रूप का व्याकरण ही ब्रह्म का अनेक रूप से बनना है, अन्य किसी रूप से नहीं क्योंकि निरवयव ब्रह्म का बहुत्व अथवा अल्पत्व किसी अन्य प्रकार से सम्भव नहीं। जैसे व्यापक और एक आकाश का अल्पत्व एवं बहुत्व वस्त्वन्तर घटादिरूप उपाधि के कारण से हीं है। अतः नाम-रूप उपाधि के कारण ही आत्मा बहुत्व को प्राप्त होता है क्योंकि आत्मा

---

१. नियामकगवेषणादिति—संयोगादेरेव विषयविषयिभावनियामकत्वादिति भावः। २. तथाविधेति—स्वतः परतो वा सेद्धुमसमर्थस्यात्मातिरिक्तस्यार्थस्यासत्त्व इत्यर्थः। ३. व्यवहारेति—तस्येत्यादिः। ४. मिथ्येति – अविद्यमानार्थव्यवहारे मिथ्यात्वस्य स्वप्नादिषु दर्शनादिति भावः।

न ब्रह्म तदात्मकम्। ते तत्प्रत्याख्याने न स्त एवेतिं तदात्मके उच्येते। ताभ्यां चोपाधिभ्यां ज्ञातृज्ञेयज्ञानशब्दार्थादिसर्वसंव्यवहारभाग्ब्रह्म। स आत्मैवंकामः संस्तपोऽतप्यत। तप इति ज्ञानमुच्यते। "यस्य ज्ञानमयं तपः" (मु.उ. १-१-९) इतिश्रुत्यन्तरादाप्तकामत्वाच्चेतरस्यासंभव एव तपसः। तत्तपोऽतप्यत तप्तवान्। सृज्यमानजगद्रचनादिविषयामालोचनामकरोदात्मेत्यर्थः। [1]स एवमालोच्य तपस्तप्त्वा प्राणिकर्मादिनिमित्तानुरूपमिदं सर्वं जगद्देशतः कालतो नाम्ना रूपेण च यथानुभवं सर्वैः प्राणिभिः सर्वावस्थैरनुभूयमानमसृजत सृष्टवान्।

यदिदं किंच यत्किंचेदमविशिष्टम्। तदिदं जगत्सृष्ट्वा किमकरोदित्युच्यते—तदेव सृष्टं जगदनुप्राविशदिति। तत्रैतच्चिन्त्यं कथमनुप्राविशदिति। किं यः स्रष्टा स

ते ब्रह्मात्मके तत्राऽऽह — ते तदितिं। [2]स्वप्नावबुद्धनभोभक्षणवदारोपितस्यानुभवप्रत्याख्यानेन सिद्ध्यसंभवादनुभाव्ये नामरूपे अनुभवात्मकब्रह्मात्मके कथ्येते न त्वैक्याभिप्रायेणेत्यर्थः। न केवलं ब्रह्मणो बहुरूपत्वं मायोपाधिकं सर्वव्यवहारास्पदत्वं चेत्याह — ताभ्यामिति।

प्रवेशस्यानिर्वाच्यताद्योतनेन जीवस्य ब्रह्मात्मतायां प्रवेशवाक्यस्य तात्पर्यं दर्शयितुं विचारमारभते — तत्रैतच्चिन्त्यमित्यादिना। विमर्शे सति क्त्वाश्रुत्यनुरोधात्स्रष्टुरेव प्रवेश इत्युक्तं सिद्धान्तिना।

से भिन्न अनात्म वस्तु उससे भिन्न देश-काल वाली सूक्ष्म, व्यवहित, दूर, भूत, वर्तमान या भविष्यत् वाली वस्तु है ही नहीं। अतः सभी अवस्थाओं में नामरूप ब्रह्म से ही आत्मवान् हो रहे हैं। नामरूप ब्रह्मात्मक हैं न कि ब्रह्म नामरूपात्मक है, अर्थात् अध्यस्त वस्तु अधिष्ठान स्वरूप है न कि अधिष्ठान अध्यस्त स्वरूप है क्योंकि अधिष्ठान ब्रह्म के प्रत्याख्यान हो जाने पर वे नामरूप नहीं रह जाते। इसी लिये प्रतीति काल में ये नामरूप अपने अधिष्ठान से अभिन्न कहे जाते हैं। इन्हीं नामरूप उपाधियों के कारण ज्ञाता, ज्ञेय, ज्ञान, शब्द और अर्थादि सम्पूर्ण व्यवहार वाला ब्रह्म कहा जाता है। ऐसी कामना वाला होकर उस आत्मा ने तप किया। 'तप' इस शब्द का ज्ञान अर्थ लिखा गया है क्योंकि जिसका ज्ञानमय तप है. ऐसी दूसरी श्रुति भी देखी जाती है। आप्तकाम परमात्मा में दूसरे प्रकार का तप होना असम्भव है। अतः ज्ञानरूप तप उसने किया; अर्थात् सृज्यमान जगत्-रचनादि के सम्बन्ध में उसने आलोचना की। इस प्रकार आलोचनारूप तप करके प्राणियों के निमित्त कर्मानुरूप इस जगत् को बनाया। सभी प्राणियों ने सभी अवस्थाओं में जिस देश में जिस काल में, जिस नामरूप में विभक्त जगत् का अनुभव किया था, तदनुरूप ही इस जगत् की रचना उस आत्मा ने की।

जो कुछ भी यहाँ सामान्यतः पदार्थ प्रतीत होते हैं; ऐसे उस जगत् की सृष्टि करके पुनः क्या किया? इसी का उत्तर आगे दिया जाता है कि उस जगत् की सृष्टि कर उसी जगत् में वह ब्रह्म अनुप्रविष्ट हो गया। शङ्काः- वहाँ पर यह विचारणीय हो जाता है कि ब्रह्म किस प्रकार जगत् में अनुप्रविष्ट हुआ? क्या जो स्रष्टा है, वह उसी रूप से प्रविष्ट हुआ या किसी अन्यरूप से? किसी भी रूप से प्रविष्ट

---

१. स एवमालोच्येत्यादि—न चालोचनापूर्वककृतत्वेन जगतो न मिथ्यात्वमिति शङ्क्यमिन्द्रजालादौ व्यभिचारात्। कृते च कापि सत्यत्वासंप्रतिपन्नत्वादित्यवधेयम् २. स्वप्नेति—स्वप्नावगतस्य नभोभक्षणस्य स्वाप्नानुभवमन्तरेण यथा सिद्धिर्न संभवति तद्वदित्यर्थः।

तेनैवाऽऽत्मनाऽनुप्राविशदुतान्येनेति, किं तावद्युक्तम्। क्त्वाप्रत्ययश्रवणाद्यः स्रष्टा स एवानुप्राविशदिति।

ननु न युक्तं मृद्वच्चेत्कारणं ब्रह्म तदात्मकत्वात्कार्यस्य। कारणमेव हि कार्यात्मना परिणतमित्यतोऽप्रविष्ट इव कार्योत्पत्तेरूर्ध्वं [1]पृथक्कारणस्य पुनः प्रवेशोऽनुपपन्नः। न हि घटपरिणामव्यतिरेकेण मृदो घटे प्रवेशोऽस्ति। यथा घटे चूर्णात्मना मृदोऽनुप्रवेश एवमन्येनाऽऽत्मना नामरूपकार्येऽनुप्रवेश आत्मन इति चेच्छ्रुत्यन्तराच्च "अनेन जीवेनाऽऽत्मनाऽनुप्रविश्य"(छा.उ. ६-३-२) इति। नैवं युक्तमेकत्वाद्ब्रह्मणः मृदात्मनस्त्वनेकत्वात्सावयवत्वाच्च युक्तो घटे मृदश्चूर्णात्मनाऽनुप्रवेशः। [2]मृदश्चूर्णस्याप्रविष्टदेशवत्त्वाच्च। न त्वात्मन [3]एकत्वे

पूर्ववाद्याह — ननु न युक्तमिति। सृष्टिप्रवेशक्रिययोः पूर्वापरकालीनत्वसंभवे सति कर्त्रैक्यं क्त्वाश्रुत्या बोध्येत न तु प्रवेशस्योत्तरकालता संभवति। सृष्टिसमय एवोपादानस्य [4]कार्यात्मनाऽवस्थितत्वादित्यर्थः। एतदेव विवृणोति — कारणमेव हीति। अप्रविष्टे यथा मठादौ देवदत्तस्य प्रवेशो दृष्टस्तथा कार्योत्पत्तेरूर्ध्वं पृथक्प्रवेशो न संभवतीत्यर्थः। [5]सिद्धान्त्येकदेशिनां मतमुद्भाव्य पूर्ववादी दूषयति — यथा घट इत्यादिना। स्रष्टुरन्यस्य वा प्रवेशो न संभवतीति चेत्कथं तर्हि प्रवेशो वाच्य इति सिद्धान्त्येक-

---

हो, इसमें युक्ति-युक्त क्या है, बस! यही विचारणीय है। "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्" इस वाक्य में क्त्वा प्रत्यय सुना जाता है। इससे जो स्रष्टा है, वही अनुप्रविष्टा हुआ, यह सिद्ध होता है क्योंकि "समानकर्तृकयोः पूर्वकाले" इस पाणिनीय स्मृति से स्रष्टा और अनुप्रविष्टा में एकत्व सिद्ध होता है। मध्यस्थः— यदि मृत्तिका के समान ब्रह्म जगत् का उपादान कारण है, तो पूर्वोक्त मान्यता उचित नहीं क्योंकि घटादि कार्य जब मृदादि कारणरूप ही है, तो फिर घट बनाने के बाद मृत्तिका घट में प्रविष्ट हुई ऐसा मानना उचित नहीं, मृदादि कारण ही घटादि कार्यरूप से परिणत होता है। अतः कार्य उत्पत्ति के बाद पृथक् अप्रविष्ट कारण को जैसे कार्य में प्रविष्ट होना कहा जाता है, वैसा प्रवेश इस स्थल पर मानना उचित नहीं है। मृत्तिका घटादिरूप से परिणत हो गयी, इससे भिन्न घट में मृत्तिका का प्रवेश सिद्ध नहीं होता। पूर्वपक्षः- जैसे घट में चूर्णादिरूप से मृत्तिका का अनुप्रवेश होता है, ठीक वैसे ही आत्मा का इस आत्मरूप से नामरूपात्मक कार्य में अनुप्रवेश होता है क्योंकि 'अनेन जीवात्मनानुप्रविश्य' ऐसी दूसरी श्रुति से भी सिद्ध होता है। यदि ऐसा माने तो? मध्यस्थः— ब्रह्म एक है न कि नाना इसलिये ऐसा मानना भी ठीक नहीं। मृत्तिका अनेक और सावयव है। इसलिये कुछ मृत्तिका घटरूप में परिणत हो गयी और कुछ चूर्णादिरूप से पृथक् स्थित है। अतः घटादि मृत्तिका के कार्य में

---

१. पृथक्प्रवेश इत्यन्वयः। २. मृदश्चूर्णस्येति—मृदो देशस्य चूर्णेनाप्रविष्टस्यापि सत्त्वादित्यर्थः। द्वेधा हि प्रवेशः संयोगेन तादात्म्येन च। तथा च चूर्णात्मको मृत्प्रदेशस्तादात्म्येन चूर्णप्रविष्टोऽपि घटात्मकस्तु स संयोगेनास्ति तदप्रविष्ट इति। ३. एकत्वे सतीति—एकत्वादेव न रूपान्तरेण रूपान्तरे प्रवेश उपपद्यत इत्यर्थः। ४. कार्यात्मनाऽवस्थितत्वादिति—तदेव च प्रवेश इति भावः। ५. सिद्धान्त्येकदेशिनामिति—जडचेतनोभयाकारेण ब्रह्मपरिणामवादिनामित्यर्थः।

सति [1]निरवयवत्वादप्रविष्टदेशाभावाच्च प्रवेश उपपद्यते कथं तर्हि प्रवेशः स्यात्। युक्तश्च प्रवेशः श्रुतत्वात्तदेवानुप्राविशदिति। [2]सावयवमेवास्तु तर्हि सावयवत्वान्मुखे हस्तप्रवेशवन्नाम-रूपकार्ये जीवात्मनाऽनुप्रवेशो युक्त एवेति चेन्नाशून्यत्वात्। न हि कार्यात्मना परिणतस्य नामरूपकार्यदेशव्यतिरेकेणाऽऽत्मशून्यः प्रदेशोऽस्ति यं प्रविशे[3]ज्जीवात्मना। [4]कारणमेव चेत्प्रविशे[5]ज्जीवात्मत्वं जह्याद्यथा घटो मृत्प्रवेशे घटत्वं जहाति। तदेवानुप्राविशदिति च श्रुतेर्न [6]कारणानुप्रवेशो युक्तः।

कार्यान्तरमेव [7]स्यादिति चेत्। [8]तदेवानुप्राविशदिति जीवात्मरूपं कार्यं नामरूप-

---

देश्याह — कथमिति। नास्त्येवेति न वक्तव्यमित्याह — युक्तश्चेति। स एवाऽऽह गतिं — सावयवमेवेति। पूर्ववादी दूषयति — नाशून्यत्वादिति। कार्यात्मना परिणतस्य ब्रह्मणो नामरूपात्मकं कार्यमेव देशस्तद्-व्यतिरेकेण [9]न ह्यन्यः प्रदेशोऽस्ति। यत्कारणमेव कार्याकारेण परिणतं [10]तत्प्रति कार्यविशेषो जीवात्मा प्रवेक्ष्यतीति न शङ्कनीयमित्याह — कारणमेव चेदिति। कार्यविशेषस्य [11]प्रवेशमङ्गीकृत्य दूषणमुक्तं स न संभवति श्रुतिविरोधादित्याह — तदेवेति।

कारणपरामर्शकेन [12]तच्छब्देन कार्यमुपलक्ष्य कार्यान्तरस्य तत्र प्रवेशो विधीयतेऽप्राप्तदेश-संभवात्। अतो न श्रुतिविरोध इति सिद्धान्तैकदेशिमतमुद्भाव्य दूषयति — कार्यान्तरमेवेत्यादिना।

चूर्णादिरूप से पुनः घट में प्रवेश सम्भव है क्योंकि चूर्णरूप मृत्तिका का घटरूप मृत्तिका से भिन्न देश है। अतः अप्रविष्ट देश वाला उस मृत्तिका चूर्ण का घटादि कार्य में प्रवेश हो सकता है; किन्तु आत्मा एक निरवयव है, व्यापक होने से अप्रविष्ट देश वाला नहीं है। अतः उसका प्रवेश कहना उचित नहीं। पूर्वपक्षः— तो फिर कैसा प्रवेश माना जाय क्योंकि 'तदेवानुप्राविशत्' ऐसा श्रवण होने से प्रवेश मानना तो उचित ही है। मध्यस्थः— तब तो सावयव होने के कारण जैसे मुख में हाथ का प्रवेश होता है, वैसे ही नामरूपात्मक कार्य में जीवात्मारूप से ब्रह्म का अनुप्रवेश उचित ही है। ऐसा कहना ठीक नहीं। क्योंकि कार्यरूप से परिणत ब्रह्म का नामरूप कार्य के देश से भिन्न आत्मशून्य प्रदेश है ही नहीं, जिसमें जीवरूप से यह प्रवेश कर सके। यदि कारण में ही कर गया तो जीवात्मत्व नहीं रहेगा। जैसे मृत्तिका में प्रवेश होने पर घट घटत्व को खो बैठता है; ऐसे ही यदि कारण ही प्रवेश कर गया तो उसका जीवात्मत्व ही समाप्त हो जायगा और "तदेवानुप्राविशत्" इस श्रुति से कारणानुप्रवेश मानना युक्त नहीं है।

पूर्वपक्षः- तब तो "तदेवानुप्राविशत्" इस वाक्य से कार्यान्तर में ही प्रवेश मानना चाहिये।

---

१. निरवयवत्वादिति-निरवयवस्य हि देश एव नास्ति। अप्रविष्टत्वं तु तस्य दूरनिरस्तमिति भावः। २.सावयवमेवास्तु कारणं ब्रह्मेति शेषः। ३. जीवात्मनेति—तस्यापि कार्यत्वेन प्रदेशान्तःपातित्वादिति भावः। ४. कारणमेव चेदिति—प्रवेशार्हकार्य-प्रदेशाभावे कारण एवास्तु कार्यप्रवेश इति भावः। तथा च तदेवानुप्राविशदित्यत्र कारणपर एव तच्छब्दः। ५. जीवात्मत्वं जह्यादिति —कारणप्रवेशस्य लयात्मकत्वादिति भावः। ६. न कारणेति—श्रुतेः कार्यप्रवेशविषयत्वादिति भावः। ७. स्यादिति—प्रवेष्ट्रिति शेषः। ८. संगृहीतं विवृणोति—तदेवेत्यादिना। ९. न ह्यन्यः प्रदेशोऽस्तीति—न च योऽस्ति नामरूपस्तमेव प्रविशेदिति शङ्क्यं प्रवेष्टुरभावात्। स हि परिणत एवेति भावः। १०. तत्प्रतीति—यथोक्तकारणं प्रतीत्यर्थः। ११. प्रवेशमिति—कारण इति शेषः। १२. तच्छब्देनेति—तदेवानुप्राविशदित्यनेन तच्छब्देनेत्यर्थः।

परिणतं कार्यान्तरमेवा[१]ऽऽपद्यत इति चेन्न। विरोधात्। न हि घटो घटान्तरमापद्यते। [२]व्यतिरेकश्रुतिविरोधाच्च जीवस्य नामरूपकार्यव्यतिरेकानुवादिन्यः [३]श्रुतयो विरुध्येरन्। [४]तदापत्तौ मोक्षासंभवाच्च। न हि यतो मुच्यमानस्तदेवाऽऽपद्यते। न हि शृङ्खलापत्तिर्बद्धस्य तस्करादेः।

[५]बाह्यान्तरभेदेन परिणतमिति चेत्तदेव कारणं ब्रह्म शरीराद्याधारत्वेन तदन्तर्जीवात्मनाऽऽधेयत्वेन च परिणतमिति चेन्न, बहिष्ठस्य प्रवेशोपपत्तेः। न हि यो यस्यान्तःस्थः स एव तत्प्रविष्ट उच्यते। बहिष्ठस्यानुप्रवेशः स्यात्प्रवेशशब्दार्थस्यैवं दृष्टत्वात्। यथा गृहं कृत्वा प्राविशदिति। जलसूर्यकादिप्रतिबिम्बवत्प्रवेशः स्यादिति चेन्न। अपरिच्छिन्नत्वादमूर्तत्वाच्च। [६]परिच्छिन्नस्य [७]मूर्तस्या[८]न्यस्यान्यत्र प्रसादस्वभावके जलादौ सूर्य-

---

[१०]कारणवाचकेन तच्छब्देन कार्यलक्षणायाम[११]विवक्षितलक्षणा चेत्प्रसज्येत तर्हि कारणपर एव तच्छब्दोऽस्त्वित्याहान्यः सिद्धान्तैकदेशी — बाह्येति। अस्मिन्पक्षे प्रवेशश्रुतेर्मुख्यार्थो न लभ्येतेत्याह — न बहिष्ठेति। [१२]अन्यस्य वेदान्तिनो मतमुद्भाव्य दूषयति — जल इत्यादिना।

जीवात्मरूप भी कार्य है, वह नामरूप से परिणत कार्यान्तर को ही प्राप्त करता है; ऐसा यदि कहें तो ठीक नहीं क्योंकि विरोध है। घट दूसरे घट को प्राप्त नहीं करता और व्यतिरेक श्रुति के साथ विरोध भी आता है; अर्थात् नामरूपात्मक कार्य से भिन्न जीवात्मा को बतलाने वाली श्रुतियाँ उपर्युक्त वात को मानने पर विरुद्ध होने लग जाएँगी। साथ ही नामरूप कार्य को प्राप्त हो जाने पर जीवात्मा को मोक्ष मिलना असम्भव हो जायेगा क्योंकि जिस नामरूप से छूटना है, उसी को प्राप्त करना कहा जाय तो यह ठीक नहीं होगा। बँधा हुआ चौर आदि शृंखला को प्राप्त नहीं होता।

यदि बाह्य और आभ्यन्तर भेद से परिणत हुआ माना जाय अर्थात् वही कारण ब्रह्म शरीरादि आधार रूप से और वही उसके भीतर जीवात्मारूप आधेयभाव से परिणत हो गया, ऐसा मानना भी ठीक नहीं है क्योंकि बाह्य स्थित का ही प्रवेश हुआ करता है। जो जिसके भीतर है, वही उसमें प्रविष्ट नहीं कहा जाता। बाहर में स्थित का ही अनुप्रवेश सम्भव है, ऐसा ही प्रवेश शब्द का अर्थ देखा जाता है। यथा घर वनाकर प्रवेश किया इत्यादि। यदि जलगत प्रतिबिम्बादि प्रवेश के समान नामरूप में जीवरूप से ब्रह्म का प्रवेश माना जाय तो, ऐसा मानना भी ठीक नहीं क्योंकि ब्रह्म अपरिच्छिन्न और अमूर्त है। परिच्छिन्न जल से भिन्न मूर्तिमान् सूर्य का ही अन्यत्र स्वच्छ स्वभाव जलादि में प्रति-

---

१. आपद्यते प्रविशतीत्यर्थः। २. ननु महान्तं घटमल्पो घटः प्रविशत्येवेत्याशङ्क्याऽऽह—व्यतिरेकश्रुतीत्यादि। ३. श्रुतयोऽनेन जीवेनात्मनेत्येवमादयः। ४. आपत्तिः प्रवेशस्तादात्म्यमेव संयोगादेरसंभवादित्याशयेनाह—तदापत्तावित्यादि। ५. बाह्यान्तरभेदेनेति—वृक्षो यथा फलबीजोभयात्मना परिणमते तद्वदित्यर्थः। ६. परिच्छिन्नस्य—अविभोः। ७. मूर्तस्य रूपादिमतः। ८. अन्यस्य सूर्यादेः ९. सूर्यकादिरूपप्रतिबिम्बस्योदय इति विग्रहः। १०. कारणवाचकेनेति—कारणस्य विवक्षितत्वं ध्वन्यते। ११. अविवक्षितलक्षणेति—न हि प्रवाहे विवक्षिते तीरलक्षणा न्याय्येति भावः। १२. अन्यस्येत्यमुख्यत्वं सूच्यते। तत्त्वं च तस्य बिम्बव्यतिरेकेण प्रतिबिम्बस्य सत्त्वाभ्युपगमान्निर्वहतीत्यूह्यम्।

कादिप्रतिबिम्बोदयः स्यान्नत्वात्मनः, अमूर्तत्वात्। आकाशादिकारणस्याऽऽत्मनो व्यापकत्वात्तद्विप्रकृष्टदेशप्रतिबिम्बाधारवस्त्वन्तराभावाच्च प्रतिबिम्बवत्प्रवेशो न युक्तः।

एवं तर्हि नैवास्ति प्रवेशो न च गत्यन्तरमुपलभामहे। "तदेवानुप्राविशत्" इति च श्रुतेः। श्रुतिश्च नोऽतीन्द्रियविषये विज्ञानोत्पत्तौ निमित्तम्। न चास्माद्वाक्याद्यत्नवतामपि विज्ञानमुत्पद्यते। हन्त तर्ह्यनर्थकत्वादपोह्यमेतद्वाक्यं "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्" इति। न। अन्यार्थत्वात्। किमर्थं[1]मस्थाने चर्चा। प्रकृतो ह्यन्यो विवक्षितोऽस्य वाक्यस्यार्थोऽस्ति स स्मर्तव्यः। "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" (तै.उ. २-१) "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" (तै.उ. २-१) "यो वेद निहितं

एवं सिद्धान्तैकदेशीयं निरस्य पूर्ववाद्युपसंहरति — एवं तर्हीति। नैवास्ति प्रवेशो ब्रह्मणस्ततोऽन्यस्यापि प्रवेशो न संभवतीत्युक्तमित्याह —न चेति। इतरस्यापि प्रवेशः कल्पयितुं न शक्यत इत्याह — तदेवानुप्राविशदिति। सा च श्रुतिः स्रष्टुः प्रवेशमाह। सा चास्माकं मीमांसकानां प्रमाणं ततस्तद्विरोधेनान्यस्य प्रवेशकल्पनाऽयुक्तेति भावः। तर्हि श्रुतिशरणतयैव ब्रह्मण एव प्रवेश उच्यतामित्याशङ्क्याऽऽह — न चेति। तस्माद[2]न्धो मणिमविन्ददितिवदर्थशून्यमेवेदं वाक्यमिति निगमयति — हन्तेति। शक्तिगोचरस्यार्थस्यासंभवादर्थशून्यत्वं तात्पर्यगोचरस्य वा। नाऽऽद्यः। आकाशादेरविप्रकृष्टदेशेऽपि जलेऽमूर्तस्य प्रतिबिम्बभाववदमूर्तस्यापि ब्रह्मणोऽनिर्वाच्याविद्यासु प्रतिबिम्बितस्य सृष्ट्युत्तरकालमन्तःकरणादिषु प्रतिबिम्बभावसंभवादित्याह — नेति। न द्वितीय इत्याह —अन्यार्थत्वादिति। एतत्स्फुटयति-

---

बिम्ब पड़ता है, आत्मा का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ सकता क्योंकि आकाशादि प्रपंच का कारण आत्मा अमूर्त और व्यापक है। उससे दूर देश प्रतिबिम्ब के आधार रूप दूसरी वस्तु न होने से प्रतिबिम्ब के समान नामरूपात्मक जगत् में ब्रह्म का उपदेश मानना ठीक नहीं है।

तब तो न ब्रह्म का प्रवेश हो सकता है और "तदेवानुप्राविशत्" इस श्रुति की कोई दूसरी गति दीखती है। अतीन्द्रिय विषय के विज्ञान की उत्पत्ति में हमारे लिये श्रुति ही निमित्त है। प्रयत्न करने वाले को भी इस वाक्य से बोध उत्पन्न नहीं हो रहा है। इसलिये खेद के साथ यह मानना पड़ता है कि "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्" यह श्रुति वाक्य अनर्थ होने के कारण त्यागने योग्य ही है। **सिद्धान्ती :—** ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि यह श्रुति किसी अन्य प्रयोजन के लिये है। यदि कहो कि अप्रासंगिक चर्चा क्यों कर रहे हो, तो ऐसा कहना उचित नहीं क्योंकि इस वाक्य का प्रासंगिक अर्थ बतलाना दूसरा ही है, उसे भूलना नहीं चाहिये। "ब्रह्मज्ञानी परमात्मा को प्राप्त कर लेता है" "सत्य, ज्ञान और अनन्तरूप ब्रह्म हैं" "जो उसे बुद्धिरूप गुहा में निहित जानता है।" उसी का विज्ञान कराना अभीष्ट है और वही यहाँ पर प्रतिपाद्य अर्थ है। आकाश से लेकर अन्नमय आदि समस्त कार्य ब्रह्म

---

१. अस्थाने अयुक्तेत्यर्थः। "युक्ते द्वे साम्प्रतं स्थाने" इत्यमरः। "स्थाने तु कारणार्थे स्याद्युक्तसादृश्ययोरपी"ति मेदिनी। २. शक्यार्थाभावमात्रेण दृष्टान्तयति—अन्धो मणिमिति। अन्धो मणिमिति—तैत्तिरीयारण्यके प्रथमप्रपाठकैकादशानुवाके ऋगियमेवं पठ्यते। तथाहि—"अन्धो मणिमविन्दत् तमनङ्गुलिरावयत्। अग्रीवः प्रत्यमुञ्चत् तमजिह्व (ह्वो) असश्चत" इति। "अपाणिपादो जवनो ग्रहीते" तिवदस्या अर्थोऽनुसन्धेयः।

गुहायाम्"(तै.उ. २-१) इति। तद्विज्ञानं च विवक्षितं प्रकृतं च तत्। [1]ब्रह्मस्वरूपानुगमाय चाऽऽकाशाद्यान्नमयान्तं कार्यं प्रदर्शितं ब्रह्मानुगमश्चाऽऽरब्धः[2]तत्रान्नमयादात्मनोऽन्तर[3] आत्मा प्राणमयस्तदन्तर्मनोमयो विज्ञानमय [4]इति। विज्ञानगुहायां प्रवेशितः[5]तत्र चाऽऽनन्दमयो विशिष्ट आत्मा प्रदर्शितः। अतः परमानन्दमयलिङ्गाधिगमद्वारेणाऽऽनन्दविवृद्ध्यवसान आत्मा। ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा सर्वविकल्पास्पदो निर्विकल्पोऽस्यामेव गुहायामधिगन्तव्य इति तत्प्रवेशः प्रकल्प्यते।

न ह्यन्यत्रोपलभ्यते ब्रह्म [6]निर्विशेषत्वाद्विशेषसंबन्धो ह्युपलब्धिहेतुर्दृष्टः। यथा राहोश्चन्द्रार्कविशिष्टसंबन्धः। एवमन्तःकरणगुहात्मसंबन्धो ब्रह्मण उपलब्धिहेतुः।

किमर्थमित्यादिना। अतः परमिति। बुद्धिगुहाप्रवेशादनन्तरमानन्दमय एवं विशिष्टोऽर्थो विशेष्यस्य चिद्धातोर्लिङ्गं विशिष्टस्य विशेष्याव्यभिचारदर्शनात्तदधिगमद्वारेणा[7]ऽऽनन्दविवृद्ध्यवसान आत्मा ब्रह्मरूपोऽस्यामेव गुहायामधिगन्तव्य इत्यभिप्रेत्य जले सूर्यप्रवेशवद[8]निर्वाच्यः प्रवेशोऽभिधीयत इत्यर्थः।

बुद्धिगुहायामेव ब्रह्मण उपलब्धिसंभवात्तत्रैव प्रवेशोऽभिधित्सित इत्याह — न हीति। नन्वन्यत्रोपलब्ध्यनर्हं ब्रह्म बुद्धौ वा कथमुपलभ्यत इत्याशङ्क्योपाधेर्योग्यताविशेषसंभवादित्याह —विशेषेति।

स्वरूप बोध कराने के लिए ही कहे गये हैं। ब्रह्मज्ञान का प्रसङ्ग प्रारम्भ हुआ है, वहाँ पर अन्नमय आत्मा के भीतर मनोमय और प्राणमय आत्मा है, प्राणमय आत्मा के भीतर मनोमय और मनोमय आत्मा के भीतर विज्ञानमय आत्मा है। इस प्रकार बुद्धिरूप गुहा में प्रवेश बतलाया गया है। उस विज्ञानमय आत्मा के भीतर आनन्दमय विशिष्ट आत्मा दिखलाया गया है। अतः इसके आगे आनन्दलिंग बोध द्वारा आनन्दवृद्धि का पर्यवसान परमात्मा में ही दिखलाया गया है। "ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा" जो सम्पूर्ण विकल्पों का अधिष्ठान होता हुआ स्वयं निर्विकल्प है, वह परमात्मा इसी बुद्धिरूप गुहा में प्राप्त होने योग्य है। बस इसीलिये उसका प्रवेश बतलाया गया है।

क्योंकि निर्विशेष होने से ब्रह्म बुद्धि से भिन्न स्थान में उपलब्ध नहीं होता, विशेष के साथ सम्वन्ध उपलब्धि का कारण देखा गया है। जैसे चन्द्र और सूर्य के साथ विशेष सम्बन्ध होने पर राहु का दर्शन होता है, वैसे ही अन्तःकारणरूप गुहा के साथ आत्म सम्बन्ध ब्रह्म उपलब्धि का हेतु है।

---

१. ब्रह्मस्वरूपानुगमायेति—सर्वानुगतत्वेन ब्रह्मणोऽवगमायेत्यर्थः। २. यथोक्तकार्ये यथोक्तारम्भ इति वार्थः। ३. तत्रेत्यादिभाष्यस्येयमेव युक्ता योजना तथाहि—तत्र ब्रह्मानुगमारम्भे यथोक्तब्रह्मावगमनिमित्तमिति यावत्। ४. इतीति—इत्युक्तायामिति यावत्। ५. विज्ञानगुहायां प्रवेशित इत्युक्तमेव विशदयति—तत्र चाऽऽनन्दमयो विशिष्ट आत्मा प्रदर्शित इति। तत्र च विज्ञानगुहायां प्रवेशित आनन्दमयो विशिष्ट आत्मा प्रदर्शित इत्यन्वयः। प्रवेशितः प्रविष्ट इति यावत्। यद्वा यथोक्तपरम्परया विज्ञानगुहायां प्रवेशितोऽधिकारी तत्र चाऽऽनन्दमयो विशिष्यात्मा प्रदर्शितस्तस्मा इति योज्यम्। ६. निर्विशेषत्वादिति—अन्यत्र तदुपलब्धियोग्यत्वाभावादित्यर्थः। ७. आनन्देति—आनन्दविवृद्धिः क्वचित्काष्ठां गतो विवृद्धित्वात्परिमाणविवृद्धिवदित्येवं तदवसानत्वेन ज्ञेय आत्मेत्यर्थः। ८. अनिर्वाच्यः—अनुपपद्यमानोऽपि भासमानः।

संनिकर्षादवभासात्मकत्वाच्चान्तःकरणस्य। यथा चाऽऽलोकविशिष्टा घटाद्युपलब्धिरेवं बुद्धिप्रत्ययालोकविशिष्टात्मोपलब्धिः स्यात्तस्मादुपलब्धिहेतौ गुहायां निहितमिति प्रकृतमेव। तद्वृत्तिस्थानीये त्विह पुनस्तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशदित्युच्यते।

तदेवेदमाकाशादिकारणं कार्यं सृष्ट्वा तदनुप्रविष्टमिवान्तर्गुहायां बुद्धौ द्रष्टृ श्रोतृ मन्तृ विज्ञात्रित्येवं विशेषवदुपलभ्यते। स एवं तस्य प्रवेशस्तस्मादस्ति तत्कारणं ब्रह्म। अतोऽस्तित्वादस्तीत्येवोपलब्धव्यं तत्। तत्कार्यमनुप्रविश्य, किं? सच्च मूर्तं त्यच्चामूर्तमभवत्। मूर्तामूर्ते ह्यव्याकृतनामरूपे आत्मस्थे अन्तर्गतेनाऽऽत्मना व्याक्रियेते व्याकृते च मूर्तामूर्तशब्द-वाच्ये ते आत्मना त्वप्रविभक्तदेशकाले इति कृत्वाऽऽत्मा ते अभवदित्युच्यते। किंच निरुक्तं चानिरुक्तं च निरुक्तं नाम निष्कृष्य समानासमानजातीयेभ्यो देशकाल-विशिष्टतयेदं तदित्युक्तमनिरुक्तं तद्विपरीतं निरुक्तानिरुक्ते अपि मूर्तामूर्तयोरेव विशेषणे

संनिकर्षादिति। [१]अन्तःकरणसंसर्गादेव देहघटादिषु चैतन्याभिव्यक्तिर्न स्वतः। अन्तःकरणं चाव्य-वधानेनैव चैतन्याभिव्यञ्जकमन्वयव्यतिरेकाभ्यामित्यर्थः। यथा चास्वच्छस्वभावके घटादौ मुखं न प्रतिबिम्बते जलादौ स्वच्छस्वभावके प्रतिबिम्बते तथा सत्त्वप्रधानस्यान्तःकरणस्य प्रसादस्वाभा-व्याद्घटते तत्र ब्रह्मोपलब्धिरित्याह — अवभासात्मकत्वाच्चेति। किंच यथा जाड्यसाम्येऽपि तमोलक्षणावरणाभिभवसमर्थ आलोकोऽङ्गीक्रियते तथा जाड्यसाम्येऽप्यन्तःकरणस्यैव प्रत्ययाकार-परिणतस्यांज्ञानलक्षणावरणाभिभवसामर्थ्यमङ्गीकर्तव्यमित्याह —यथा चेति।

अन्तःकरणरूप गुहा अत्यन्त सन्निकट है और स्वच्छ होने से अवभासक भी है। जैसे आलोक से विशिष्ट घटादि का प्रत्यक्ष होता है, ऐसे ही बुद्धिवृत्ति रूप आलोक विशिष्ट आत्मा की उपलब्धि हो जायेगी। अतः उपलब्धि की हेतुभूत बुद्धिरूपी गुहा में ब्रह्म निहित है। बस यही प्रसङ्ग यहाँ पर है। इस ब्रह्म उपलब्धिरूप प्रकृति विषय को ही सुस्पष्ट करने के लिये यहाँ पर "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्" इस श्रुति वाक्य में कहा गया है।

वही यह आकाशादि प्रपञ्च के कारणीभूत ब्रह्म कार्य की सृष्टि कर उस कार्य में अनुप्रविष्ट हुआ-सा बुद्धिरूपी गुहा के भीतर द्रष्टा, श्रोता, मन्ता और विज्ञाता ऐसे विशेष धर्म वाला प्रतीत होता है। बस वही उस आत्मा का प्रवेश है। अतः जगत् कारण ब्रह्म है। इस प्रकार उसका अस्तित्व सिद्ध होने से 'अस्ति' इस रूप से ही उसे उपलब्ध करना चाहिये। अच्छा तो उसने कार्य में प्रवेश कर के क्या किया? उत्तर :— कार्य में प्रवेश करने के बाद मूर्त सद्रूप अमूर्त त्यद्रूप हो गया। आत्मा में जो नामरूप अव्याकृत थे, उन्हीं के अन्तर्गत आत्मा में मूर्तामूर्तरूप से व्याकृत किया। अभिव्यक्ति नामरूप शब्द को ही मूर्तामूर्त कहा जाता है, वे व्याकृत मूर्तामूर्त आत्मा के साथ अभिन्न देशकाल वाले होते हैं, ऐसा होने के कारण आत्मा ही नामरूप से प्रकट हुआ। इस प्रकार कहा जाता है। इतना ही नहीं बल्कि निरुक्त और अनिरुक्त भी वही है। समान और असमान जाति वालों से पृथक् कर जब

---

१. ननु विभोः सन्निकर्षस्य सर्वैस्तुल्यत्वान्नेयं विनिगमनेत्याशङ्क्य तां प्रत्याययति—अन्तःकरणसंसर्गादेवेत्यादिना। अभिव्यक्तावितरानपेक्षत्वमव्यवधानं स एव चात्र सन्निकर्षो विनिगमक इति भावः।

यथा सच्च त्यच्च प्रत्यक्षपरोक्षे, तथा निलयनं चानिलयनं च। निलयनं नीडमाश्रयो मूर्तस्यैव धर्मः। अनिलयनं तद्विपरीतममूर्तस्यैव धर्मः। त्यदनिरुक्तानिलयनान्यमूर्तधर्मत्वेऽपि व्याकृतविषयाण्येव। सर्गोत्तरकालभावश्रवणात्। त्यदिति [१]प्राणाद्यनिरुक्तं तदेवानिलयनं च। अतो विशेषणान्यमूर्तस्य व्याकृतविषयाण्येवैतानि। विज्ञानं चेतनमविज्ञानं तद्रहितमचेतनं पाषाणादि सत्यं च व्यवहारविषयम[२]धिकारान्न परमार्थसत्यमेकमेव हि परमार्थसत्यं ब्रह्म। इह पुनर्व्यवहार विषयमापेक्षिकं सत्यं मृगतृष्णिकाद्यनृतापेक्षयोदकादि सत्यमुच्यते। अनृतं च तद्विपरीतम्। किं पुनरेतत्सर्वमभवत्परमार्थसत्यं किं पुनस्तद्ब्रह्म। "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मे"ति (तै.उ. २-१) प्रकृतत्वात्।

यस्मात्सत्त्यदादिकं मूर्तामूर्तधर्मजातं यत्किंचेदं सर्वमविशिष्टं विकारजातमेकमेव सच्छब्दवाच्यं ब्रह्माभवत्तद्व्यतिरेकेणाभावान्नामरूपविकारस्य, तस्मात्तद्ब्रह्म सत्यमित्याह-

---

निलयनं गृहप्रासादादिमूर्तसंनिवेशविशेषोऽवयवसंस्थानविशेषराहित्यमनिलयनम्। अनिरुक्तत्वाद्यमूर्तधर्मश्चेद्ब्रह्मण एव किं न स्यादित्यत आह— त्यदनिरुक्तानिलयनानीति।

तत्सत्यमित्याचक्षत इत्यस्योपपत्तिमाह— यस्मादिति। पदानि व्याख्याय प्रकृतानुप्रश्ननि-

---

किसी देश-काल से विशिष्ट रूप में कहा जाता है, तब उसे निरुक्त कहते हैं। इसके विपरीत को अनिरुक्त कहते हैं। ये निरुक्त और अनिरुक्त भी मूर्त एवं अमूर्त के ही विशेषण हैं। जैसे प्रत्यक्ष वस्तु को सत् और परोक्ष वस्तु को त्यत् कहते हैं। वैसे निलयन और अनिलयन भी वही है। निलयन नीड़ यानी आश्रय को कहा गया है। यह मूर्त पदार्थ का ही धर्म है, उससे विपरीत अनिलयन अमूर्त पदार्थ का धर्म है। इस प्रकार त्यत् वस्तु अमूर्त धर्म वाली होने पर भी व्याकृत दशा में उसे अनिरुक्त और अनिलयन नाम से कहते हैं क्योंकि सृष्टि के पश्चात्-भावी ये सब नाम सुने जाते हैं। त्यत् इस नाम से प्राणादि अनिरुक्त पदार्थ को कहा गया है, वही अनिलयन भी है। अतः व्याकृत दशा में ये सब अमूर्त पदार्थ के विशेषण कहे गये हैं। विज्ञान और उससे अन्य अचेतन पाषाणादि शब्द से कहे जाते हैं। सृष्टि का प्रसङ्ग होने से व्यावहारिक विषय ही सत्य पद से कहा गया है, न कि परमार्थ सत् क्योंकि परमार्थ सत् ब्रह्म एक ही है। इसलिये आपेक्षिक व्यवहार विषयक सत्य ही यहाँ पर सत्य पद से कहा गया है क्योंकि मृग-तृष्णिकादि अनृत पदार्थ की अपेक्षा से पिपासादि को शान्त करने वाले व्यावहारिक जलादि को सत्य कहा जाता है। उससे विपरीत वस्तु को अनृत कहते हैं। तो फिर इससे सिद्ध क्या हुआ? इससे यही सिद्ध हुआ कि इन सभी रूपों में वही विवर्तित है, जो परमार्थ सत्य है। आखिर वह है कौन? वह ब्रह्म है क्योंकि 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इस वाक्य से ब्रह्म का ही प्रसङ्ग चल रहा है।

जबकि 'सत्' एवं 'त्यद्' आदि मूर्तामूर्त जो कुछ भी सामान्यतः कार्य समुदाय है, उन सभी रूपों में एक सत् शब्द वाच्य अद्वैत ब्रह्म ही हुआ है, उससे पृथक् नामरूप विकार का अस्तित्व नहीं है;

---

१. प्राणादीति—वाय्वाकाशविति यावत्। व्याकृतत्ववैशद्याय त्वेवमुक्तिरित्यवधेयम्। २. अधिकारादिति—सत्त्यदादिव्यावहारिकपदार्थोक्तिप्रकरणे सत्यमित्युक्तत्वादित्यर्थः।

अथ ब्रह्मवल्ल्यध्याये सप्तमोऽनुवाकः

असद्वा इदमग्र आसीत्। ततो वै सदजायत। तदा-त्मानꣳस्वयमकुरुत। तस्मात्तत्सुकृतमुच्यत इति।

सृष्टि के पहले यह नाम-रूपात्मक जगत् अव्याकृत ब्रह्मस्वरूप ही था। उसी अव्याकृत ब्रह्म से नाम-रूपात्मक व्याकृत सत् उत्पन्न हुआ। उस ब्रह्म ने स्वयं अपने आपको ही नाम-रूपात्मक जगत्

चक्षते ब्रह्मविदः। अस्ति नास्तीत्यनुप्रश्न प्रकृतस्तस्य प्रतिवचनविषय एतदुक्तमात्माऽकामयत बहु स्यामिति। स यथाकामं चाऽऽकाशादिकार्यं सत्त्यदादिलक्षणं सृष्ट्वा तदनु प्रविश्य पश्यञ्शृण्वन्मन्वानो विजानन्बह्वभवत्तस्मात्तदेवेदमाकाशादिकारणं कार्यस्थं परमे व्योमन्हृदयगुहायां निहितं तत्प्रत्ययावभासविशेषेणोपलभ्यमानमस्तीत्येवं विजानीया-दित्युक्तं भवति। तदेतस्मिन्नर्थे ब्राह्मणोक्त एष श्लोको मन्त्रो भवति। यथा पूर्वेष्वन्न-मयाद्यात्मप्रकाशकाः। पञ्चस्वप्येवं सर्वान्तरतमात्मास्तित्वप्रकाशकोऽपि मन्त्रः [1]कार्यद्वारेण भवति।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ तैत्तिरीयोपनिषदि द्वितीयब्रह्मवल्ल्यध्यायभाष्ये षष्ठोऽनुवाकः।।६।।

असद्वा इदमग्र आसीत्। असदिति व्याकृतनामरूपविशेषविपरीतरूपमविकृतं

राकरणे प्रकरणस्य तात्पर्यं सोऽकामयतेत्यादेर्दर्शयति — अस्ति नास्तीत्यादिना। तस्या बुद्धिगुहायाः प्रत्यया अहं कर्ता भोक्तेत्यादयस्त एवावभासविशेषास्तैर्व्यज्यमानं विशिष्टस्य विषयत्वेऽपि स्वरूपस्या-विषयत्वादित्यर्थः।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छुद्धानन्दपूज्यपादशिष्यानन्दज्ञानविरचितायां तैत्तिरीयोपनि-षच्छांकरभाष्यटीकायां द्वितीये ब्रह्मवल्ल्यध्याये षष्ठोऽनुवाकः।।६।।

इसीलिये ब्रह्मज्ञानी लोग उस ब्रह्म को 'सत्यम्' इस नाम से पुकारते हैं। वह है और नहीं है, ऐसे अनुप्रश्न का प्रसङ्ग चल रहा था। उसी का उत्तर यहाँ पर दिया गया है। उस आत्मा ने कामना की कि मैं बहुरूप में हो जाऊँ। वह इच्छानुसार सत् एवं त्यदादिरूप आकाशादि कार्य को रचकर एवं उसमें प्रविष्ट हो देखने वाला, सुनने वाला, मनन करने वाला और जानने वाला, ऐसे अनेक रूपों में हो गया। वही यह आकाशादि रूप प्रपंच का कारण कार्य में स्थित ब्रह्म परमाकाश के भीतर बुद्धिरूपी गुहा में निहित है क्योंकि बुद्धिवृत्ति के अवभास विशेष से उपलब्ध होने वाला ब्रह्म है। इसीरूप में उसे जानना चाहिए, ऐसा कहा गया है। उसी इस ब्राह्मणोक्त अर्थ में यह मन्त्र है। जैसे पहले के पाँच कोशों में भी अन्नमयादि के प्रकाशक श्लोक हैं; ऐसे ही सबके भीतर आत्मास्तित्व का प्रकाशक मन्त्र भी कार्यरूप से प्रपंच के कारण ब्रह्मास्तित्व को बतला रहा है।

"असद्वा इदमग्र आसीत्" इस मन्त्र में व्याकृत नामरूप विशेष के विपरीत अवस्था वाले अव्याकृत ब्रह्म को ही असत् शब्द से कहा गया है न कि अत्यन्त असत् को कहा गया है क्योंकि अत्यन्त

---

१. कार्यद्वारेणेति—तदुक्तिद्वारेत्यर्थः। अस्तित्वप्रकाशक इत्यन्वयः।

यद्वै तत्सुकृतम्। रसो वै सः। रसꣳ ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति। को ह्येवान्यात्कः प्राण्यात्। यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्। एष ह्येवाऽऽनन्द-याति। यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्ते-

रूप से बनाया। इसीलिए वह सुकृत (स्वयं किया हुआ) कहा जाता है। वह जो भी प्रसिद्ध सुकृत है, वह निश्चय रस ही है, क्योंकि मधुरादि रस को प्राप्त कर ही यह पुरुष सुखी होता है। यदि हृदयाकाश में स्थित यह आनन्द स्वरूप परमात्मा न होता तो भला कौन व्यक्ति अपान वायु के द्वारा प्राणन कर सकता (इसीलिए वह ब्रह्म अवश्य है जिससे कि प्राणनादि चेष्टाएँ हो रही हैं), क्योंकि यही लोक में धर्मानुसार सुखी करता है। जिस समय यह साधक इस न देखने योग्य, शरीर रहित, निर्वचन

ब्रह्मोच्यते। न पुनरत्यन्तमेवासत्। न ह्यसतः सज्जन्मास्ति। इदमिति नामरूपविशेषवद्-व्याकृतं जगदग्रे पूर्वं प्रागुत्पत्तेर्ब्रह्मैवासच्छब्दवाच्यमासीत्। ततोऽसतो वै सत्प्रविभक्त-नामरूपविशेषमजायतोत्पन्नम्। किं ततः प्रविभक्तं कार्यमिति पितुरिव पुत्रो, नेत्याह। तदसच्छब्दवाच्यं स्वयमेवाऽऽत्मानमेवाकुरुत कृतवत्। यस्मादेवं तस्मात्तद्ब्रह्मैव सुकृतं स्वयं कर्त्रुच्यते। स्वयं कर्तृ ब्रह्मेति प्रसिद्धं लोके सर्वकारणत्वात्। यस्माद्वा स्वयमकरोत्सर्वं सर्वात्मना तस्मात्पुण्यरूपेणापि तदेव ब्रह्म कारणं सुकृतमुच्यते। सर्वथाऽपि तु फलसंबन्धादिकारणं सुकृतशब्दवाच्यं प्रसिद्धं लोके। यदि पुण्यं यदि वाऽन्यत्सा प्रसिद्धिर्नित्ये चेतनावत्कारणे सत्युपपद्यते। तस्मादस्ति तद्ब्रह्म सुकृत-प्रसिद्धेः।

सुकृतमिति। क्तप्रत्ययः सुष्ठु क्रियत इति कर्माभिधायकोऽपि [1]छान्दस्या प्रक्रियया सुष्ठु करोतीति कर्तरि व्याख्यातः।

असत् से सत् का जन्म नहीं हो सकता है। विशेष नामरूप वाले व्याकृत जगत् को इस मन्त्र में 'इदम्' पद से कहा गया है, जो उत्पत्ति से पूर्व असत् शब्द वाच्य ब्रह्मरूप ही था। निःसन्देह उसी असत् से विशेष नामरूप में विभक्त यह सत् जगत् उत्पन्न हुआ है। तो क्या जैसा पुत्र पिता से उत्पन्न होता है, जो सर्वथा पिता से विभक्त दीखता है; वैसे ही ब्रह्म से उत्पन्न यह जगत् भी ब्रह्म से सर्वथा पृथक् ही है? ऐसी बात नहीं, उस असत् शब्द वाच्य ब्रह्म ने स्वयं अपने को ही जगत् रूप में किया है। जबकि ऐसी बात है, इसीलिये वह ब्रह्म ही सृकृत कहा जाता है; अर्थात् स्वयं अपने को करने वाला सबका कारण होने से ब्रह्म स्वयं कर्ता है। यह बात प्रसिद्ध है अथवा सभी रूपों में वह सबका स्वयं कर्ता है। इसीलिये पुण्यरूप से भी वह कारण ब्रह्म ही सुकृत कहा गया है। जो भी हो, सभी प्रकार से लोक में फल सम्बन्धादि कराने वाला ब्रह्म सृकृत शब्द वाच्य प्रसिद्ध ही है। यदि सृकृत का अर्थ पुण्य या कोई अन्य अर्थ माना जाय, वह प्रसिद्धि नित्य चेतन जगत् के कारण के रहने पर ही होती है। अतः सुकृत

---

१. छान्दस्येति—व्यत्ययो बहुलमित्यनया कर्मणि विहितस्य व्यत्ययेन कर्तरि प्रयोग इति भावः।

ऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते। अथ सोऽभयं गतो भवति। यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते। अथ तस्य भयं भवति। तत्त्वेव भयं विदुषोऽमन्वा-नस्य। तदप्येष श्लोको भवति।

इति कृष्णयजुर्वेदीयतैत्तिरीयोपनिषदि द्वितीये ब्रह्मावल्लयध्याये सप्तमोऽनुवाकः।।७।।

के अयोग्य, निराधार ब्रह्म में अभय स्थिति प्राप्त करता है, उस समय निश्चय ही यह अभय को प्राप्त हो जाता है और जिस समय यह ब्रह्म में थोड़ा-सा भी भेद देखता है, तो उस भेद दर्शन के कारण ही इसे भय होता है क्योंकि भेददर्शी अज्ञानी के लिए वह ब्रह्म ही भयरूप हो जाता है। इसी विषय में यह मन्त्र भी है।।१।।

।।इति सप्तमोऽनुवाकः।।

इतश्चास्ति। कुतः। रसत्वात्। कुतो रसत्वप्रसिद्धिर्ब्रह्मण इत्यत आह—

यद्वै तत्सुकृतम्। रसो वै सः। रसो नाम तृप्तिहेतुरानन्दकरो मधुराम्लादिः प्रसिद्धो लोके। रसमेवायं लब्ध्वा प्राप्याऽऽनन्दी सुखी भवति। नासत आनन्दहेतुत्वं दृष्टं लोके। बाह्यानन्दसाधनरहिता अप्यनीहा निरेषणा ब्राह्मणा बाह्यरसलाभादिव सानन्दा दृश्यन्ते विद्वांसो नूनं ब्रह्मैव रसस्तेषाम्। तस्मादस्ति तत्तेषामानन्दकारणं रसवद्ब्रह्म। इतश्चास्ति कुतः। प्राणनादिक्रियादर्शनात्। अयमपि हि पिण्डो जीवतः प्राणेन प्राणित्यपानेनापानिति। एवं वायवीया ऐन्द्रियकाश्च चेष्टाः संहतैः कार्यकरणै-

---

की प्रसिद्धि के कारण वह ब्रह्म है। इसलिये भी वह ब्रह्म है क्योंकि वह रसरूप है। ब्रह्म में रसत्व की प्रसिद्धि कैसे मानी जाय? इस पर श्रुति कहती है।

जो निःसन्देह वह सुकृत है, वह रसरूप है। लोक में मधुराम्लादि आनन्द देने वाला एवं तृप्ति का हेतु रस नाम से प्रसिद्ध है क्योंकि यह सामान्य पुरुष रस को ही प्राप्तकर सुखी होता है। जो स्वयं असत् है, लोक में आनन्द का हेतु नहीं देखा गया है। सुख के साधन बाह्य विषयों से रहित भी एषणा विनिर्मुक्त अनीह ब्रह्मवित् ब्राह्मण वैसे ही आनन्दयुक्त दिखायी पड़ते हैं, जैसे सुख साधन सम्पन्न व्यक्ति आनन्दित दीखता है। अतः निःसन्देह यही मानना पड़ेगा कि पूर्वोक्त ब्रह्मवित् ब्राह्मणों के पास सुख का हेतु रसरूप ब्रह्म ही है। अतः मधुराम्लादि रस की भाँति उन ब्रह्मवित् ब्राह्मणों को सुख देने वाला वह ब्रह्म है। इसलिये भी ब्रह्म का अस्तित्व मानना पड़ता है क्योंकि प्राणनादि क्रिया देखी जाती है। जीवित पुरुष का यह पिण्ड भी प्राण से प्राणन और अपान से अपानन क्रिया करता रहता है। इस प्रकार आध्यात्मिक वायु और इन्द्रियों की चेष्टाएँ कार्य-करण संघात से निष्पन्न होती देखी जाती है। यह संघात किसी एक के प्रयोजन के लिये बना है। जो इस संघात से भिन्न चेतन के

निर्वर्त्यमाना दृश्यन्ते। तच्चैकार्थवृत्तित्वेन संहननं नान्तरेणा चेतनमसंहतं संभवति। अन्यत्रादर्शनात्। तदाह — यद्यदि एष आकाशे परमे व्योम्नि गुहायां निहित आनन्दो न स्यान्न भवेत्को ह्येव लोकेऽन्यादपानचेष्टां कुर्यादित्यर्थः। कः प्राण्यात्प्राणनं वा कुर्यात्तस्मादस्ति तद्ब्रह्म। तदर्थाः कार्यकरणप्राणनादिचेष्टास्तत्कृत एव चाऽऽनन्दो लोकस्य। कुतः एष ह्येव पर आत्मा[१]ऽऽनन्दयात्यानन्दयति सुखयति लोकं धर्मानुरूपम्। स एवाऽऽत्माऽऽनन्दरूपोऽविद्यया परिच्छिन्नो विभाव्यते प्राणिभिरित्यर्थः। भयाभय-हेतुत्वाद्विद्वदविदुषोरस्ति तद्ब्रह्म। सद्वस्त्वाश्रयणेन ह्यभयं भवति। नासद्वस्त्वाश्रयणेन भयनिवृत्तिरुपपद्यते। कथमभयहेतुत्वमित्युच्यते —

यदा ह्येव यस्मादेष साधक एतस्मिन्ब्रह्मणि किंविशिष्टेऽदृश्ये दृश्यं नाम द्रष्टव्यं विकारो दर्शनार्थत्वाद्विकारस्य। न दृश्यमदृश्यमविकार इत्यर्थः। एतस्मिन्नदृश्येऽविकारेऽविषयभूतेऽनात्म्येऽशरीरे यस्माददृश्यं तस्मादनात्म्यं यस्मादनात्म्यं तस्मादनिरुक्तम्।

एकार्थवृत्तित्वेनेति। एकप्रयोजनसाधनत्वेन परस्परायत्ततेत्यर्थः। अन्यत्रेति। गृहप्रासादादिषु स्वतन्त्रं [२]गृहाद्यनारभ्यं स्वामिनमन्तरेण संहननस्यादर्शनात्कार्यकरणसंघातेऽपि विलक्षणः स्वामी शरीरोपचयादिभिरुपचयादिरहितोऽवगम्यते। स च चेतनत्वेन भेदाभावाद्ब्रह्मैवेति तदस्तित्व-सिद्धिरित्यर्थः।

बिना अन्य संघात का प्रयोजन नहीं देखा जाता है। इसी बात को श्रुति ने कहा कि यदि परमाकाश के अन्तर्वर्ती बुद्धिरूपी गुहा में यह आनन्द निहित नहीं होता तो भला कौन अपान की चेष्टा करता और कौन प्राण की चेष्टा करता। (जहाँ प्राण और अपान जैसे सहज क्रिया का होना भी सम्भव नहीं वहाँ अति आयास साध्य वैदिक तथा लौकिक व्यापार कौन करता, यदि कोई स्थायी आनन्द नहीं होता) जिसके लिये कार्य-करण की प्राणनादि चेष्टा होती हैं। बस लोक में तत्प्रयुक्त ही आनन्द होता है। कैसे? श्रुति कहती है—यही परमात्मा धर्मानुरूप लोक को आनन्द प्रदान करता है, वह आनन्द अपरिच्छिन्न होता हुआ भी अविद्या के कारण सर्वसाधारण प्राणियों के द्वारा परिच्छिन्न रूप में जाना जाता है। अज्ञानियों के भय एवं ज्ञानियों के अभय का कारण होने से वह ब्रह्म है। ऐसा मानना चाहिये क्योंकि सद्वस्तु के आश्रय से ही अभय होता है। इसके विपरीत असद् वस्तु के आश्रय से भय का निवृत्त होना सम्भव नहीं। विद्वानों के अभय का हेतु ब्रह्म कैसे? इस पर श्रुति कहती है।

क्योंकि जिस समय इस ब्रह्म में यह साधक अभय प्रतिष्ठा को प्राप्त करता है, उस समय वह भय से मुक्त हो जाता है। किस गुण से विशिष्ट ब्रह्म में प्रतिष्ठा प्राप्त कर लेने पर साधक भय से मुक्त हो जाता है? उसे कहते हैं कि जो अदृश्य यानी विकार रहित है, जो अनात्म्य अर्थात् शरीर रहित जो वाणी का अविषय है और जो सर्वाधार है जिसका दूसरा कोई आधार नहीं है। ऐसे ब्रह्म में प्रतिष्ठा प्राप्त करने पर साधक भय से मुक्त हो जाता है। विकार दर्शनार्थ होने के कारण दृश्य कहा

---

१. आनन्दयात्यानन्दयतीति—छान्दसं दैर्घ्यमिति भावः। २. स्वातन्त्र्यं विवृणोति—गृहाद्यनारभ्यमिति। परतन्त्रं हि गृहादि स्वामिनाऽऽरभ्यं न स्वामी तेनारभ्य इति।

विशेषो हि निरुच्यते। विशेषश्च विकारः। अविकारं च ब्रह्म। सर्वविकारहेतुत्वात्तस्माद-निरुक्तम्। यत एवं तस्मादनिलयनं निलयनं नीड आश्रयो न निलयनमनिलयनमनाधारं तस्मिन्नेतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिलयने सर्वकार्यधर्मविलक्षणे ब्रह्मणीति वाक्यार्थः। अभयमिति क्रियाविशेषणम्। अभयमिति वा लिङ्गान्तरं परिणम्यते। प्रतिष्ठां स्थितिमात्मभावं विन्दते लभते। अथ तदा स तस्मिन्नानात्वस्य भयहेतोरविद्याकृतस्या-दर्शनादभयं गतो भवति। स्वरूपप्रतिष्ठो ह्यसौ यदा भवति तदा नान्यत्पश्यति नान्य-च्छृणोति नान्यद्विजानाति। अन्यस्य ह्यन्यतो भयं भवति नाऽऽत्मन एवाऽऽत्मनो भयं युक्तं तस्मादात्मैवाऽऽत्मनोऽभयकारणम्। सर्वतो हि निर्भया ब्राह्मणा दृश्यन्ते सत्सु भयहेतुषु तच्चायुक्तमसति भयत्राणे ब्रह्मणि। तस्मात्तेषामभयदर्शनादस्ति तदभय-कारणं ब्रह्मेति। कदाऽसावभयं गतो भवति साधको यदा नान्यत्पश्यत्यात्मनि चान्तरं भेदं न कुरुते तदाऽभयं गतो भवतीत्यभिप्रायः। यदा पुनरविद्यावस्थायां हि यस्मादेषोऽ-विद्यावानविद्यया प्रत्युपस्थापितं वस्तु तैमिरिकद्वितीयचन्द्रवत्पश्यत्यात्मनि चैतस्मि-न्ब्रह्मणि उदपि, अरमल्पमप्यन्तरं छिद्रं भेददर्शनं कुरुते। भेददर्शनमेव ह्यन्तरकरण-

---

गया है। जो दृश्य से भिन्न हो, उसे अदृश्य अर्थात् अविकार कहते हैं। अदृश्य होने के कारण वह अनात्म्य अर्थात् अशरीर है। इसीलिये वह अनिरुक्त है। विकार विशेष है, तो वाणी से कहा जाता है। ब्रह्म सभी विकारों का अधिष्ठान होने से अविकार है। फिर उसे वाणी से किस प्रकार कहा जाय? अनिरुक्त होने के कारण ही वह अनिलयन है। निलयन नीड़ अथवा आश्रय को कहते हैं। उससे भिन्न को अनिलयन अनाधार कहा गया है। सम्पूर्ण जगत् के धर्म से विलक्षण उसी इस अदृश्य, अनात्म्य अनिरुक्त एवं अनिलयन स्वरूप ब्रह्म में अभेद भाव से प्रतिष्ठित हो जाने पर वह साधक अभय को प्राप्त हो जाता है। श्रुति में 'अभयम्' यह पद क्रियाविशेषण है अथवा प्रतिष्ठा का विशेषण मानने पर 'अभयम्' पद को 'अभयाम्' ऐसा स्त्रीलिंग में बदल लेना चाहिये। प्रतिष्ठा शब्द का अर्थ है स्थिति यानी आत्म भाव से उसे जब प्राप्त करता है, तब भय से मुक्त हो जाता है क्योंकि भय का हेतु आविद्यक नानात्व उस ब्रह्म में उस समय वह तत्त्ववित् पुरुष नहीं देखता। जब वह ब्रह्मज्ञानी स्वरूप में प्रतिष्ठित होता है, तब न दूसरे को देखता है न दूसरे को सुनता है और न दूसरे को जानता ही है। भय तो सदा अपने से भिन्न वस्तु के द्वारा ही होता रहता है। आत्मा से ही आत्मा को भय मानना युक्ति सङ्गत नहीं है। अतः आत्मा के अभय का कारण स्वयं आत्मा ही है क्योंकि अनेकों भय के कारणों के बीच में भी ब्रह्मवित् पुरुष सर्वथा निर्भय देखे जाते हैं। अभयत्व भय से त्राण करने वाले ब्रह्म को न मानने पर असंगत हो जायगा। अतः उन ज्ञानियों को अभय देखने पर यह मानना पड़ता है कि उनके अभय का कारण ब्रह्म है। वह साधक किस समय अभय को प्राप्त होता है? जब वह आत्मा में भेद नहीं देखता, तब वह अभय को प्राप्त होता है। यह इसका अभिप्राय है और जब तैमिरिक पुरुष से देखे गये द्वितीय चन्द्र दर्शन की भाँति अविद्या दशा में यह अज्ञानी उस आत्मस्वरूप ब्रह्म में अविद्या द्वारा प्रत्युपस्थापित थोड़ा भी भेद दर्शन करता है, भेद दर्शन ही अन्तर का कारण है, उस

मल्पमपि भेदं पश्यतीत्यर्थः। अथ तस्माद्भेददर्शनाद्धेतोरस्य भेददर्शिन आत्मनो भयं भवति। तस्मादात्मैवाऽत्मनो भयकारणमविदुषस्तदेतदाह। तद्ब्रह्म त्वेव भयं भेददर्शिनो विदुष ईश्वरोऽन्यो मत्तोऽहमन्यः संसारीत्येवं विदुषो भेददृष्टमीश्वराख्यं तदेव ब्रह्माल्पमप्यन्तरं कुर्वतो भयं भवत्येकत्वेनामन्वानस्य। तस्माद्विद्वानप्यविद्वानेवासौ, योऽयमेकमभिन्नमात्मतत्त्वं न पश्यत्युच्छेदहेतुदर्शनाद्ध्युच्छेद्याभिमतस्य भयं भवति। अनुच्छेद्यो ह्युच्छेदहेतुस्तन्नासत्युच्छेदहेतावनुच्छेद्ये न तद्दर्शनकार्यं भयं युक्तम्।। सर्वं च जगद्भयवद्दृश्यते। तस्माज्जगतो भयदर्शनाद्गम्यते नूनं तदस्ति भयकारणमुच्छेदहेतुरनुच्छेद्यात्मकं यतो जगद्बिभेतीति। तदेतस्मिन्नप्यर्थ एष श्लोको भवति।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ तैत्तिरीयोपनिषदि द्वितीये ब्रह्मवल्ल्यध्याये सप्तमोऽनुवाकः।।७।।

'दासोऽहं तस्य देवस्य ममाऽऽराध्यः परेश्वरः' इति [१]भेदं विद्वान् कथमज्ञ इत्युच्यते तत्राऽऽह — [२]असौ योऽयमिति। तथा चन्द्रभेदं पश्यन्नप्यविद्वानुच्यतेऽतत्त्वदर्शित्वात्तथेत्यर्थः। कथं तर्हि तस्य भयसंभावनेत्यत आह — उच्छेदेति। संहर्ता हि परमेश्वरो मां संहरिष्यति नरके वा निक्षेप्स्यतीति पश्यतो भयं भवतीत्यर्थः। ब्रह्मैवोच्छेदहेतुः कुत इत्यत आह — अनुच्छेद्यो हीति। उच्छेदहेतोरप्युच्छेद्यत्वेऽनवस्था-प्रसङ्गान्नित्यत्वं वक्तव्यं यच्च ब्रह्मणो नान्यस्य संभाव्यत इत्यर्थः।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छुद्धानन्दपूज्यपादशिष्यानन्दज्ञानविरचितायां तैत्तिरीयोपनिषच्छांकरभाष्यटीकायां द्वितीये ब्रह्मवल्ल्यध्याये सप्तमोऽनुवाकः।।७।।

अल्प भेद को भी देखने वाले भेददर्शी इस अज्ञानी जीव को भेद दर्शन के कारण ही भय होता है। अतः अज्ञानी जीव के भय का कारण भी आत्मा ही है। भेददर्शी पण्डितंमन्य पुरुष मुझसे भिन्न है और मैं उससे भिन्न हूँ, इस प्रकार जानने वाले को ईश्वर नामक तत्त्व में देखा गया स्वल्प भेद-दर्शन भी भयरूप हो जाता है। एकत्व न मानने वाले भेददर्शी पण्डितंमन्य पुरुष को वही ब्रह्म भय का कारण बन जाता है। इसलिये यह मानना पड़ेगा कि वह शास्त्र-पण्डित होता हुआ भी अविद्वान् ही है जो एक अभिन्न आत्मतत्त्व को यह नहीं देखता है। उच्छेद्याभिमत पुरुष को उच्छेद हेतु देखने के कारण भय होता है। जो आत्मा उच्छेद के योग्य नहीं है, वही अनुच्छेद्य आत्मा उच्छेद अर्थात् विनाश का हेतु अज्ञानी को दीखता है। अतः उच्छेद के हेतु उच्छेद्य वस्तु में उसके दर्शन का फल, भय, तत्त्ववेत्ता को नहीं होता। अज्ञानी को सम्पूर्ण संसार भयावह दीखता है। अतः जगत् में भय देखने से जाना जाता है कि कोई ऐसी वस्तु अवश्य है जो अविनाशी है, कार्य के विनाश का हेतु और भय का कारण है, जिससे जगत् भयभीत होता रहता है। इसी अर्थ में आगे का मन्त्र है।

---

१. भेदं—भिन्नत्वेनाप्यात्मानमिति यावत्। २. असौ योऽयमितीति—अत्र असौ रहित एवादर्शपाठः।

अथ ब्रह्मवल्ल्यध्यायेऽष्टमोऽनुवाकः

भीषाऽस्माद्वातः पवते। भीषोदेति सूर्यः। भीषा-ऽस्मादग्निश्चेन्द्रश्च। मृत्युर्धावति पञ्चम इति। सैषाऽऽनन्दस्य मीमाꣳसा भवति। युवा स्यात्साधु-

इस परमेश्वर के भय से वायु चलती है, इसी के भय से सूर्य उदय होता है एवं इसी के भय से अग्नि, इन्द्र तथा पाँचवा मृत्यु दौड़ता है। अब यह ब्रह्मानन्द की मीमांसा की जाती है। साधु

भीषा भयेनास्माद्वातः पवते। भीषोदेति सूर्यः। भीषाऽस्मादग्निश्चेन्द्रश्च। मृत्युर्धावति पञ्चम इति। वातादयो हि महार्हाः स्वयमीश्वराः सन्तः पवनादिकार्येष्वा-यासबहुलेषु नियताः प्रवर्तन्ते। तद्युक्तं प्रशास्तरि सत्यन्यस्मिन्नियमेन तेषां प्रवर्तनं, तस्मादस्ति भयकारणं तेषां प्रशास्तृ ब्रह्म। यतस्ते भृत्या इव राज्ञोऽस्माद्ब्रह्मणो भयेन प्रवर्तन्ते तच्च भयकारणमानन्दं ब्रह्म।

तस्यास्य ब्रह्मण आनन्दस्यैषा मीमांसा विचारणा भवति। किमानन्दस्य मीमांस्यमित्युच्यते। किमानन्दो [1]विषयविषयिसंबन्धजनितो लौकिकानन्दवदाहोस्वि-त्स्वाभाविक इत्येवमेषाऽऽनन्दस्य मीमांसा।

तत्र लौकिक आनन्दो बाह्याध्यात्मिकसाधनसंपत्तिनिमित्त उत्कृष्टः। स य एष

तच्च भयकारणं ब्रह्मानन्दरूपमुक्तं यदेष आकाश आनन्दो न स्यादिति। तत्राऽऽनन्दश्च लोके जन्यः प्रसिद्धस्ततो विचारमारभते — तस्यास्येत्यादिना।

ब्रह्मानन्दस्य चेन्मीमांसा प्रस्तुता किमर्थस्तर्हि सार्वभौमानन्दाद्युपन्यासस्तत्राऽऽह — तत्र लौकिक

"इस जगन्नियन्ता ब्रह्म के भय से वायु चलता है, इसके भय से सूर्य उदय होता है, इसी के भय से अग्नि, इन्द्र और यह पञ्चम मृत्यु भी दौड़ रहा है, वायु आदि महत् पूजा योग्य स्वयं ईश्वर होते हुए भी श्रमबहुल पवनादि कार्य में नियम से प्रवृत्त होते हैं, यह प्रकाशक के रहने पर ही सम्भव है। जब नियमतः इनकी प्रवृत्ति होती है तो भय का कारण इनका प्रकाशक ब्रह्म है; यह मानना पड़ेगा। जैसे राजा के डर से भृत्यवर्ग नियमतः काम करते हैं। वैसे ही इस ब्रह्म के भय से जब नियमतः वायु आदि देव अपने कार्य में प्रवृत्त रहते हैं तो वह ब्रह्म केवल भय का कारण ही होगा ऐसी बात नहीं है अपितु आनन्द रूप भी है।

उसी इस आनन्द रूप ब्रह्म की मीमांसा यहाँ पर की जाती है। किस प्रकार आनन्दमय की मीमांसा करोगे? इस पर कहते हैं कि क्या वह आनन्द विषय-विषयी सम्बन्ध से उत्पन्न होने वाले लौकिक आनन्द के समान ही है अथवा वह आनन्द स्वाभाविक है। इस प्रकार आनन्द की यह मीमांसा आवश्यक हो जाती है।

वहाँ पर बाह्य तथा आध्यात्मिक सम्पत्ति से जो लौकिक उत्कृष्ट आनन्द है, उसी

---

१. विषयविषयीति—शब्दश्रोत्रादीत्यर्थः।

युवाऽध्यायकः। आशिष्ठो द्रढिष्ठो बलिष्ठः। तस्येयं पृथिवी सर्वा वित्तस्य पूर्णा स्यात्। स एको मानुष आनन्दः। ते ये शतं मानुषा आनन्दाः।।१।।

स्वभाव वाला, नवयुवक, वेदादि शास्त्रों का अध्ययन किया हुआ, अत्यन्त आशावान्, अत्यन्त दृढ़ और अत्यन्त बलवान् हो एवं उसी के उपभोग के साधन धन-धान्यादि परिपूर्ण सम्पूर्ण पृथिवी भी हो (अर्थात् पारलौकिक धर्मादि साधन से और लौकिक भोग से युक्त पृथिवीपति राजा हो) उसका वह आनन्द एक मनुष्य का आनन्द है। ऐसे जो सौ मानुष आनन्द हैं।।१।।

निर्दिश्यते ब्रह्मानन्दानुगमार्थम्। अनेन हि प्रसिद्धेनाऽऽनन्देन व्यावृत्तविषयबुद्धिगम्य आनन्दोऽनुगन्तुं शक्यते। लौकिकोऽप्यानन्दो ब्रह्मानन्दस्यैव मात्राऽविद्यया तिरस्क्रियमाणे विज्ञान उत्कृष्यमाणायां चाविद्यायां ब्रह्मादिभिः कर्मवशा[1]द्यथाविज्ञानं विषयादिसाधनसंबन्धवशाच्च [2]विभाव्यमानश्च [3]लोकेऽनवस्थितो लौकिकः संपद्यते स एवाविद्याकामकर्मप्रकर्षेण मनुष्यगन्धर्वाद्युत्तरोत्तरभूमिष्वकामहतविद्वच्छ्रोत्रियप्रत्यक्षो विभाव्यते शतगुणोत्तरोत्तरोत्कर्षेण यावद्धिरण्यगर्भस्य ब्रह्मण आनन्द इति।

निरस्ते त्वविद्याकृते विषयविषयिविभागे विद्यया स्वाभाविकः परिपूर्ण एक आनन्दोऽद्वैतो भवतीत्येतमर्थं विभावयिष्यन्नाह —

इत्यादिना। लौकिक आनन्दः क्वचित्काष्ठां प्राप्तः सातिशयत्वात्परिमाणवदिति ब्रह्मानन्दानुमानार्थो लौकिकोपन्यास इत्यर्थः। विषयेभ्यो व्यावृत्ता व्यावृत्तविषया अविषयब्रह्मात्मैकत्वदर्शिनस्तद्बुद्धिगोचर इत्यर्थः। [4]प्रकारान्तरेण ब्रह्मानन्दानुगममाह — लौकिकोऽपीत्यादिना।

का निर्देश यहाँ पर ब्रह्मानन्द अनुगम के लिये किया जाता है क्योंकि इस प्रसिद्ध आनन्द द्वारा ही विषय व्यावृत्त केवल बुद्धिगम्य आनन्द को समझाया जा सकता है। लौकिक आनन्द भी ब्रह्मानन्द का ही लेशमात्र है। अविद्या द्वारा परमार्थ विज्ञान के तिरस्कार हो जाने पर अविद्या का उत्कर्ष बढ़ जाता है, उस समय ब्रह्मादि के द्वारा कर्म और उपासना के अनुसार विषयादि साधन सम्बन्ध के अधीन अनुभव में आने वाला अस्थायी लौकिक सुख लोक में प्राप्त किया जाता है। वही लौकिक सुख अविद्या, कामना और कर्म के अपकर्ष से मनुष्य, गन्धर्व आदि उत्तरोत्तर भूमियों में सौ-सौगुने उत्कृष्ट रूप में हिरण्यगर्भ पर्यन्त अनुभव किया जाता है, जो कामना शून्य विद्वान् ब्रह्मज्ञानी को प्रत्यक्ष होता रहता है।

विषय-विषयी विभाग अविद्या के कारण से हैं। ब्रह्मविद्या द्वारा अविद्याकृत विषय-विषयी विभाग के निरस्त हो जाने पर स्वाभाविक परिपूर्ण एक अद्वैत आनन्द अभिव्यक्त हो जाता है। बस इसी अर्थ को बतलाने के लिये आगे का मन्त्र भाग है।

---

१. यथाविज्ञानं—यथाश्रुतम्। २. विभाव्यमानश्चेति—हेतुगर्भं तथा च यथाकर्म यथाविज्ञानं च विभाव्यमानत्वादेव क्षीयमाणश्चपलश्चेत्यर्थः।
३. लोकेऽनवस्थितः—चञ्चलोऽनवस्थित इत्यर्थः। ४. प्रकारान्तरेणेति—लेशलेशिभावेनेति यावत्।

स एको [1]मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दः। श्रोत्रियस्य चाका-
महतस्य। ते ये शतं मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दाः। स

वही कर्म और उपासना द्वारा मनुष्य से गन्धर्व को प्राप्त हुए का एक आनन्द है। (क्योंकि मनुष्य से गन्धर्वत्व को प्राप्त हुए जीव में अन्तर्धानादि होने की शक्ति एवं शीतोष्णादि से प्रतिघात न होने की शक्ति रहती है) वही आनन्द कामना के प्रतिघात से रहित श्रोत्रिय को भी प्राप्त है। ऐसे ही

---

[2] युवा प्रथमवयाः। साधुयुवेति साधुश्चासौ युवा चेति यूनो विशेषणम्। युवाऽप्यसाधुर्भवति साधुरप्ययुवाऽतो विशेषणं युवा स्यात्साधुयुवेति। अध्यायकोऽधीतवेदः। आशिष्ठः आशुतमः क्षिप्रकारिषु मध्ये स्वयंमतिशयत्वादित्यर्थः। द्रढिष्ठो दृढतमः। बलिष्ठो बलवत्तमः। एवमाध्यात्मिकसाधनसंपन्नः। तस्येयं पृथिव्युर्वी सर्वा वित्तस्य वित्तेनोपभोगसाधनेन दृष्टार्थेनादृष्टार्थेन च कर्मसाधनेन संपन्ना पूर्णा राजा पृथिवीपतिरित्यर्थः। तस्य च य आनन्दः स एको मानुषो मनुष्याणां प्रकृष्ट एक आनन्दः। ते ये शतं मानुषा आनन्दाः स एको मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दः। मानुषानन्दाच्छतगुणेनोत्कृष्टो मनुष्यगन्धर्वाणा-मानन्दो भवति। मनुष्याः सन्तः कर्मविद्याविशेषाद्गन्धर्वत्वं प्राप्ता मनुष्यगन्धर्वाः। ते ह्यन्तर्धानादिशक्तिसंपन्नाः सूक्ष्मकार्यकरणाः। तस्मात्प्रतिघाताल्पत्वं तेषां द्वंद्वप्रतिघातशक्तिसाधनसंपत्तिश्च। ततोऽप्रतिहन्यमानस्य प्रतीकारवतो मनुष्य-

---

मनुष्यगन्धर्वानन्दस्योत्कृष्टत्वे निमित्तमाह — ते ह्यन्तर्धानादीति। प्रथममकामहताग्रहणस्य

प्रथम अवस्था को युवा कहते है।। जो युवा हो और चरित्रवान् भी हो, उसे साधु-युवा कहते हैं। युवा भी असाधु होता है और साधु कदाचित् युवा नहीं होता। अतः साधु पद युवा का विशेषण है, वह साथ ही अधीत वेद हो तो उसे अध्यायक कहा गया है। अत्यन्त आशास्ता, अत्यन्त दृढ़ और अत्यन्त बलवान् भी है। इस प्रकार जो साधन सम्पन्न पुरुष है, उसे यह दृष्ट उपभोग साधन और अदृष्टार्थ कर्म साधन से सम्पन्न पूरी पृथिवी मिल जाय अर्थात् वह पृथिवी का पालक राजा भी हो, तो उसे जो आनन्द मिलता है, वह मनुष्यों का सर्वश्रेष्ठ एक आनन्द कहा गया है। मानुष आनन्द को सौ से गुना कर देने पर वे जो आनन्द हो सकते हों, वह मनुष्य-गन्धर्वों का एक आनन्द है अर्थात् मानुष आनन्द से सौ गुना श्रेष्ठ आनन्द मनुष्य गन्धर्वों का है। जो मनुष्य होते हुए कर्म और उपासना विशेष से गन्धर्व भाव को प्राप्त हुए हों, वे मनुष्य गन्धर्व कहे जाते हैं क्योंकि वे सूक्ष्म शरीर और इन्द्रिय से युक्त अन्तर्धानादि शक्तियों से सम्पन्न होते हैं। अतः उनमें प्रतिघात स्वल्प होता है और द्वन्द्व को रोकने की शक्ति एवं साधन सम्पन्न शक्ति होती है। किसी दूसरे के प्रतिघात इन पर नहीं होते और वे दूसरे पर प्रतिकार करने वाले होते हैं। इसीलिये मनुष्य-गन्धर्व का चित्त प्रसन्न रहता है। उस

---

१. मनुष्यगन्धर्वाणामिति। अत्र सायणीयम्—अस्मिन् कल्पे मनुष्याः सन्तो विद्याकर्मविशेषानुष्ठानेन गन्धर्वत्वं प्राप्ता मनुष्यगन्धर्वाः। मनुष्यगन्धर्वस्त्वन्तरिक्षलोकवासिनः "यक्षगन्धर्वाप्सरोगणसेवितमन्तरिक्षम्" इति श्रुत्यन्तरादिति। २. पूर्वं वयो यौवनं जरा चोत्तरमिति द्विधो विभागाभिप्रायेणाह—युवा प्रथमवया इति।

एको [१]देवगन्धर्वाणामानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामह-
तस्य। ते ये शतं देवगन्धर्वाणामानन्दाः। स एकः
पितृणां चिरलोकलोकानामानन्दः। श्रोत्रियस्य
चाकामहतस्य। ते ये शतं [२]पितृणां चिरलोकलोकाना-
मानन्दाः। स एक आजानजानां देवानामानन्दः।।२।।

मनुष्य गन्धर्व का सौ गुना आनन्द है वही जन्मजात देव गन्धर्व का एक आनन्द है। वही कामना प्रतिघात से शून्य श्रोत्रिय को वह देव गन्धर्व का आनन्द भी प्राप्त है। देव गन्धर्वों के जो सौ आनन्द हैं वही चिरस्थायीलोक में रहने वाले पितृगण का एक आनन्द है, अकामहत श्रोत्रिय को वह आनन्द प्राप्त है एवं चिरलोक निवासी पितृगणों के जो सौ आनन्द हैं वही (स्मार्त कर्म के फल स्वरूप) आजानदेव भाव को प्राप्त हुए का एक आनन्द है।।२।।

गन्धर्वस्य स्याच्चित्तप्रसादः। तत्प्रसादविशेषात्सुखविशेषाभिव्यक्तिः। एवं पूर्वस्याः पूर्वस्या भूमेरुत्तरस्यामुत्तरस्यां भूमौ प्रसादविशेषतः शतगुणेनाऽऽनन्दोत्कर्ष उपपद्यते। प्रथमं त्वकामहताग्रहणं मनुष्यविषयभोगकामानभिहतस्य श्रोत्रियस्य मनुष्यानन्दाच्छत-गुणेनाऽऽनन्दोत्कर्षो मनुष्यगन्धर्वेण तुल्यो वक्तव्य इत्येवमर्थम्। साधुयुवाऽध्यायक इति [३]श्रोत्रियत्वाऽवृजिनत्वे गृह्येते। ते ह्यविशिष्टे [४]सर्वत्र। अकामहतत्वं तु विषयोत्कर्षा-पकर्षतः सुखोत्कर्षापकर्षाय [५]विशिष्यते। अतोऽकामहतग्रहणम्, तद्विशेषतः शतगुणसुखो-

---

तात्पर्यमाह — प्रथममिति। यदि प्रथमपर्याय एवाकामहतो गृह्येत तदा तस्यैव सार्वभौमानन्देन तुल्य आनन्दः स्यात्तदा च व्याघातो भवेत्, [६]मानुषानन्दे निस्पृहो मानुषानन्दभोगभागी चेति। ततो मनुष्यगन्धर्वानन्देन तुल्यमानन्दं तस्य दर्शयितुं प्रथमपर्याये तदग्रहणमित्यर्थः। अवृजिनत्वमपापत्वं [७]यथोक्तकारित्वं तत्साधुपदाल्लभ्यत इत्यर्थः।

चित्त प्रसाद विशेष से उन्हें सुख विशेष की अभिव्यक्ति होती है एवं पूर्व-पूर्व भूमि की अपेक्षा उत्तरोत्तर भूमि में प्रसाद विशेष के कारण ही शतगुणा आनन्द में उत्कर्ष होता जाता है। पहले अकामहत का ग्रहण नहीं किया गया है। मनुष्य विषयक भोग की कामना से तत्त्वज्ञानी का चित्त आघातित नहीं होता। इसीलिये मानुष आनन्द से सौ गुना अधिक उत्कर्ष उस ब्रह्मज्ञानी के आनन्द में होता है, जिसकी तुलना मनुष्य गन्धर्व के आनन्द से की गयी है, ऐसा अभिप्राय है। "साधुयुवाऽध्यायकः" इस विशेषण से श्रोत्रियत्व और पाप राहित्य का ग्रहण होता है, वे सर्वत्र सामान्य हैं; किन्तु विषय के

---

१. देवगन्धर्वाणामिति—सृष्टिकाल एव देवलोके समुत्पन्ना गायका देवगन्धर्वा इति सायणीये। २. पितृणामिति—"छन्दस्युभयथा" इति दैर्घ्यविकल्पो वेदे। ३. बृहदारण्यकीयानन्दमीमांसायां "यश्च श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतः"४-३-३३ इति पठ्यते। ततोऽत्रावृजिनत्वमुपसंहर्तव्यमित्याशयेनाह—श्रोत्रियत्वाऽवृजिनत्वे इति। उपसंहर्तव्यमिति तदनुरोधात्साधुपदमेव तथा व्याख्येयमिति यावत्। ४. सर्वत्र—उक्तवक्ष्यमाणानन्दभागिष्विति यावत्। ५. विशिष्यते—अतिरिच्यते। ६. मानुषानन्द इति—सार्वभौमानन्दादर्वाचीनास्तु दुःखमिश्रत्वादानन्दा एव न संभवन्तीति सायणभाष्यम्। ७. यथोक्तकारित्वं श्रुतिस्मृत्युक्तधर्मानुष्ठायित्वमित्यर्थः।

श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतमाजानजानां देवानामानन्दाः। स एकः कर्मदेवानां देवानामनन्दः। ये कर्मणा देवानपियन्ति। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतं कर्मदेवानां देवानामानन्दाः। स एको देवानामानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतं देवानामानन्दाः। स एक इन्द्रस्याऽऽनन्दः।।३।।

श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतमिन्द्रस्याऽऽनन्दाः। स एको बृहस्पतेरानन्दः। श्रोत्रियस्य

और वह अकामहत श्रोत्रिय को प्राप्त है। आजानदेवताओं के जो सौ आनन्द हैं जो कर्म करके देवत्व को प्राप्त होते हैं (ऐसे केवल अग्निहोत्रादि वैदिक कर्मानुष्ठान से) कर्म देवत्व को प्राप्त हुए का वही एक आनन्द है। वह अकामहत श्रोत्रिय को भी प्राप्त है। कर्मदेव देवताओं के जो सौ आनन्द हैं वही (यज्ञ में हविर्भाग ग्रहण करने वाले) देवताओं का एक आनन्द है और वह कामना से प्रतिहत न होने वाले श्रोत्रिय को भी प्राप्त है। देवताओं के जो सौ आनन्द हैं वही देवताओं के स्वामी इन्द्र का एक आनन्द है।।३।।

और वह अकामहत श्रोत्रिय को भी प्राप्त है। इन्द्र के जो सौ आनन्द हैं वही इन्द्र गुरु बृहस्पति का एक आनन्द है और वह अकामहत श्रोत्रिय को भी प्राप्त है। बृहस्पति के जो सौ आनन्द हैं वही

त्कर्षोपलब्धेरकामहतत्वस्य परमानन्दप्राप्तिसाधनत्वविधानार्थम्। व्याख्यातमन्यत्। देवगन्धर्वा जातित एव। चिरलोकलोकानामिति पितॄणां विशेषणम्। चिरकालस्थायी लोको येषां पितॄणां ते चिरलोकलोका इति। आजान इति देवलोकस्तस्मिन्नाजाने जाता आजानजा देवाः स्मार्तकर्मविशेषतो देवस्थानेषु जाताः।

कर्मदेवा ये वैदिकेन कर्मणाऽग्निहोत्रादिना केवलेन देवानपियन्ति। देवा इति त्रयस्त्रिंशद्धविर्भुजः। इन्द्रस्तेषां स्वामी। तस्याऽऽचार्यो बृहस्पतिः। प्रजापतिर्विराट्-

---

त्रयस्त्रिंशत्। अष्टौ वसव एकादश रुद्रा द्वादशाऽऽदित्या इन्द्रः प्रजापतिश्चेति। यदर्थं

उत्कर्ष-अपकर्ष होने के कारण, सुख के उत्कर्ष-अपकर्ष बतलाने के लिये अकामहतत्व ब्रह्मज्ञानी में विशेष है। इसीलिये 'अकामहत' ग्रहण किया गया है। इसी वैशिष्ट्य के कारण सुख में सौ गुने उत्कर्ष की उपलब्धि होने से अकामहत्व को परमानन्द प्राप्ति साधन विधान के लिये कहा गया है, अन्य सब व्याख्यात हैं। जन्म से ही देव गन्धर्व का ग्रहण किया गया है। जिन पितरों के लोक चिरकाल स्थायी हैं, वे "चिरलोकलोकाः" पद से कहे गये हैं, जो पितरों का विशेषण है। "आजान" इस पद से देवलोक में जो उत्पन्न हुए उन्हें आजानजदेव कहते हैं; अर्थात् देव स्थानों में स्मार्त कर्म विशेष के कारण उत्पन्न हुए देव आजानज कहे जाते हैं।

चाकामहतस्य। ते ये शतं बृहस्पतेरानन्दाः। स एकः प्रजापतेरानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतं प्रजापतेरानन्दाः स एको ब्रह्मण आनन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य।।४।।

प्रजापति का एक आनन्द है और वह अकामहत श्रोत्रिय को भी प्राप्त है। प्रजापति के जो सौ आनन्द हैं वही त्रैलोक्य शरीरधारी ब्रह्म का एक आनन्द है, वह अकामहत श्रोत्रिय को भी प्राप्त है (निष्पापत्व और श्रोत्रियत्व ये दोनों धर्म सर्वत्र समान होने पर भी अकामहतत्व के प्रकर्ष से आनन्दानुभव में प्रकर्ष आता जाता है। अन्त में आनन्द तथा आनन्दी का अभेद हो जाता है)।।४।।

त्रैलोक्यशरीरः। ब्रह्मा समष्टिव्यष्टिरूपः संसारमण्डलव्यापी। यत्रै[1]त आनन्दभेदा एकतां गच्छन्ति धर्मश्च [2]तन्निमित्तो ज्ञानं च [3]तद्विषयमकामहतत्वं च निरतिशयं यत्र स एष हिरण्यगर्भो ब्रह्मा, तस्यैष आनन्दः श्रोत्रियेणावृजिनेनाकामहतेन च सर्वतः प्रत्यक्षमुपलभ्यते। तस्मादेतानि त्रीणि साधनानीत्यवगम्यते। तत्र श्रोत्रियत्वावृजिनत्वे नियते अकामहतत्वं तूत्कृष्यत इति प्रकृष्टसाधनताऽवगम्यते। तस्याकामहतत्वप्रकर्षतश्चोपलभ्यमानः श्रोत्रियप्रत्यक्षो ब्रह्मण आनन्दो यस्य परमानन्दस्य मात्रैकदेशः। "एतस्यैवाऽऽनन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति" (बृ.उ. ४-३-३२) इति श्रुत्यन्तरात्। स एष आनन्दो यस्य मात्रा

मीमांसाऽऽरब्धा तस्य निरतिशयानन्दस्य सिद्धौ वाक्यतात्पर्यं दर्शयितुमाह — तस्याकामहतत्वेति। तस्य ब्रह्मणो हिरण्यगर्भस्याऽऽनन्दस्तदुपासकप्रत्यक्षो यस्य मात्रा स एष परमानन्दः स्वाभाविक इति संबन्धः। हिरण्यगर्भानन्दस्य मात्रात्वे श्रुत्यन्तरं प्रमाणयति — एतस्यैवेति। न केवलं हिरण्यगर्भानन्द एव मात्रा यश्च प्रागुपन्यस्तः सार्वभौमाद्यानन्दः स एष यस्य मात्रा प्रविभक्ता नानात्वमापन्ना सती यत्र निरतिशयानन्देऽकामहतब्रह्मवित्प्रत्यक्षे कैवल्य एकतां गतेति योजना। अकामहतप्रत्यक्षत्वाभिधाना-

---

केवल अग्निहोत्रादि वैदिक कर्मों से जो देवभाव को प्राप्त हो चुके हैं, वे कर्मदेव कहे जाते हैं। जो यज्ञादि में हवि के भोक्ता तैंतीस देव हैं, उन देवों के स्वामी को इन्द्र कहते हैं और इन्द्र के गुरु को बृहस्पति कहते हैं। जो संसार मण्डल व्यापी समष्टि - व्यष्टिरूप त्रैलोक्य स्वामी ब्रह्मा है, उसी को प्रजापति अर्थात् विराट् कहा जाता है। जहाँ पर ये सभी भिन्न - भिन्न आनन्द एकता को प्राप्त हो जाते हैं, उस आनन्द के निमित्त धर्म तद्विषयक ज्ञान और निरतिशय अकामहतत्व भी एकत्व को प्राप्त हो जाता है, वही यह हिरण्यगर्भ ब्रह्मा है। उसका यह आनन्द निष्पाप, कामना शून्य, श्रोत्रिय ब्रह्मज्ञानी के द्वारा सभी ओर से प्रत्यक्ष उपलब्ध होता है। इसलिये ये तीनों साधन उस ज्ञानी में रहते हैं, ऐसा ज्ञान हो जाता है। उनमें श्रोत्रियत्व और पाप राहित्य ये दोनों साधन नियत हैं, किन्तु अकामहतत्व उत्कृष्ट है। अतएव उस ब्रह्मज्ञानी में प्रकृष्ट साधनता जान पड़ती है। उस ज्ञानी में अकामहतत्व के प्रकर्ष से ब्रह्म के आनन्द की श्रोत्रिय को प्रत्यक्ष उपलब्धि होती है। जिस परमानन्द की मात्रा अर्थात् एक देश ही है, ऐसा ही "इसी आनन्द की मात्रा को लेकर दूसरे सभी प्राणी जीवित हैं" ऐसा दूसरी श्रुति से

---

१. एते — पूर्वोक्ता इत्यर्थः। २. तन्निमित्तो यथोक्तानन्दहेतुभूत इत्यर्थः। ३. विषयं यथोक्तधर्मविषयम्।

स यश्चायं पुरुषे। यश्चासावादित्ये। स एकः। स य एवंवित्। अस्माल्लोकात्प्रेत्य। एतमन्नमय-मात्मानमुपसंक्रामति। एवं प्राणमयमात्मानमुप-संक्रामति। एतं मनोमयमात्मानमुपसंक्रामति। एतं

वह जो यह (पंचकोशात्मक देह रूप) पुरुष में है और जो वह आदित्य मण्डल में पुरुष है वह एक है। जो उक्त रीति से इस प्रकार जानता है वह (दृष्टादृष्ट विषय समुदाय रूप) इस लोक से निवृत्त होकर इस अन्नमय कोशरूप आत्मा को प्राप्त होता है (उसकी दृष्टि में सम्पूर्ण विषय समूह अन्नमय कोशस्वरूप है) इसी प्रकार क्रमशः वह साधक इस प्राणमय कोशरूप आत्मा को प्राप्त होता

समुद्राम्भस इव विप्रुषः प्रविभक्ता यत्रैकतां गता स एष परमानन्दः स्वाभाविकोऽद्वैत-त्वादानन्दानन्दिनोश्चाविभागोऽत्र।

तदेतन्मीमांसाफलमुपसंह्रियते —

स यश्चायं पुरुष इति। यो गुहायां निहितः परमे व्योम्न्याकाशादिकार्यं सृष्ट्वाऽन्नमयान्तं तदेवानुप्रविष्टः स य इति निर्दिश्यते। कोऽसावयं पुरुषे। यश्चासावादित्ये यः परमानन्दः श्रोत्रियप्रत्यक्षो निर्दिष्टो यस्यैकदेशं ब्रह्मादीनि भूतानि सुखार्हाण्युप-जीवन्ति स यश्चासावादित्य इति निर्दिश्यते। स एको [1]भिन्नप्रदेशस्थघटाकाशैकत्ववत्।

द्भेदप्राप्तिं निरस्यति — आनन्दानन्दिनोश्चेति। प्रत्यक्षत्वाभिधानमज्ञानसंशयादिव्यवधानाभावाभिप्रायं न तु विषयविषयिभावाभिप्रायम्। अदृश्येऽनात्म्य उदरमन्तरं कुरुत इत्यादिना निषेधादित्यर्थः।

मीमांसया निरतिशयानन्दं ब्रह्मास्तीति निर्धारितम्। तस्याकामहतप्रत्यक्षत्वाभिधानादभेदसिद्धिः। न हि परानन्दः परस्य प्रत्यक्षो भवति। तस्मान्निरतिशयानन्दब्रह्मैकत्वं जीवस्य ब्रह्मविदाप्नोति पर-

---

भी सिद्ध होता है। समुद्र जल के बिन्दु के समान जिस ब्रह्म का प्रविभक्त आनन्दलेश जहाँ एकता को प्राप्त हो गया हो, यह अद्वितीय होने के कारण स्वाभाविक परमानन्द है। यहाँ पर आनन्द का भोक्ता आनन्दी और उसके भोग्य आनन्द में विभाग नहीं रह जाता अर्थात् आनन्द और आनन्दी दोनों एक हो जाते हैं।

'स यश्चायं पुरुषे' इत्यादि वाक्य द्वारा उस आनन्द मीमांसा के फल का उपसंहार करते हैं। परमाकाश के भीतर बुद्धिरूप गुहा में रहकर जो अन्नमय पर्यन्त आकाशादि प्रपंच की सृष्टि करके उसमें अनुप्रविष्ट हो गया है, उसी का निर्देश "स यः" इस पद से किया जाता है। वह कौन है? यह पुरुष में विद्यमान है और जो वह श्रोत्रिय का प्रत्यक्ष परमानन्द आदित्य में बतलाया गया है, जिसके एक मात्रा आनन्द को लेकर ब्रह्मादि सभी प्राणी सुखी हो जीवित हैं; उसी का निर्देश "यश्चासावादित्ये" इस वाक्य के द्वारा किया गया है, वह एक है। जैसे भिन्न प्रदेश में स्थित घटाकाश

---

१. भिन्नेति — यथा भिन्नप्रदेशस्थघटयोराकाशस्यैकत्वं तद्वदित्यर्थः।

विज्ञानमयमात्मानमुपसंक्रामति। एतमानन्दमय-
मात्मानमुपसंक्रामति। तदप्येष श्लोको भवति।
इति कृष्णयजुर्वेदीयतैत्तिरीयोपनिषदि द्वितीये ब्रह्मवल्ल्यध्याये-
ऽष्टमोऽनुवाकः।।८।।

है। इस मनोमय कोशरूप आत्मा का उपसंक्रमण करता है। इस विज्ञानमय आत्मा को प्राप्त होता है एवं इस आनन्दमय कोशरूप आत्मा को प्राप्त होता है। उसी के विषय में यह मन्त्र है।।५।।
।।इत्यष्टमोऽनुवाकः।।

ननु तन्निर्देशे स यश्चायं पुरुष इत्यविशेषतोऽध्यात्मं न युक्तो निर्देशो 'यश्चायं दक्षिणेऽक्षन्निति तु युक्तः प्रसिद्धत्वात्। न पराधिकारात्। परो ह्यात्माऽत्राधिकृतोऽदृश्येऽनात्म्ये" (तै.उ. २-७) "भीषाऽस्माद्वातः पवते"(तै.उ. २-८)"सैषाऽऽनन्दस्य मीमांसेति"(तै.उ. २-८)। न ह्यकस्मादप्रकृतो युक्तो निर्देष्टुं परमात्मविज्ञानं च विवक्षितम्। तस्मात्पर एव निर्दिश्यते स एक इति। [१]नन्वानन्दस्य मीमांसा प्रकृता तस्या अपि फलमुपसंहर्तव्यम्। अभिन्नः स्वाभाविक आनन्दः परमात्मैव न विषयविषयिसंबन्धजनित इति। ननु तदनुरूप एवायं निर्देशः स यश्चायं पुरुषे

मित्युपक्रान्तं मीमांसया च सिद्धमुपसंह्रियत इत्यर्थः। [२]आदित्यग्रहणस्याऽऽधिदैविकोपाधिलक्षणार्थस्याविवक्षितत्वं दर्शयितुं चोद्यमुद्भावयति — नन्विति। "य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषो यश्चायं दक्षिणेऽक्षन्पुरुषः" इत्यादौ श्रुत्यन्तरे मण्डलस्थस्य दक्षिणाक्षिस्थेनैक्यस्य प्रसिद्धत्वादिहाप्यादित्यस्थेनैक्यनिर्देशे दक्षिणाक्षिग्रहणं युक्तमित्यर्थः। अध्यात्ममधिदैवतं च लिङ्गात्मोपासनविवक्षायां तथा स्यान्नेह तद्विवक्षितमित्याह — न परेति। य एव चिद्धातुर्निरतिशयानन्द उत्कृष्टोपाधौ प्रतिबिम्बितः स एव निकृष्टो-

---

और महाकाश में एकत्व है; वैसे ही पुरुष एवं आदित्यरूप भिन्न उपाधि में स्थित अखण्डघन चैतन्य आनन्दरूप ब्रह्म एक है। शंका :— अध्यात्म और अधिदैव में एक चैतन्य का निर्देश करने पर "स यश्चायं पुरुषे" ऐसा अविशेषरूप से अध्यात्म का निर्देश करना ठीक नहीं; किन्तु "यश्चायं दक्षिणेऽक्षन्" ऐसा निर्देश करना चाहिए क्योंकि अध्यात्म पुरुष दक्षिण नेत्र में प्रसिद्ध है। ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि परमात्मा का प्रसंग चल रहा है। "अदृश्येऽनात्म्ये" "भीषास्माद्वातः पवते" "सैषाऽऽनन्दस्य मीमांसा" इत्यादि वाक्यों से यहाँ पर परमात्मा का प्रसंग सिद्ध होता है। फिर अकस्मात् अप्रासंगिक अध्यात्म पुरुष का निर्देश मानना उचित नहीं। परमात्मतत्त्व का विज्ञान करना अभीष्ट है। अतः 'स एकः' इस वाक्य से परमात्मा ही निर्दिष्ट है। शंका :— आनन्द की मीमांसा का प्रसंग प्रारम्भ हुआ था, उसके फल का उपसंहार भी करना चाहिये। ठीक है, स्वाभाविक अभिन्न आनन्द परमात्मा ही तो है, वह विषय और विषयी के सम्बन्ध से उत्पन्न नहीं हुआ। इसीलिए तदनुरूप ही यहाँ पर निर्देश किया गया है। "स यश्चायं पुरुषे" "यश्चासावादित्ये" "स एकः" इन भिन्न अधिकरणों में स्थित भेद के

---

१. नन्विति — "प्रश्नावधारणानुज्ञाऽनुनयामन्त्रणे ननु" इति कोशादामन्त्रणार्थो ननुः। किंच भो इत्यर्थः। एवमनन्तरोऽपि। २. आदित्येति — आदित्यग्रहणस्य य आधिदैविकोपाधिलक्षणोऽर्थस्तस्येति व्यधिकरणे षष्ठ्यौ।

यश्चासावादित्ये स एक इति भिन्नाधिकरणस्थविशेषोपमर्देन। नन्वेवमप्यादित्यविशेष-ग्रहणमनर्थकम्। नानर्थकम्। उत्कर्षापकर्षापोहार्थत्वात्। [1]द्वैतस्य हि मूर्तामूर्तलक्षणस्य पर उत्कर्षः सवित्रभ्यन्तर्गतः स चेत्पुरुषगतविशेषोपमर्देन परमानन्दमपेक्ष्य समो भवति। न कश्चिदुत्कर्षोऽपकर्षो वा तां गतिं गतस्येत्यभयं प्रतिष्ठां विन्दत इत्युपपन्नम्

अस्ति नास्तीत्यनुप्रश्नो व्याख्यातः। कार्यरसलाभप्राणनाभयप्रतिष्ठाभयदर्शनोप-पत्तिभ्योऽस्त्येव तदाकाशादिकारणं ब्रह्मेत्यपाकृतोऽनुप्रश्न एकः, द्वावन्यावनुप्रश्नौ विद्वदविदुषोर्ब्रह्मप्राप्त्यप्राप्तिविषयौ तत्र विद्वान्समश्नुते न समश्नुत इत्यनुप्रश्नोऽन्त्य-स्तदपाकरणायोच्यते। मध्यमोऽनुप्रश्नोऽन्त्यापाकरणादेवापाकृत इति तदपाकरणाय न यत्यते।

स यः कश्चिदेवं यथोक्तं ब्रह्मोत्सृज्योत्कर्षापकर्षमद्वैतं सत्यं ज्ञानमनन्त-मस्मीत्येवं वेत्तीत्येवंवित्। एवंशब्दस्य प्रकृतपरामर्शार्थत्वात्। स किम्, अस्माल्लो-

---

पाधौ शिरःपाण्यादिमति पुरुषे प्रतिबिम्बित इति परमानन्दमपेक्ष्य समत्वं विशिष्टयोः स्वभावैक्यं विवक्षितमित्यर्थः।

वृत्तानुवादपूर्वकमुत्तरग्रन्थमवतारयति – अस्ति नास्तीति। [2]संदिग्धं सप्रयोजनं च विचारमर्हति।

उपमर्दन द्वारा अध्यात्म, अधिदैव उपाधि में आनन्द के एकत्व का निर्देश सर्वथा युक्त ही है। शंका :– इस प्रकार भी आदित्य विशेष का ग्रहण अनर्थ ही है (क्योंकि वह आनन्दरूप ब्रह्म सर्वत्र अभिन्न है)? आदित्य विशेष का ग्रहण अनर्थक नहीं है, वह तो उत्कर्ष और अपकर्ष हटाने के लिए है क्योंकि मूर्त – अमूर्तरूप द्वैत का जो सर्वश्रेष्ठ उत्कर्ष आदित्य के भीतर है, वह यदि पुरुषगत भेद के उपमर्दन से परमानन्द की अपेक्षा करके समान हो जाता है, तो उस अविशेष ब्रह्मरूप गति प्राप्त किये हुए पुरुष के लिए कोई उत्कर्ष – अपकर्ष नहीं रह जाता। इसलिए वह अभय प्रतिष्ठा को प्राप्त कर लेता है। ऐसा कहना युक्ति-युक्त हो जाता है।

'ब्रह्म है या नहीं है' इस अनुप्रश्न का उत्तर हो गया। कार्य और रस का लाभ प्राणनादि क्रिया, अभय प्रतिष्ठा और भय दर्शन, इन युक्तियों से निःसन्देह आकाशादि का कारण वह ब्रह्म है। इस प्रकार एक अनुप्रश्न का समाधान हो गया। विद्वान् और अविद्वान् को ब्रह्म की प्राप्ति एवं अप्राप्ति विषयक दो अनुप्रश्नों का उत्तर देना शेष है। उनमें विद्वान् ब्रह्म को प्राप्त करता है, या नहीं करता है; यही अन्तिम अनुप्रश्न है। उसके अपाकरण के लिए पृथक् प्रयत्न नहीं किया जाता है।

वह जो भी कोई पहले कहे गये उत्कर्ष – अपकर्ष को त्यागकर 'अद्वैत, सत्य, ज्ञान और अनन्त ब्रह्म मैं हूँ' इस प्रकार जानता है, उसी को 'स य एवंवित्' इस वाक्य द्वारा श्रुति बतला रही है, क्योंकि 'एवं' शब्द प्रसंगागत का ही परामर्श कराता है। वह क्या होता है? दृष्ट और अदृष्ट इष्ट विषयों

---

१. द्वैतस्य हीत्यादि – अत्रोक्तं वार्तिकटीकायां "भूतपञ्चकस्य प्रधानं कार्यं तद्गतेन लिङ्गेन सहादित्यमण्डल"-मित्यादि। 2. न यत्यत इत्यत्र व्यतिरेकमुखेन हेतुमाह – संदिग्धमित्यादिना।

कात्प्रेत्य दृष्टादृष्टेष्टविषयसमुदायो ह्ययं लोकस्तस्मादस्माल्लोकात्प्रेत्य प्रत्यावृत्य निरपेक्षो भूत्वैतं यथाव्याख्यातमन्नमयमात्मानमुपसंक्रामति विषयजातमन्नमयात्पिण्डात्मनो व्यतिरिक्तं न पश्यति सर्वं स्थूलभूतमन्नमयमात्मानं पश्यतीत्यर्थः। ततोऽभ्यन्तरमेतं प्राणमयं सर्वान्नमयात्मस्थमविभक्तम्। अथैतं मनोमयं विज्ञानमयमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रामति।

अथादृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते। तत्रैतच्चिन्त्यम्। कोऽयमेवंवित्कथं वा संक्रामतीति। किं परस्मादात्मनोऽन्यः संक्रमणकर्ता प्रविभक्त उत स एवेति। किं ततः, यद्यन्यः स्याच्छ्रुतिविरोधः। "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्" (तै.उ. २-६) "अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद" (बृ.उ. १-४-१०) "एकमेवाद्वितीयम्" (छा.उ. ६-२-१) "तत्त्वमसि" इति। (छा.उ. ६-८-७) अथ स एवाऽऽनन्दमयमात्मानमुपसंक्रामतीति, कर्मकर्तृत्वानुपपत्तिः। परस्यैव च संसारित्वं पराभावो वा। यद्युभयथा प्राप्तो दोषो न परिहर्तुं शक्यत इति व्यर्था चिन्ता। अथान्यतरस्मिन्पक्षे दोषाप्राप्तिस्तृतीये वा पक्षेऽदुष्टे स एव शास्त्रार्थ इति व्यर्थैव चिन्ता, न, तन्निर्धारणार्थत्वात्। सत्यं प्राप्तो दोषो न शक्यः परिहर्तुमन्यतरस्मिंस्तृतीये वा पक्षेऽदुष्टेऽवधृते व्यर्था चिन्ता स्यान्न तु सोऽवधृत इति तदवधारणार्थत्वादर्थ-

---

अत्र च कस्मिन्पक्षे को दोषः को वा लाभ इत्याह - किं तत इति। उभयत्रानुपपत्तिं संशयकारणमाह — यद्यन्यः स्यादिति। चोद्यमुखेन संशयव्यावृत्तिं प्रयोजनमाह - यद्युभयथेत्यादिना। एतदेव मम विचारा-

---

के समुदाय को 'अयं' पद से कहा गया है। यह तत्त्ववित् ऐसे लोक से निरपेक्ष होकर पूर्व व्याख्यात अन्नमय आत्मा को उपसंक्रमण कर लेता है; अर्थात् अन्नमय पिण्ड आत्मा से पृथक् विषय समुदाय नहीं देखता है। सम्पूर्ण स्थूल पदार्थ को अन्नमय आत्मरूप से देखता है एवं उसके भीतर सभी अन्नमय आत्मा में विभाग रहित इस प्राणमय आत्मा का उपसंक्रमण करता है। इसके बाद क्रमशः इस मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय आत्मा के साथ तादात्म्य प्राप्त करता है।

तत्पश्चात् "अदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयने ब्रह्मणि" प्रतिष्ठा को प्राप्त करता है। वहाँ पर यह विचार करना आवश्यक हो जाता है कि यह 'एवंवित्' कौन है और किस प्रकार पूर्वोक्त आत्मा का संक्रमण करता है? क्या संक्रमणकर्ता पुरुष परमात्मा से सर्वथा भिन्न है या परमात्मास्वरूप ही है? उससे क्या लाभ? यदि भिन्न है तो "उसकी सृष्टि कर उसमें अनुप्रविष्ट हो गया" "वह अन्य है, मैं अन्य हूँ ऐसा समझने वाला वस्तुतत्त्व को नहीं जानता" "एक अद्वितीय ब्रह्म ही है" "वह तुम हो" इन श्रुतियों के साथ विरोध आने लग जायगा और यदि कहो कि वह परमात्मा ही आनन्दमय आत्मा को प्राप्त करता है, तो एक ही में कर्मत्व-कर्तृत्व मानना उचित नहीं होगा। साथ ही परमेश्वर में संसारित्व आ जायगा अथवा परमात्मा का अभाव हो जायगा। यदि उभय प्रकार से प्राप्त दोष का परिहार नहीं कर सकते, तो चिन्ता व्यर्थ है और यदि इन दोनों में से किसी एक पक्ष में दोष की प्राप्ति नहीं है अथवा इनसे भिन्न किसी निर्दुष्ट तृतीयपक्ष में दोष की अप्राप्ति है तो वही शास्त्र का तात्पर्य अर्थ माना जाता है। अतः चिन्ता व्यर्थ ही है। समाधान :-ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि उसी निर्दुष्ट पक्ष निश्चय के लिए चिन्ता की जा रही है। यह ठीक है कि पूर्वोक्त दोनों पक्षों में से किसी एक

वत्येवैषा चिन्ता। सत्यमर्थवती चिन्ता। शास्त्रार्थवधारणार्थत्वात्। चिन्तयसि च त्वं न तु निर्णेष्यसि, किं न निर्णेतव्यमिति वेदवचनं, न, कथं तर्हि बहुप्रतिपक्षत्वादेकत्ववादी त्वं, वेदार्थपरत्वात्। बहवो हि नानात्ववादिनो वेदबाह्यास्त्वत्प्रतिपक्षाः। अतो ममाऽऽशङ्कां न निर्णेष्यसीत्येतदेव मे स्वस्त्ययनं यन्मामेकयोगिनमनेकयोगिबहुप्रतिपक्षमात्थ। अतो जेष्यामि सर्वानारभे च चिन्ताम्।

स एव तु स्यात्तद्भावस्य विवक्षितत्वात्। तद्विज्ञानेन परमात्मभावो ह्यत्र विवक्षितो ब्रह्मविदाप्नोति परमिति। न ह्यन्यस्यान्यभावापत्तिरुपपद्यते। ननु तस्यापि तद्भावापत्तिरनुपपन्नैव। न। अविद्याकृततादात्म्यापोहार्थत्वात्। या हि ब्रह्मविद्यया स्वात्मप्राप्तिरुपदिश्यते साऽविद्याकृतस्यान्नमयादिविशेषात्मन आत्मत्वेनाध्या-

---

रम्भकस्य स्वस्त्ययनं कल्याणं यन्मामेकत्ववादिनं त्वमात्थ ब्रूषेऽविप्रतिपन्नवस्तुवादित्वादनेकत्ववादिनोऽप्येकस्य वस्तुनः संमतत्वादनेकवस्तुवादिनश्च बहवः प्रतिपक्षाः सन्ति ममेत्य[1]र्थतोऽपि कल्याण-[2]मनेकत्वस्यान्योन्याश्रयादिदोषदुष्टत्वात्पूर्वपक्षनिराकरणेन सिद्धान्तोपपत्तेश्चेत्यर्थः।

विचारारम्भमुपपाद्य सिद्धान्तमुपक्रमते — स एव तु स्यादिति। औपाधिकभेदभिन्नोऽप्येवंवित्स्वतः पर एव स्यादित्यर्थः। अविद्याध्यारोपिताब्रह्मत्वव्यावृत्तिरेव ब्रह्मप्राप्तिर्विवक्षितेति [3]फलवाक्य-

---

पक्ष में प्राप्त दोष का परिहार न किया जा सके अथवा इनसे भिन्न तृतीय पक्ष का निश्चय हो जाये तो यह चिन्ता व्यर्थ हो जाय; किन्तु अभी तक निश्चय नहीं हुआ है। उसी के निश्चय के लिए यह चिन्ता सार्थक है। पूर्वपक्ष :— ठीक है, चिन्ता सार्थक हो सकती थी, यदि इस चिन्ता से शास्त्र के तात्पर्य का निश्चय हो सके तो, चिन्तन करते हो; किन्तु निर्णय नहीं कर सकोगे। समाधान :— क्या निर्णय नहीं हो सकता, यह वेदवाक्य है? पूर्वपक्ष, नहीं। सिद्धान्ती :— तो फिर कैसे कह रहे हो? पूर्वपक्ष :— क्योंकि प्रतिपक्षी बहुत हैं। वेदार्थ - परक होने से तुम एकत्ववादी हो और तुम्हारे विरोधी वेद बाह्य भेदवादी बहुत से हैं। इसलिये मेरी शंका का निर्णय नहीं कर सकोगे। सिद्धान्ती :— यही मेरे कल्याण का मार्ग है कि मुझे तुम अनेक भेदवादी बहुत प्रतिपक्ष वाले एक योगी कहते हो। अतः सब को मैं जीतूँगा और अब मैं चिन्ता प्रारम्भ करता हूँ।

किन्तु होगा वही क्योंकि परमात्मतत्त्व को बतलाना ही अभीष्ट है। उसी के विज्ञान से "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" इस श्रुतिवाक्य द्वारा यहाँ पर परमात्मभाव बतलाना अभीष्ट है। यदि संक्रमण कर्ता और संक्रमण योग्य आत्मा भिन्न हो तो अन्य की अन्य भावापत्ति उचित नहीं हैं, तो एक मानने पर वह एक ही तद्भाव को प्राप्त करता है, ऐसा कहना भी तो असंगत ही है। ऐसा मानना ठीक नहीं; अविद्याकृत अनात्मा को हटाने के लिए तद्भावापत्ति कही गयी है क्योंकि ब्रह्मविद्या द्वारा अपने स्वरूप प्राप्ति का उपदेश जो किया गया है, वह अविद्या के कारण अन्नमयादि विशेष

---

१. अर्थतोऽपीत्यपिना त्वमेकत्ववाद्यसीति शब्दस्यापि मङ्गलरूपत्वं ध्वन्यते। २. अनेकत्वं नानात्वं भेदस्तद्ग्रहो धर्मिप्रतियोगिग्रहाधीनस्तयोश्च ग्रहो नान्तरेण भेदग्रहं संभवतीत्याशयेनाह — अनेकत्वस्येत्यादि। ३. फलवाक्यस्य — "ब्रह्मविदाप्नोति परमि"त्येतस्य।

रोपितस्यानात्मनोऽपोहार्थ। कथमेवमर्थताऽवगम्यते विद्यामात्रोपदेशात्। विद्यायाश्च दृष्टं कार्यमविद्यानिवृत्तिस्तच्चेह विद्यामात्रमात्मप्राप्तौ साधनमुपदिश्यते। मार्गविज्ञानोपदेशवदिति चेत्तदात्मत्वे विद्यामात्रसाधनोपदेशोऽहेतुः। कस्मात्। देशान्तरप्राप्तौ मार्गविज्ञानोपदेशदर्शनात्। न हि ग्राम एव गन्तेति चेत्। न, वैधर्म्यात्। तत्र हि ग्रामविषयं विज्ञानं नोपदिश्यते तत्प्राप्तिमार्गविषयमेवोपदिश्यते विज्ञानं न तथेह ब्रह्मविज्ञानव्यतिरेकेण साधनान्तरविषयं विज्ञानमुपदिश्यते। उक्तकर्मादिसाधनापेक्षं ब्रह्मविज्ञानं परप्राप्तौ साधनमुपदिश्यत इति चेत्। न। नित्यत्वान्मोक्षस्येत्यादिना प्रत्युक्तत्वात्। श्रुतिश्च "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशदि"ति (तै.उ. २-६) कार्यस्थस्य तदात्मत्वं दर्शयति। अभयप्रतिष्ठोपपत्तेश्च यदि हि विद्यावान्स्वात्मनोऽन्यत्र पश्यति ततो"ऽभयं प्रतिष्ठां विन्दत" (तै.उ. २-७) इति स्याद्भयहेतोः परस्यान्यस्याभावात्।

अन्यस्य चाविद्याकृतत्वे विद्ययाऽवस्तुत्वदर्शनोपपत्तिस्तद्धि द्वितीयस्य चन्द्रस्य सत्त्वं

स्यैवमर्थता कथमवगम्यते न पुनरप्राप्तप्राप्तिरित्याह — कथमिति। परिहरति — विद्यामात्रेति। अन्यथाऽप्युपपत्तिं शङ्कते — मार्गेति। गन्तुः स्वतो ग्रामत्वाभावेऽपि यथा मार्गज्ञानोपदेशः सार्थकस्तथा जीवस्य स्वतो ब्रह्मत्वाभावेऽपिविद्योपदेशोऽभ्यासद्वारेण ब्रह्मप्राप्तिहेतुत्वादित्यर्थः। त्वं ग्रामोऽसीति न तत्रोपदेशः। अत्राभेदोपदेशः प्रतीयतेऽत उपदेशवैषम्यान्न दृष्टान्तो युक्त इत्याह — न वैधर्म्यादिति।

यदि विदुषः सकाशादन्य ईश्वरा भयहेतुर्नास्ति का तर्हि गतिर्व्यतिरिक्तेश्वरदर्शनस्येत्याशङ्क्याऽऽह — अन्यस्य चेति। कल्पितभेदविशिष्टरूपेणेश्वरस्याविद्याकृतत्वे मिथ्यात्वे सति विद्यया तत्रा-

---

आत्मा को आत्मभाव से अध्यारोपित अनात्मा को हटाने के लिए ही है। शंका :- ऐसा अर्थ आपको कैसे मालूम पड़ा? क्योंकि विद्यामात्र का उपदेश यहाँ पर हो गया है। अविद्या निवृत्ति विद्या का फल देखा गया है। आत्मा की प्राप्ति में केवल ब्रह्मविद्या को ही साधन कहा गया है। मार्ग विज्ञान उपदेश की भाँति आत्मा की प्राप्ति के लिए ब्रह्मविद्या का उपदेश है। ऐसा यदि कहो तो ठीक नहीं क्योंकि ऐसी स्थिति में विद्यामात्र साधन का उपदेश हेतु नहीं बन सकती। कैसे? देशान्तर की प्राप्ति में मार्ग विज्ञान का उपदेश देखा जाता है। तो फिर ग्राम ही गन्ता है ऐसा मान लिया जाय तो? ऐसा कहना भी ठीक नहीं क्योंकि दृष्टान्त-दार्ष्टान्त में विलक्षणता है। दृष्टान्त में ग्राम विषयक विज्ञान का उपदेश नहीं किया जाता; किन्तु ग्राम प्राप्ति के लिए मार्ग विषयक विज्ञान का ही उपदेश होता है। वैसे ही वहाँ पर ब्रह्मविज्ञान से भिन्न साधनान्तर ब्रह्म विषयक विज्ञान का उपदेश नहीं किया जाता। शंका :— परमेश्वर की प्राप्ति में पूर्वोक्त कर्मादि साधन सापेक्ष ब्रह्म विज्ञान को साधनरूप से कहा गया है, ऐसा यदि माना जाय तो? ऐसा कहना ठीक नहीं, 'मोक्ष नित्य है' इत्यादि वाक्य द्वारा उक्त समुच्चय पक्ष का खण्डन हो चुका है। "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्" इत्यादि श्रुति कार्य में परमात्मरूपता दिखलाती है, साथ ही अभय प्रतिष्ठा की प्राप्ति भी कही गयी है। यदि ज्ञानी अपने से भिन्न को नहीं देखता, वह अभय प्रतिष्ठा को प्राप्तकर लेता है क्योंकि उस स्थिति में भय का कारण अपने से भिन्न परमात्मा का अभाव हो गया है।

यदतैमिरिकेण चक्षुष्मता न गृह्यते नैवं न गृह्यत इति चेन्न सुप्तसमाहितयोरग्रहणात्। सुषुप्तेऽग्रहणमन्यासक्तवदिति चेत्। न। सर्वाग्रहणात्। जाग्रत्स्वप्नयोरन्यस्य ग्रहणात्सत्त्वमेवेति चेत्। न। अविद्याकृतत्वाज्जाग्रत्स्वप्नयोर्यदन्यग्रहणं जाग्रत्स्वप्नयोस्तदविद्याकृतमविद्याभावेऽभावात्।

सुषुप्तेऽग्रहणमप्यविद्याकृतमिति चेत्। न। स्वाभाविकत्वात्। द्रव्यस्य हि

वस्तुत्वदर्शनमुपपद्यते। ईश्वरो मम प्रशास्तेति मिथ्यैतद्यतस्तस्य मम चैकात्म्यमेव परमार्थमिति विद्वद्दृष्ट्या विशिष्टस्यासत्त्वमित्यर्थः। दृष्टान्तेन वैषम्यं शङ्कते — नैवमिति। यथा चन्द्रैकत्वदर्शनाद्द्वितीयश्चन्द्रो न गृह्यते नैवं ब्रह्मविदा न गृह्यते व्यतिरिक्तेश्वरः। प्रतिनियतप्रपञ्चावभासस्य भोजनादिप्रवृत्त्यनुपपत्त्या जीवन्मुक्तस्याप्यभ्युपगमात्प्रपञ्चप्रतिनियमस्य चेश्वराधीनत्वाभ्युपगमादित्यर्थः। यद्यपि जागरे व्यतिरेकाभासदर्शनं विदुषस्तथाऽपि न तद्भयकारणं न हि मायावी स्वविरचितव्याघ्राभासाद्बिभेति। अविदुषोऽपि व्यतिरेकदर्शनं न सदातनमित्याह —न सुप्तेति। सुषुप्ते व्यतिरेकाग्रहणमसत्त्वसाधकं न भवतीत्याह —सुषुप्त इति। यथेषुकार इष्वासक्तमनस्तया तद्व्यतिरिक्तं विद्यमानमपि न पश्यति तथा सुषुप्तेऽपि निरायाससुखासक्ततया सदपि तृतीयं न पश्यति न त्वभावादित्यर्थः। अन्यासक्तस्य तद्व्यतिरिक्तादर्शनेऽपि तद्दर्शनमेवास्ति सुषुप्ते तु न किंचिदज्ञासिषमिति प्रत्ययात्सुखस्याप्यात्मतादात्म्यादज्ञानस्य च व्यतिरिक्तत्वानिर्वचनादतस्तात्त्विकद्वितीयाभावादेवाग्रहणमित्याह — न सर्वाग्रहणादिति। सुषुप्ते चेदनुपलम्भादसत्त्वं तर्हि जाग्रत्स्वप्नयोरुपलम्भाद्द्वैतस्य सत्त्वं किं न स्यादित्याह— जाग्रदिति। अनात्मादावात्मत्वादिबुद्धिरविद्या तद्भाव एव द्वैतोपलम्भान्नोपलम्भमात्रं सत्त्वसाधकमन्यथा शुक्तिरूप्यादेरपि सत्त्वप्रसङ्गादित्याह — नाविद्येति।

पूर्ववाद्याह — सुषुप्त इति। सुषुप्ते द्वितीयस्याग्रहणमपि लयरूपाविद्याकृतं न तु भेदाभावनिबन्धनमतो यदुक्तं सुषुप्ते सर्वात्मकब्रह्मभूतो जीवः स्वव्यतिरिक्तमभावादेव न पश्यतीति तदसदित्यर्थः। सतोऽपि द्वितीयस्याविद्यावशादग्रहणमिति कोऽर्थः। किं ग्रहणप्रागभावो जायत उताप्रकाशारोपः किंवाऽग्रहणाकाराविकृतस्वरूपावस्थानम्। नाऽऽद्यः। प्रागभावस्यानादित्वाभ्युपगमात्। न द्वितीयः। परैर्द्वितीयस्यास्वप्रकाशतास्वाभाव्याभ्युपगमेनाप्रकाशारोपानभ्युपगमादप्रकाशारोपे च सर्वस्य स्वप्रकाशब्रह्मात्मताया अभ्युपगन्तव्यत्वेनास्मत्समीहितसिद्धिप्रसङ्गात्। न द्वितीय इत्याह — न स्वाभाविकत्वादिति। अविकृतस्वरूपावस्थानं नाविद्याकार्यमनागन्तुकत्वादित्यर्थः। एतत्स्फुटयति — द्रव्यस्य हीत्या-

---

भेद अविद्याकृत है, विद्या द्वारा उसमें मिथ्यात्व दर्शन हो जाता है क्योंकि तिमिर दोष के कारण दीखने वाले अद्वितीय चन्द्र में तिमिर दोष रहित नेत्र से असत्यत्व का ग्रहण हो ही जाता है। इस प्रकार ऐसा ग्रहण नहीं होता है। यदि ऐसा कहो तो ऐसा कहना ठीक नहीं सुषुप्त और समाहित पुरुष को द्वैत का दर्शन नहीं होता है। यदि कहो कि अन्य किसी वस्तु में आसक्त व्यक्ति को जैसे समीपस्थ पदार्थ का ज्ञान नहीं होता ऐसे ही सुषुप्त में द्वैत का ग्रहण नहीं होता? तो ऐसा कहना भी ठीक नहीं क्योंकि सुषुप्त पुरुष को सम्पूर्ण द्वैत का अग्रहण होता है। यदि कहो जाग्रत् और स्वप्न में भेद की प्रतीति होने से द्वैत की सत्ता माननी पड़ेगी? वैसा कहना ठीक नहीं क्योंकि जाग्रत् और स्वप्न अविद्याकृत है; अर्थात् जाग्रत् और स्वप्न में जो द्वैत भासता है, वह अविद्या है। इसलिये ब्रह्मज्ञान होते ही इनका अभाव हो जाता है।

तत्त्वमविक्रिया परानपेक्षत्वाद्विक्रिया न तत्त्वं परापेक्षत्वात्। न हि कारकापेक्षं वस्तुनस्तत्त्वं सतो विशेषः कारकापेक्षो विशेषश्च विक्रिया। जाग्रत्स्वप्नयोश्च ग्रहणं विशेषः। यद्धि यस्य नान्यापेक्षं स्वरूपं तत्तस्य तत्त्वं यदन्यापेक्षं न तत्तत्त्वम्। अन्याभावेऽभावात्। तस्मात्स्वाभाविकत्वाज्जाग्रत्स्वप्नवन्न सुषुप्ते विशेषः।

येषां पुनरीश्वरोऽन्य आत्मनः, कार्यं चान्यत्तेषां भयानिवृत्तिर्भयस्यान्यनिमित्तत्वात्सतश्चान्यस्याऽऽत्महानानुपपत्तिः। न चासत आत्मलाभः। सापेक्षस्यान्यस्य भयहेतुत्वमिति चेन्न तस्यापि तुल्यत्वात्। यदधर्माद्यनुसहायीभूतं नित्यमनित्यं वा निमित्तमपेक्ष्यान्यद्भयकारणं स्यात्त (त्, न, त) स्यापि तथाभूतस्याऽऽत्महानाभावाद्भयानिवृत्तिरा-

---

दिना। सन्मात्रं द्रव्यमुच्यते स्वातन्त्र्यसिद्ध्यभिप्रायेण न वैशेषिकाभिप्रायेण क्रियावद्गुणवत्समवायिकारणं द्रव्यं [1]मानाभावादिति द्रष्टव्यम्। अविक्रियेति। विक्रियाभावोपलक्ष्यं स्वरूपमनपेक्ष्य सिद्धत्वादित्यर्थः। ग्रहणादिविक्रिया न स्वाभाविकी परापेक्षत्वात्स्फटिकलौहित्यवदित्यर्थः। यदुक्तमनपेक्ष्य सिद्धत्वाद[2]विक्रियत्वमिति तत्स्फुटयति — यद्धीति।

एवं स्वमते चित्सत्ताव्यतिरिक्तेश्वरस्य भयहेतोरभावादभयं विदुषः संभवतीत्युपपाद्य द्वैतीयपक्षे तदसंभवमाह — येषामिति। सतोऽन्यस्य स्वरूपे स्थिते नष्टे वा मा भूद्ध्वंसो व्याघाताद[3]नवस्थानाच्च। तर्ह्यसत एव भयस्योत्पादेऽभयप्राप्तिर्भविष्यतीत्याशङ्क्याऽऽह — न चासत इति। व्यतिरिक्तेश्वरस्य सत्तामात्रेण न भयहेतुत्वं किंतु प्राणिकृतधर्माधर्माद्यपेक्षस्य मुक्तस्य तु तदभावादभयं भविष्यतीत्याशङ्क्य नैतत्सांख्येन वाच्यम्। अधर्मादेरपि सतस्तेनात्यन्तासत्त्वानङ्गीकारान्नैयायिकादिमतेऽपि सति हेतौ कार्यात्यन्ताभावस्य दुरवधारणत्वात्तेनापि न वाच्यमित्याह — न तस्यापीति। किंच सच्चेदसत्त्व-

---

यदि कहो कि सुषुप्त पुरुष में द्वैत का अग्रहण भी अविद्या के कारण ही है, तो वैसा कहना ठीक नहीं क्योंकि द्वैत का अग्रहंण स्वाभाविक है। द्रव्य का वास्तविक स्वरूप है, अविक्रिया। उसमें दूसरे की अपेक्षा नहीं होती और जिसमें दूसरे की अपेक्षा होती है, वह विक्रिया वस्तु का वास्तविक स्वरूप नहीं होता। कारक की अपेक्षा से होने वाला रूप वस्तु का तात्त्विक नहीं होता; सत् में विशेष तो कारक की अपेक्षा से होता है और वह विशेष विकार है। वही विशेष जाग्रत् स्वप्न में गृहीत होता है; किन्तु जिसका जो स्वरूप अन्य की अपेक्षा से नहीं होता, वह उसका तात्त्विक रूप माना जाता है और जो अन्य की अपेक्षा से होता है, वह तात्त्विक नहीं होता क्योंकि अन्य के अभाव होते ही उसका भी अभाव हो जाता है। अतः सुषुप्त में जो जाग्रत् और स्वप्न की भाँति भेद का ग्रहण नहीं होता है; वह अग्रहण स्वाभाविक ही है न कि अविद्याकृत है।

जिनके मत में आत्मा से ईश्वर भिन्न है और कार्य जगत् आत्मा से भिन्न है। उनके मत में भय की निवृत्ति हो नहीं सकती क्योंकि भय सदा भेद निमित्तक होता है। न पारमार्थिक भेद का स्वरूप नष्ट हो सकता है और न असत् का आत्मलाभ ही होता है। यदि कहो कि सापेक्ष द्वैत में भय हेतुत्व है, तो ऐसा कहना भी ठीक नहीं क्योंकि द्वैत में भय हेतुत्व समान ही है। धर्मादि अनुसहायरूप निमित्त नित्य हो अथवा अनित्य हो, उसकी अपेक्षा से होने वाला द्वैत भय का कारण अवश्य होगा

---

१. मानाभावादिति — आत्मनो द्रव्यत्वेऽपि क्रियादिमत्त्वे निर्गुणं निष्क्रियमित्यादिश्रुतिविरोधेन प्रत्यक्षादेरमानत्वादित्यर्थः। २. अविक्रियत्वं तत्त्वमिति शेषः। ३. अनवस्थानादिति — एकनाशार्थमपरनाशापेक्षणादिति भावः।

त्महाने वा सदसतोरितरेतरापत्तौ [1]सर्वत्रानाश्वास एव।

एकत्वपक्षे पुनः सनिमित्तस्य संसारस्याविद्याकल्पितत्वाददोषः। तैमिरिकदृष्टस्य हि द्वितीयचन्द्रस्य नाऽऽत्मलाभो नाशो वाऽस्ति। विद्याविद्ययोस्तद्धर्मत्वमिति चेन्न प्रत्यक्षत्वात्। विवेकाविवेकौ रूपादिवत्प्रत्यक्षावुपलभ्येते अन्तःकरणस्थौ। न हि रूपस्य प्रत्यक्षस्य सतो द्रष्टृधर्मत्वम्। अविद्या च स्वानुभवेन निरूप्यते मूढोऽहमविविक्तं मम विज्ञानमिति। तथा विद्याविवेकोऽनुभूयते। उपदिशन्ति चान्येभ्य आत्मनो विद्यां बुधाः। तथा चान्येऽवधारयन्ति तस्मान्नामरूपपक्षस्यैव विद्याविद्ये च; नामरूपे नाऽऽत्मधर्मौ। "नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद्ब्रह्म" इति श्रुत्यन्तरात्। ते च पुनर्नामरूपे सवि-

---

मापद्यतेऽधर्मादिकं तर्ह्यात्मन्यपि कः प्रश्वासस्तस्मात्स्वभाववैपरीत्यं सतोऽसत्त्वगमनं कस्यापि मते न घटत इत्याह — सदसतोरिति।

स्वमतं निगमयति — एकत्वपक्ष इति। अविद्याकल्पितं भयं विद्यया निवर्तत इति वदता विद्याविद्ययो[2]रात्मधर्मत्वमिष्टं ततो धर्मोत्पादविनाशयोर्विकारित्वमनित्यत्वं च प्रसज्यतेति शङ्कते-विद्याविद्ययोरिति। [3]कल्पितयोर्विद्याविद्ययोरात्मनि भयाभयहेतुत्वसंभवान्नाऽऽत्मधर्मत्वे प्रमाणमस्ति प्रत्युत वेद्यत्वाद्रूपादिवदात्मधर्मत्वं नास्तीत्यनुमातुंशक्यत इत्याह — न प्रत्यक्षत्वादिति। चिन्मात्रतन्त्राऽनादिरनिर्वाच्या-ऽविद्याऽन्तःकरणरूपेण परिणमते तच्चान्तःकरणं तामससात्त्विकावस्थाभेदेन भ्रान्तिसम्यग्ज्ञानाकारेण परिणमते तस्मिन्प्रतिबिम्बितश्चिद्धातुः स्वोपाधिधर्मेणैव भ्रान्तः सम्यग्दर्शीति च व्यवह्रियते न तत्त्वतो विद्याविद्यावत्त्वमित्याह — ते च पुनरिति। उक्तन्यायेन ब्रह्मवित्तत्त्वतो ब्रह्माभिन्न इत्युक्तम्। तत्र परोक्त-

---

क्योंकि तथा-भूत पदार्थ का स्वरूप नष्ट न होने से भय की निवृत्ति सम्भव नहीं और उसका स्वरूप नष्ट होने पर सत् और असत् में कोई भेद न रहने पर सर्वत्र अनाश्वास होने लगेगा।

पर एकत्व पक्ष में यह दोष नहीं है क्योंकि निमित्त के सहित संसार एकत्व पक्ष में अविद्या कल्पित माना गया है। तिमिर दोष वाले पुरुष से देखे गये द्वितीय चन्द्र का न तो स्वरूप लाभ होता है और न उसका नाश ही होता है। यदि कहो कि विद्या और अविद्या दोनों ही चेतन ब्रह्म के धर्म हैं, तो ऐसा कहना भी ठीक नहीं क्योंकि उनका प्रत्यक्ष होता है। रूपादि के समान विवेक और अविवेक दोनों प्रत्यक्ष उपलब्ध होते हैं, जो अन्तःकरण में स्थित हैं क्योंकि प्रत्यक्ष देखने वाला सत्यरूप द्रष्टा का धर्म नहीं हो सकता और अविद्या स्वानुभव से जानी जाती है। मैं मूढ़ हूँ, मेरा विज्ञान अविविक्त है, वैसे विद्या का विवेक भी अनुभव सिद्ध है क्योंकि ज्ञानी लोग अपने से भिन्न व्यक्ति को उपदेश करते हैं। वैसे ही दूसरे लोग उसका अवधारण करते हैं। अतः विद्या और अविद्या तथा नाम एवं रूप नामरूपात्मक जगदन्तःपाती ही है। आत्मा के धर्म ये सब नहीं हैं। ऐसी ही "नामरूप का निर्वाहक है तथा उनके भीतर रहता है, वह ब्रह्म है" दूसरी श्रुति भी है और वे नामरूप सूर्य में दिन - रात

---

१. "सर्वत्रानाश्वास एव त्वत्पक्षे" इति क्वचित्पाठः। २. आत्मधर्मत्वमिष्टमिति — भयादिकार्यस्यात्मन्येवा-भिधित्सितत्वात् कार्यकारणयोश्च सामानाधिकरण्यनियमादिति भावः। ३. कल्पितयोरित्यादि — तयोः सामाना-धिकरण्यमात्रमपेक्षितं न तु धर्मत्वमपि तच्च न कल्पितयोरप्यनुपपन्नमिति भावः।

तर्यहोरात्रे इव कल्पिते न परमार्थतो विद्यमाने। अभेदे "एतमानन्दमयमात्मानमुपसं-क्रामति" इति कर्मकर्तृत्वानुपपत्तिरिति चेन्न। विज्ञानमात्रत्वात्संक्रमणस्य। न जलू-कादिवत्संक्रमणमिहोपदिश्यते किं तर्हि विज्ञानमात्रं संक्रमणश्रुतेरर्थः।

ननु मुख्यमेव संक्रमणं श्रूयत उपसंक्रामती (ती) ति चेत्। न। अन्नमयेऽदर्शनात्। न ह्यन्नमयमुपसंक्रामतो बाह्यादस्माल्लोकाज्जलूकावत्संक्रमणं दृश्यतेऽन्यथा वा। मनो-मयस्य बहिर्निर्गतस्य विज्ञानमयस्य वा पुनः प्रत्यावृत्त्याऽऽत्मसंक्रमणमिति चेत्। न। स्वात्मनि क्रियाविरोधादन्योऽन्नमयमन्यमुपसंक्रामतीति प्रकृत्य मनोमयो विज्ञानमयो वा स्वात्मानमेवोपसंक्रामतीति विरोधः स्यात्। तथा नाऽऽनन्दमयस्याऽऽत्मसंक्रमणमुप-पद्यते। तस्मान्न प्राप्तिः संक्रमणं नाप्यन्नमयादीनामन्यतमकर्तृकं पारिशेष्यादन्नमया-द्यानन्दमयान्तात्मव्यतिरिक्तकर्तृकं ज्ञानमात्रं च संक्रमणमुपपद्यते। ज्ञानमात्रत्वे चाऽऽन-न्दमयान्तःस्थस्यैव सर्वान्तरस्याऽऽकाशाद्यन्नमयान्तं कार्यं सृष्ट्वाऽनुप्रविष्टस्य हृदयगुहाभि-

---

मुद्भाव्य निरस्यति — अभेदे, एतमित्यादिना। नाऽऽनन्दमयः परमात्मा न च तत्र प्रवेशः संक्रमणं किंत्वविषयब्रह्मात्मताज्ञानेना ऽऽनन्दमयस्याऽऽत्मतया भ्रान्तिगृहीतस्यातिक्रमणं बाधोऽत्र विवक्षित इत्यर्थः।

अन्यथा वेति। नीडे पक्षिप्रवेशवद्वेत्यर्थः। यद्यप्यन्नमये मुख्यं संक्रमणं न संभवति तथाऽपि मनोबुद्ध्योर्बहिर्विषये प्रवृत्तयोस्ततो व्यावृत्त्य स्वरूपेऽवस्थानं संक्रमणं दृष्टं तथा दुःखिन आनन्दमयस्य स्वरूपेऽवस्थानं संक्रमणं भविष्यतीत्याह — मनोमयस्येति। स्वरूपावस्थानागन्तुकत्वात्प्रक्रमविरोधाच्च न तन्मुख्यं संक्रमणमित्याह — नेति। ज्ञानमात्रत्वे वा संक्रमणस्य किं फलतीत्यत आह — ज्ञानमात्रत्वे

कल्पना की भाँति ब्रह्म में कल्पित हैं, परमार्थतः नहीं है। पूर्वपक्ष :— अभेदवाद में "इस आनन्दमय आत्मा को साधक प्राप्त करता है" इस श्रुति के अनुसार कर्मत्व कर्तृत्व का विरोध तो बना ही रहेगा। ऐसा यदि कहें, तो ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि तृणजलूका की भाँति यहाँ पर संक्रमण का उपदेश नहीं है; किन्तु उक्त संक्रमण श्रुति का अर्थ विज्ञानमात्र ही है।

यदि कहो कि 'उपसंक्रामति' इस श्रुति में मुख्य संक्रमण ही सुना जाता है, तो ऐसा कहना भी ठीक नहीं क्योंकि अन्नमय आत्मा में मुख्य संक्रमण नहीं देखा जाता है। जैसे जलूका कीट तृण को संक्रमण करता है, वैसा इस बाह्यलोक से अन्नमय आत्मा को उपसंक्रमण करने वाले में संक्रमण दिखायी नहीं पड़ता और न किसी और प्रकार का ही संक्रमण है। यदि माना जाय कि शरीर से बाहर गया हुआ मनोमय अथवा विज्ञानमय पुनः शरीर में लौट आता है, इसी से उसका आत्मसंक्र-मण कहा गया; वैसा कहना भी ठीक नहीं क्योंकि अपने आप में क्रिया का विरोध है। उपसंक्रमण करने वाला दूसरा है, जो अन्नमय आत्मा का उपसंक्रमण करता है। इस प्रसंग में मनोमय अथवा विज्ञानमय अपने आप को ही संक्रमण करता है, ऐसा विरोध भासता है। ऐसे ही आनन्दमय का आत्म संक्रमण सिद्ध नहीं होता। अतः संक्रमण का अर्थ प्राप्ति नहीं है और न अन्नमयादि जैसे किसी एककर्तृक संक्रमण सम्भव है। परिशेषतः अन्नमयादि से लेकर आनन्दमय आत्मा से भिन्न-कर्तृक संक्रमण है, जो ज्ञान मात्र ही है। संक्रमण का अर्थ ज्ञान मान लेने पर आनन्दमय के मध्य में स्थित सर्वान्तर परमात्मा का आकाश से लेकर अन्नमय पर्यन्त कार्य जगत् की सृष्टि कर अनुप्रविष्ट होना कहा

अथ ब्रह्मवल्ल्यध्याये नवमोऽनुवाकः

यतो वाचो निवर्तन्ते। अप्राप्य मनसा सह। आनन्दं

जहाँ से (सविकल्पक वस्तुओं को प्रकाशित करने वाली) मन के सहित वाणी उसे प्राप्त किये

संबन्धादन्नमयादिष्वनात्मस्वात्मविभ्रमः संक्रमणेनाऽऽत्मविवेकविज्ञानोत्पत्त्या विनश्यति। तदेतस्मिन्नविद्याविभ्रमनाशे संक्रमणशब्द उपचर्यते न ह्यन्यथा सर्वगतस्याऽत्मनः संक्रमणमुपपद्यते। वस्त्वन्तराभावाच्च। न च स्वात्मन एव संक्रमणम्। न हि जलूकाऽऽत्मानमेव संक्रामति। तस्मात्सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मेति यथोक्तलक्षणात्मप्रतिपत्त्यर्थमेव बहुभवनसर्गप्रवेशरसलाभाभयसंक्रमणादि परिकल्प्यते ब्रह्मणि सर्वव्यवहारविषये न तु परमार्थतो निर्विकल्पे ब्रह्मणि कश्चिदपि विकल्प उपपद्यते।

तमेतं निर्विकल्पमात्मानमेवं क्रमेणोपसंक्रम्य विदित्वा न बिभेति कुतश्चनाभयं प्रतिष्ठां विन्दत इत्येतस्मिन्नर्थेऽप्येष श्लोको भवति। सर्वस्यैवास्य प्रकरणस्या[1]ऽऽनन्दवल्ल्यर्थस्य संक्षेपतः प्रकाशनायैष मन्त्रो भवति।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ तैत्तिरीयोपनिषदि द्वितीयब्रह्मवल्ल्यध्यायेऽष्टमोऽनुवाकः।।८।।

यतो यस्मान्निर्विकल्पाद्यथोक्तलक्षणादद्वयानन्दादात्मनो वाचोऽभिधानानि

चेति। मुख्यासंभवे गौणार्थग्रहणं न्याय्यमेवातोऽधिष्ठानयाथात्म्यप्रतिपत्त्या विशिष्टस्याध्यस्तस्य बाधनमेव संक्रमणं फलतीति भावः। इतश्च न मुख्यं संक्रमणमन्वेषणीयमित्याह — वस्त्वन्तराभावाच्चेति। संक्रमणस्यौपचारिकत्वं व्याख्याय प्रकरणस्य महत्तात्पर्यमुपसंहारच्छलेनाऽऽह — तस्मादिति।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छुद्धानन्दपूज्यपादशिष्यानन्दज्ञानविरचितायां तैत्तिरीयोपनिषच्छांकरभाष्यटीकायां द्वितीये ब्रह्मवल्ल्यध्यायेऽष्टमोऽनुवाकः।।८।।

गया है, उस अनुप्रविष्ट आत्मा का हृदयरूपी गुहा के साथ सम्बन्ध होने के कारण अन्नमयादि अनात्म कोशों में जो आत्मभ्रान्ति हो रही है, वह भ्रान्ति पूर्वोक्त संक्रमण द्वारा आत्मा के विवेक विज्ञान उत्पन्न हो जाने के कारण नष्ट हो जाती है। इसी अविद्या विभ्रम के नाश अर्थ में संक्रमण शब्द औपचारिक है। इससे भिन्न प्रकार से व्यापक आत्मा का संक्रमण सिद्ध नहीं होता, साथ ही दूसरी वस्तु का अभाव ही है। अपने आपमें संक्रमण नहीं बन सकता। जलूका कीट भी अपने आप को ही संक्रमण नहीं करता। अतः 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इस वाक्य से जो ब्रह्म का लक्षण किया गया, उसके बोध कराने के लिए ही बहुभवन, सर्ग प्रवेश, रस की प्राप्ति से अभय एवं संक्रमण आदि सर्वव्यवहार का अविषय ब्रह्म में परिकल्पित है। परमार्थतः कल्पना-शून्य ब्रह्म में कोई भी विकल्प सिद्ध नहीं होता।

अतः उसी निर्विकल्प आत्मा को इस क्रम से उपसंक्रमण कर (जानकर) किसी से भयभीत नहीं होता; प्रत्युत अभय प्रतिष्ठा को प्राप्तकर लेता है। इस अर्थ में भी आगे का मन्त्र है। आनन्दवल्ली के तात्पर्य अर्थरूप इस सम्पूर्ण प्रकरण को संक्षेप में बतलाने के लिए यह मन्त्र है।

---

१. प्रकरणस्येत्युक्तमेव विशदयति — आनन्दवल्ल्यर्थस्येति।

ब्रह्मणो विद्वान्। न बिभेति कुतश्चनेति। एतथ्ंह वाव न तपति। किमहथ्ंसाधु नाकरवम्। किमहं पापमकरवमिति। स य एवं विद्वानेते आत्मानथ्ं

बिना ही लौट आती है। उस ब्रह्म के आनन्द को जानने वाला विद्वान् किसी से भयभीत नहीं होता। मैंने शुभ कर्म क्यों नहीं किया और पाप कर्म क्यों किया। इस प्रकार की चिन्ता केवल इस विद्वान् को संतप्त नहीं करती, (क्योंकि ताप के कारण सुकर्म और दुष्कर्म भी होते हैं) उसे तो ये दोनों आत्म-स्वरूप

द्रव्यादिसविकल्पवस्तुविषयाणि वस्तुसामान्यान्निर्विकल्पेऽद्वयेऽपि ब्रह्मणि प्रयोक्तृभिः प्रकाशनाय प्रयुज्यमानान्यप्राप्याप्रकाश्यैव निवर्तन्ते स्वसामर्थ्याद्धीयन्ते। मन इति प्रत्ययो विज्ञानम्। तच्च यत्राभिधानं प्रवृत्तमतीन्द्रियेऽप्यर्थे तदर्थे च प्रवर्तते प्रकाशनाय। यत्र च विज्ञानं तत्र वाचः प्रवृत्तिः। तस्मात्सहैव वाङ्मनसयोरभिधानप्रत्यययोः प्रवृत्तिः सर्वत्र। तस्माद्ब्रह्मप्रकाशनाय सर्वथा प्रयोक्तृभिः प्रयुज्यमाना अपि वाचो यस्मादप्रत्ययविषया-दनभिधेयाददृश्यादिविशेषणात्सहैव मनसा विज्ञानेन सर्वप्रकाशनसमर्थेन निवर्तन्ते तं ब्रह्मण आनन्दं श्रोत्रियस्यावृजिनस्याकामहतस्य सर्वैषणाविनिर्मुक्तस्याऽऽत्मभूतं [1]विषय-विषयिसंबन्धविनिर्मुक्तं स्वाभाविकं नित्यमविभक्तं परमानन्दं ब्रह्मणो विद्वान्यथोक्तेन विधिना न बिभेति कुतश्चन, निमित्ताभावात्। न हि तस्माद्विदुषोऽन्यद्वस्त्वन्तरमस्ति भिन्नं यतो बिभेति। अविद्यया "यदोदरमन्तरं कुरुते। अथ तस्य भयं भवती"ति (तै.उ. २-७)

ब्रह्मानन्दानुभवी विद्वान् किसी से भयभीत नहीं होता

जिस पूर्वोक्त लक्षण वाले निर्विकल्प अद्वय आनन्दरूप आत्मा से (द्रव्यादि सविकल्प वस्तु को विषय करने वाली वाणी) निर्विकल्प अद्वय ब्रह्म में भी वस्तु सामान्य समझकर प्रकाश के लिए प्रयोग की गयी वाणी उस तत्त्व को प्रकाश किये बिना ही लौट आती है; अर्थात् अपने सामर्थ्य को खो बैठती है। साथ ही विषय का प्रकाशक मन भी लौट आता है क्योंकि जहाँ वाणी अतीन्द्रिय अर्थ में भी प्रवृत्त होती है, उसी अर्थ में प्रकाशक के लिए मन भी प्रवृत्त होता है और जहाँ मन प्रवृत्त होता है, वहाँ पर वाणी की प्रवृत्ति होती है। अतः अर्थ को बतलाने वाली वाणी और उसे जानने वाले मन इन दोनों की सर्वत्र प्रवृत्ति साथ-साथ ही होती है। अतः ब्रह्म को बतलाने के लिए प्रयोक्ता के द्वारा सभी प्रकार से प्रयोग की गयी वाणी सर्ववस्तु के प्रकाशन में समर्थ विज्ञान के सहित अदृश्यादि विशेषण वाली प्रतीति के अविषय एवं अनभिधेय जिस ब्रह्म से लौट आती है, निष्पाप, अकामहत, सर्व एषणा से विनिर्मुक्त ब्रह्मज्ञानी के आत्मस्वरूप उस विषय - विषयी सम्बन्ध-शून्य स्वाभाविक अखण्ड नित्य परमानन्द को पूर्वोक्त विधि से ब्रह्मवेत्ता जब जान लेता है, तो फिर भय का कोई निमित्त न रहने के कारण किसी से भयभीत नहीं होता क्योंकि उस अवस्था में उस ब्रह्मज्ञानी से भिन्न कोई वस्तु है ही नहीं, जिससे वह डरे। जिस समय अज्ञान के कारण उसमें थोड़ा भी भेद देखता है, उसी समय उसको

---

१. विषयेत्यादि — विषयेन्द्रियसंबन्धानिमित्तमिति यावत्।

स्पृणुते। उभे ह्येवैष एते आत्मानꣳ स्पृणुते। य
एव वेद। इत्युपनिषत्।

इति कृष्णयजुर्वेदीयतैत्तिरीयोपनिषदि द्वितीये ब्रह्मवल्ल्यध्याये
नवमोऽनुवाकः।।९।।

ही दिखायी पड़ते हैं। अतः वह जो इस प्रकार जानने वाला विद्वान् है वह अपने आत्मा को प्रसन्न और सबल बनाये रखता है। जो पूर्वोक्त अद्वितीय सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म को जानता है, ऐसी यह ब्रह्मविद्या रूप उपनिषद् है (इस विद्या में ही कल्याण निहित है)।।१।।

।।इति नवमोऽनुवाकः।।

ह्युक्तम्। विदुषश्चाविद्याकार्यस्य तैमिरिकदृष्टद्वितीयचन्द्रवन्नाशाद्भयनिमित्तस्य न बिभेति कुतश्चनेति युज्यते। मनोमये चोदाहृतो मन्त्रो मनसो ब्रह्मविज्ञानसाधनत्वात्। तत्र ब्रह्मत्वमध्यारोप्य तत्स्तुत्यर्थं "न बिभेति कदाचने"ति (तै.उ. २-४) भयमात्रं प्रतिषिद्ध-मिहाद्वैतविषये न बिभेति कुतश्चनेति भयनिमित्तमेव प्रतिषिध्यते।

नन्वस्ति भयनिमितं साध्वकरणं पापक्रिया च। नैवम्। कथमित्युच्यते —

एतं यथोक्तमेवंविदम्। ह वावेत्यवधारणार्थौ[1]। न तपति नोद्वेजयति न संताप-यति। [2]कथं पुनः साध्वकरणं पापक्रिया च न तपतीत्युच्यते। किं कस्मात्साधु शोभनं कर्म नाकरवं न कृतवानस्मीति पश्चात्संतापो भवत्यासन्ने मरणकाले। तथा किं कस्मा-त्पापं प्रतिषिद्धं कर्माकरवं कृतवानस्मीति च नरकपतनादिदुःखभयात्तापो भवति। ते

भय होता है, ऐसा कहना युक्ति संगत है। तैमिरिक पुरुष से देखे गये द्वितीय चन्द्र की भाँति भय के निमित्त के नष्ट हो जाने पर अविद्या कार्य जब ब्रह्मज्ञानी की दृष्टि में नष्ट हो गया, तब ब्रह्मवेत्ता किसी से डरता नहीं, ऐसा कहना युक्ति-युक्त है। मनोमय आत्मा के प्रतिपादन प्रसंग में जिस मन्त्र का उदाहरण दिया गया है, उसमें आया हुआ मन शब्द ब्रह्मज्ञान के साधनरूप में माना गया है। ऐसे ब्रह्म विज्ञान के साधनरूप मन में ब्रह्मभाव का आरोप कर उसकी स्तुति के लिए 'न बिभेति कदाचन' इस वाक्य से भयमात्र का निषेध किया गया है और यहाँ अद्वैत विषयक प्रसंग में "न बिभेति कुतश्चन" इस वाक्य से भय के निमित्त का ही प्रतिषेध किया गया है।

शंका :- साधु कर्म का न करना और पाप करना ये दोनों भय के निमित्त विद्यमान ही हैं? ऐसा कहना ठीक नहीं। कैसे? इस पर कहते हैं।

पूर्वोक्त इस ब्रह्मज्ञानी को ये दोनों ही सन्तप्त नहीं करते। "ह" और "वाव" ये दोनों निपातनार्थक हैं; अर्थात् ज्ञानी को उद्विग्न नहीं करता यानी सन्तप्त नहीं करता। साधु कर्म का न करना और पाप कर्म का करना किस प्रकार ज्ञानी को संतप्त नहीं करता, इसे बतलाते हैं कि मृत्यु के समय "मैंने अच्छा कर्म क्यों नहीं किया" ऐसा सन्ताप अज्ञानी को होता है। वैसे ही मैंने पाप कर्म क्यों किया,

---

१. अवधारणार्थाविति — तथा च एतमेव नैव तपतीत्यर्थ इति भावः। २. कथमिति तापप्रकारे प्रश्नः।

सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै।
तेजस्वि नावधीतमस्तु मा विद्विषावहै।
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

हरि ॐ। इति कृष्णयजुर्वेदीयतैत्तिरीयोपनिषदि द्वितीयो
ब्रह्मवल्ल्यध्यायः समाप्तः।।२।।

एते साध्वकरणपापक्रिये एवमेनं न तपतो यथाऽविद्वांसं तपतः।

कस्मात्पुनर्विद्वांसं न तपत इत्युच्यते —

स य एवंविद्वानेते साध्वसाधुनी [1]तापहेतू इत्यात्मानं स्पृणुते प्रीणयति बलयति वा परमात्मभावेनोभे पश्यतीत्यर्थः। उभे पुण्यपापे हि यस्मादेवमेष विद्वानेते आत्मानमात्मरूपेणैव पुण्यपापे स्वेन विशेषरूपेण शून्ये कृत्वाऽऽत्मानं स्पृणुत एव। को य एवं वेद यथोक्तमद्वैतमानन्दं ब्रह्म वेद तस्याऽऽत्मभावेन दृष्टे पुण्यपापे निर्वीर्ये अतापके जन्मान्तरारम्भके न भवत इतीयमेवं यथोक्ताऽस्यां वल्ल्यां ब्रह्मविद्योपनिषत्सर्वाभ्यो विद्याभ्यः परमरहस्यं दर्शितमित्यर्थः। परं श्रेयोऽस्यां निषण्णमिति।

ब्रह्मविदिदमेकविंशतिरन्नादन्नरसमयात्प्राणो व्यानोऽपान आकाशः पृथिवी

साध्वसाधुनी स्तः प्रकाशेते चेति सत्प्रकाशमात्रमात्मतत्त्वमेव तयोः स्वरूपं ततोऽतिरिक्तं यदर्थानर्थहेतुत्वं [2]नामविशेषरूपं तन्न वस्तु सत्प्रकाशान्यत्वेनासत्त्वादप्रकाशमानत्वाच्चेत्यभिप्रेत्याऽऽह — स्वेन विशेषरूपेणेति। आत्मैवाविद्यया साध्वसाधुरूपेण प्रतिपन्न आसीत्। इदानीं तु ये साध्वसाधुनी ममार्थनर्थहेतू बभूवतुस्ते आत्मैवेति ज्ञानेन स्वात्मानं साध्वसाधुकरणेन प्रीणयत्येव [3]लोकदृष्ट्या निष्पद्यमाने पुण्यपापे दृष्ट्वा हृष्यति च विद्वान्न बिभेतीत्याह — स्पृणुत एवेति।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छुद्धानन्दपूज्यपादशिष्यानन्दज्ञानविरचितायां तैत्तिरीयोपनिषच्छांकरभाष्यटीकायां द्वितीयब्रह्मवल्ल्यध्याये नवमोऽनुवाकः।।९।।

इस प्रकार मरणासन्न व्यक्ति को नरक पतनादि दुःख भय से सन्ताप होता है। ये साधु कर्म न करना और पाप कर्म करना दोनों जैसे अज्ञानी को सन्तप्त करते हैं, वैसे इस ज्ञानी को सन्तप्त नहीं करते।

ज्ञानी को ये दोनों क्यों सन्तप्त नहीं करते? इस पर कहते हैं।

विद्वान् दुःख के हेतु साधु कर्म को न करना और असाधु कर्म को करना इन दोनों को परमार्थ भाव से ही देखता है। जब उन दोनों पुण्य - पाप को इस प्रकार यह विज्ञान पुण्य - पाप विशेषरूप से न देख कर आत्मरूप से ही देखता है (फिर भला वे दोनों उस ब्रह्मज्ञानी को कैसे सन्तप्त कर सकते हैं)।

---

१. अद्वैतात्मदृष्ट्याऽतर्पितस्यैवात्मन एते साध्वसाधुनी तापहेतू भव इति हेतोर्विद्वान् यथोक्तदृष्ट्याऽऽत्मानं तर्पयति बलवन्तं वा करोति तया बलमनीतस्य वा तयोस्तापकरत्वादिति मत्वाऽऽह — तापहेतू इतीति। यद्वाऽज्ञस्य तापहेतू एते ममत्वात्मभूते एवेति मत्वाऽऽत्मानं प्रीणयतीति व्याख्येयम्। २. नामेत्यादि — नामविशेषो रूपविशेषश्चेत्यर्थः। ३. लोकदृष्ट्येत्यादि — तथा चोक्तं भगवता "सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यत" इति (५/७)।

अथ तैत्तिरोयोपनिषदि

तृतीयो भृगुवल्ल्यध्यायः। तत्र प्रथमोऽनुवाकः

हरिः ॐ। सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै। तेजस्वि नावधीतमस्तु मा विद्विषावहै। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

पुच्छथ्ठं षड्विथ्ठं शतिः प्राणं यजुर्ऋक्सामाऽऽदेशोऽथर्वाङ्गिरसः पुच्छं द्वाविथ्ठं शतिर्यतः श्रद्धर्तथ्ठं सत्यं योगो महोऽष्टादश विज्ञानं प्रियं मोदः प्रमोद आनन्दो ब्रह्म पुच्छं द्वाविथ्ठंशतिरसन्नेवाष्टाविथ्ठंशतिरसत्षोडश भीषास्मादेकपञ्चाशद्यतः कुतश्चैकादश।।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ तैत्तिरीयोपनिषद्भाष्ये द्वितीयो ब्रह्मवल्ल्यध्यायः समाप्तः।।२।।

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्माऽऽकाशादिकार्यमन्नमयान्तं सृष्ट्वा तदेवानुप्रविष्टं[१]विशेषवदिवोपलभ्यमानं [२]यस्मात्तस्मात्सर्वकार्यविलक्षणमदृश्यादिधर्मकमेवाऽऽनन्दं तदेवाहमिति विजानीयादनुप्रवेशस्य तदर्थत्वात्तस्यैवं विजानतः शुभाशुभे कर्मणी जन्मान्तरारम्भके न भवत इत्येवमानन्दवल्ल्यां विवक्षितोऽर्थः। परिसमाप्ता च ब्रह्मविद्या। अतः परं ब्रह्मविद्यासाधनं तपो वक्तव्यमन्नादिविषयाणि चोपासनान्य[३]नुक्तानीत्यत इदमारभ्यते —

वृत्तानुवादपूर्वकमुत्तरवल्ली[४]संबन्धमाह — सत्यं ज्ञानमित्यादिना। तप इति। पदार्थविवरणं

आखिर वह ऐसा है कौन? जो पूर्वोक्त अद्वैत आनन्द स्वरूप ब्रह्म को जानता है, उस ब्रह्मज्ञानी के आत्मभाव द्वारा देखे गये कोई पुण्य - पाप निर्वीर्य (सामर्थ्यहीन) और ताप पहुँचाने वाले नहीं होते। इसीलिए वे पुण्य - पाप उस ब्रह्मज्ञानी के जन्मान्तर आरम्भक नहीं होते हैं। इस प्रकार इस वल्ली में पूर्वोक्त ब्रह्मविद्योपनिषत् बतला दी गयी जो सभी विद्याओं में अत्यन्त गोपनीय है एवं जिसमें परमश्रेय मोक्ष स्थित है।

इस प्रकार श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ कैलासपीठाधीश्वर परमादर्श आचार्य महामण्डलेश्वर श्रीमत्स्वामी विद्यानन्द गिरि जी महाराज विरचित तैत्तिरीयोपनिषद् द्वितीय ब्रह्मवल्ल्यध्याय शांकर भाष्य की "विद्यानन्दीमिताक्षरा" टीका सम्पन्न हुई।

भृगु के प्रति वरुण का उपदेश

सत्य, ज्ञान और अनन्तरूप ब्रह्म आकाशादि अन्नमयान्त कार्य की सृष्टिकर उसमें प्रविष्ट हो जब विशेष की भाँति उपलभ्यमान हो गया। इसलिए सभी कार्य से विलक्षण अदृश्यादि धर्म वाला ही आनन्द स्वरूप ब्रह्म मैं हूँ ऐसा जानना चाहिए। यही अनुप्रवेश बतलाने का तात्पर्य है। इस प्रकार जानने वाले के शुभाशुभ कर्म जन्मान्तर आरम्भक नहीं होते हैं, यही आनन्दवल्ली का विवक्षित अर्थ है। साथ ही ब्रह्मविद्या परिसमाप्त हो गयी। अब इसके आगे ब्रह्मविद्या के साधन तप को बतलाना है,

---

१. विशेषवदिति — कर्तृत्वादिधर्मकमिति यावत्। २. यस्मादिति — अन्नमयाद्युपाधिसंबन्धादेव विशेषवदुपलभ्यते यस्मात्तस्माद्वस्तुतः सर्वकार्यविलक्षणमदृश्यत्वादिना च निर्विशेषमेव विजानीयादित्यर्थः। ३. अनुक्तानि वक्तव्यानीति वचनविपरिणामेनानुषङ्गः। ४. सम्बन्धं साध्यसाधनभावात्मकम्। ५. विवरणं विवेचनम्।

भृगुर्वै वारुणिः। वरुणं पितरमुपससार। अधीहि भगवो ब्रह्मेति। तस्मा एतत्प्रोवाच। [१]अन्नं प्राणं चक्षुः श्रोत्रं मनो वाचमिति। तꣳहोवाच। यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति।

वरुण का अत्यन्त प्रसिद्ध पुत्र भृगु (ब्रह्म जिज्ञासा से) अपने पिता वरुण के पास गया (और बोला) हे भगवन्! मुझे ब्रह्म का उपदेश करें! (विधिपूर्वक अपने पास आये हुए) भृगु से वरुण ने कहा — अन्न, (उसके भीतर भक्षण करने वाला) प्राण, (प्राण के भीतर विषयों की उपलब्धि के साधन) श्रोत्रादि इन्द्रियाँ, मन और वाणी (ये सभी ब्रह्म प्राप्ति के द्वार हैं)। फिर भृगु से वरुण ने कहा — निश्चय ही जिससे ब्रह्मा से लेकर स्तम्ब पर्यन्त सभी प्राणी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर जिसके

आख्यायिका विद्यास्तुतये, प्रियाय पुत्राय पित्रोक्तेति — भृगुर्वै वारुणिः। वैशब्दः प्रसिद्धानुस्मारको भृगुरित्येवंनामा प्रसिद्धोऽनुस्मार्यते। वारुणिर्वरुणस्यापत्यं वारुणिर्वरुणं पितरं ब्रह्म विजिज्ञासुरुपससारोपगतवान्। अधीहि भगवो ब्रह्मे[२]त्यनेन मन्त्रेण। स च पिता विधिवदुपसन्नाय तस्मै पुत्रायैतद्वचनं प्रोवाच। अन्नं प्राणं चक्षुः श्रोत्रं मनो वाचमिति। [३]अन्नं शरीरं तदभ्यन्तरं च [४]प्राणमत्तारमु[५]पलब्धिसाधनानि चक्षुः श्रोत्रं मनो

वाक्यार्थज्ञानसाधनमित्यर्थः। अधीहीति। [६]अध्यापय स्मारय। "इक्स्मरणे" इति धातुपाठादित्यर्थः।

साथ ही अन्नादि विषयक उपासना भी इससे पूर्व नहीं कही गयी है। अतः इन्हें बतलाने के लिए यह प्रकरण प्रारम्भ किया जाता है

आख्यायिका ब्रह्मविद्या की स्तुति के लिए है। "भृगुर्वै वारुणिः" इस वाक्य से यह दिखलाया गया है कि पिता ने प्रिय पुत्र को ब्रह्मविद्या का उपदेश किया। 'वै' शब्द प्रसिद्ध अर्थ का स्मारक है। भृगु इस नाम से प्रसिद्ध का स्मरण "वै" शब्द से होता है। वरुण का पुत्र है और जिसका नाम भृगु है, ऐसा प्रसिद्ध भृगुवारुणि ब्रह्मजिज्ञासु अपने पिता वरुण के पास गया। "अधीहि भगवो ब्रह्मेति" इस मन्त्र से यह कहता हुआ गया कि हे भगवन्! हमें ब्रह्म का उपदेश करो। विधिवत् शरणापन्न उस पुत्र को पिता ने यह वचन कहा कि अन्न, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन और वाणी अर्थात् अन्य स्थूल शरीर है और उसके भीतर भोक्ता प्राण है। चक्षु, श्रोत्र, मन और वाणी ये उपलब्धि साधन हैं। इन सबको ब्रह्म की उपलब्धि में द्वार कह दिया। पुनः द्वाररूप इन अन्नमयादि को बतलाकर ब्रह्म का

---

१. एतत्किं प्रोवाच तदाह – अन्नमित्यादिना। अन्नं प्रोवाच प्राणं प्रोवाचेत्येवं प्रत्येकं क्रियासंबन्धाद्द्वितीयोपपत्तिः। इतीत्यस्य चेत्युक्त्वेत्यर्थः। इत्यन्तस्य कर्मत्वे तु यथोक्तद्वितीया गणोपपत्तये अधीहीत्येतत्पदमण्यर्थगर्भमेवानुवर्तनीयं तथा चाधीहि प्राणमधीष्वान्नमित्येवमादि प्रोवाचेत्यर्थः। प्रथममार्थ एव वा छान्दसी द्वितीयेत्यलम्। २. इत्यनेन मन्त्रेणेति – इत्यनयाऽनुष्टुभेत्यर्थः। एतेन चास्य वचसोऽब्राह्मणत्वं सूच्यते। ३. अन्नं शरीरमिति – भोग्योक्तिः शरीरस्यान्नपरिणामत्वेन भोग्यत्वाविशेषात्। ४. प्राणमत्तारमिति भोक्तोक्तः। ५. उपलब्धिसाधनानि भोगकरणानीत्यर्थः। तथा च भोक्ता भोग्यं भोगसाधनं चेति त्रितयं विचारार्थमुपदिष्टं भवतीति भावः तदेतदाह – ब्रह्मोपलब्धौ द्वाराणीति। ६. अधीहीत्यस्य ण्यर्थगर्भत्वमाश्रित्याह – स्मारयेति। तस्य प्रकृतोपयोगिनमर्थमाह – अध्यापयेति। उपदिशेति यावत्।

यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व। तद्ब्रह्मेति।
स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा।
इति कृष्णयजुर्वेदीयतैत्तिरीयोपनिषदि तृतीये भृगुवल्ल्यध्याये
प्रथमोऽनुवाकः।।१।।

आश्रय से ये प्राण धारण करते हैं (और विनाशकाल उपस्थित होने पर अन्त में) मरणोन्मुख हो जिसमें ये लीन होते हैं; तू उस ब्रह्म को विशेष रूप से जानने की इच्छा कर। वही ब्रह्म है, (तदनन्तर अपने पिता से ब्रह्म की उपलब्धि के द्वार उक्त लक्षण को सुन कर) भृगु ने मन और इन्द्रियों के समाधान रूप तप किया और उसने तप करके।।१।।

।। इति प्रथमोऽनुवाकः।।

वाचमित्येतानि ब्रह्मोपलब्धौ द्वाराण्युक्तवान्। उक्त्वा च द्वारभूतान्येतान्यन्नादीनि तं भृगुं होवाच ब्रह्मणो लक्षणम्। किं तत्। यतो यस्माद्वा इमानि ब्रह्मादीनि स्तम्ब-पर्यन्तानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति प्राणान्धारयन्ति वर्धन्ते। विनाशकाले च यत्प्रयन्ति यद्ब्रह्म प्रतिगच्छन्ति, अभिसंविशन्ति तादात्म्यमेव प्रति-पद्यन्ते। उत्पत्तिस्थितिलयकालेषु यदात्मतां न जहति भूतानि [1]तदेतद्ब्रह्मणो लक्षणम्। तद्ब्रह्म विजिज्ञासस्व [2]विशेषेण ज्ञातुमि[3]च्छस्व। यदेवंलक्षणं ब्रह्म तदन्नादिद्वारेण प्रतिपद्यस्वेत्यर्थः। श्रुत्यन्तरं च – "प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रमन्न-स्यान्नं मनसो ये मनो विदुः ते निचिक्युर्ब्रह्म पुराणमग्र्यम्" (बृ.उ. ४-४-१८) इति ब्रह्मोपलब्धौ द्वाराण्येतानीति दर्शयति।

ब्रह्मोपलब्धाविति। लक्ष्यत्वमर्थविवेकाय द्वाराणि शरीरादिचेष्टान्यथानुपपत्त्या हि साक्षिभूतश्चिद्धा-तुर्विविच्यत इति भावः।

लक्षण भी उस भृगु को बतला दिया। वह लक्षण क्या है। जिससे ब्रह्मादि स्तम्बपर्यन्त ये सभी भूत उत्पन्न होते हैं। उत्पन्न हुए ये सभी भूत जिससे प्राण धारण करते हैं; अर्थात् बढ़ते हैं और विनाश-काल में जिसके साथ तादात्म्य को प्राप्त हो जाते हैं। वह ब्रह्म है; अर्थात् उत्पत्ति स्थिति एवं प्रलय के समय ये भूत जिसे नहीं छोड़ते हैं। बस यही ब्रह्म का लक्षण है, उस ब्रह्म को विशेष रूप से जानने की तुम इच्छा करो यानी ऐसे लक्षण वाला जो ब्रह्म है, उसे अन्नादि द्वारा जानो। ऐसे ही "प्राण का प्राण, चक्षु का चक्षु श्रोत्र का श्रोत्र, अन्न का अन्न और मन के भी मन को जो जानते हैं, वे सनातन श्रेष्ठ ब्रह्म को जानते हैं" इस प्रकार ब्रह्म की उपलब्धि में ये सब द्वार हैं; ऐसी दूसरी श्रुति भी दिखलाती है।

---

१. तदेतदिति – भूतान्युत्पत्त्यादिषु यदात्मतां न जहति तत्त्वमित्यर्थः । २. विशेषेणेति – अपरोक्षतयेति यावत्। ३. इच्छस्वेत्यात्मनेपदं मूलच्छायार्थम्।

स भृगुर्ब्रह्मोपलब्धिद्वाराणि ब्रह्मलक्षणं च श्रुत्वा पितुस्तपो ब्रह्मोपलब्धि-साधनत्वेनातप्यत तप्तवान्। कुतः पुनरनुपदिष्टस्यैव तपसः साधनत्वप्रतिपत्तिर्भृगोः, सावशेषोक्तेरन्नादि ब्रह्मणः प्रतिपत्तौ द्वारं लक्षणं च यतो वा इमानीत्याद्युक्तवान्। सावशेषं हि तत्साक्षाद्ब्रह्मणोऽनिर्देशात्। अन्यथा हि स्वरूपेणैव ब्रह्म निर्देष्टव्यं जिज्ञासवे पुत्रायेदमित्थंरूपं ब्रह्मेति। न चैवं निरदिशत्किं तर्हि सावशेषमेवोक्तवान्। अतोऽवगम्यते नूनं साधनान्तरमप्यपेक्षते पिता ब्रह्मविज्ञानं प्रतीति। तपोविशेषप्रति-पत्तिस्तु सर्वसाधकतमत्वात्, [१]सर्वेषां हि नियतसाध्यविषयाणां [२]साधनानां तप एव साधकतमं साधनमिति हि प्रसिद्धं लोके। तस्मात्पित्राऽनुपदिष्टमपि ब्रह्मविज्ञान-साधनत्वेन तपः प्रतिपेदे भृगुः। तच्च तपो बाह्यान्तःकरणसमाधानं तद्द्वारकत्वाद्ब्रह्म-प्रतिपत्तेः।

"मनसश्चेन्द्रियाणां च ह्यैकाग्र्यं परमं तपः।
तज्ज्यायः सर्वधर्मेभ्यः स धर्मः पर उच्यते" इति स्मृतेः। (महा.शा. २५०-४) स च तपस्तप्त्वा।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ तैत्तिरीयोपनिषदि तृतीयभृगुवल्ल्यध्यायभाष्ये प्रथमोऽनुवाकः।।१।।

---

[३]न केवलं त्वमर्थज्ञानं वाक्यार्थज्ञानसाधनं किंतु तत्पदार्थज्ञानमपीत्यभिप्रेत्य तदर्थस्य ब्रह्मणो लक्षणमुक्तवानित्यर्थः। सावशेषोक्तेरिति। [४]पदार्थोपलक्षणस्यैवाभिधानाद[५]खण्डवाक्यार्थस्याप्रतिपाद-नात्पदार्थभेदज्ञानाच्च पुरुषार्थासंभवादुदरमन्तरं कुरुत इति निन्दितत्वादतो वाक्यार्थावगतिपर्यन्तं तात्पर्येण लक्ष्यपदार्थविचारणमा[६]वृत्त्याऽनुष्ठितवानित्यर्थः।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छुद्धानन्दपूज्यपादशिष्यानन्दज्ञानविरचितायां तैत्तिरीयोपनि-षच्छांकरभाष्यटीकायां तृतीयभृगुवल्ल्यध्याये प्रथमोऽनुवाकः।।१।।

पिता से ब्रह्म उपलब्धि के द्वार और ब्रह्म के लक्षण को सुनकर उस भृगु ने ब्रह्मप्राप्ति के साधन रूप से तप किया। पूर्वपक्ष :- ब्रह्मप्राप्ति के साधन रूप से तप का उपदेश अभी तक वरुण ने किया नहीं, फिर भला भृगु को तप में ब्रह्म उपलब्धि साधनत्व का बोध कैसे हो गया? सिद्धान्ती :- पूर्वोक्त उपदेश सावशेष है। ब्रह्म प्रतिपत्ति के द्वार अन्नादि एवं उसके लक्षण को "यतो वा इमानि भूतानि" इत्यादि वाक्य से कहा है। यह ब्रह्म का साक्षात् निर्देश न होने के कारण ब्रह्म का उपदेश यह सावशेष है अन्यथा जिज्ञासु पुत्र को ऐसा रूप वाला यह ब्रह्म है, इस प्रकार स्वरूपतः निर्देश करना चाहिये था किन्तु ऐसा किया नहीं, प्रत्युत सावशेष ही उपदेश किया। इसलिये यह जाना जाता है कि निःसन्देह ब्रह्म विज्ञान के प्रति साधनान्तर की अपेक्षा भी पिता को है। सभी साधनों में श्रेष्ठ होने के कारण विशेष रूप से बोध कराने वाला तप साधन ही है क्योंकि लोक में नियत साध्य विषयक सभी

---

१. सर्वेषामित्यादि — न ह्यालोचनं विना लोचनमात्रेण रूपनिश्चयः स्थिरी भवति "अन्यत्रमना अभूवं नादर्शमि"त्यादि श्रुतेरिति भावः। २. साधनानामिति निर्धारणे षष्ठी। ३. उक्त्वा चेत्यादिभाष्यार्थमाह - न केवलमित्यादिना। ४. पदार्थोपलक्षणस्यैवेति — तत्त्वमर्थयोः प्रत्येकमुपलब्धिद्वारस्य तटस्थलक्षणस्येति यावत्। ५. अखण्डवाक्यार्थस्येति — तत्त्वमर्थयोरभेदस्येत्यर्थः। ६. आवृत्त्या पौनःपुन्येनेत्यर्थः।

अथ भृगुवल्ल्यां द्वितीयोऽनुवाकः

अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्। अन्नाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। अन्नेन जातानि जीवन्ति। अन्नं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तद्विज्ञाय। पुनरेव वरुणं पितरमुपससार। अधीहि भगवो ब्रह्मेति। तꣳ होवाच। तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व। [१]तपो ब्रह्मेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा।

इति कृष्णयजुर्वेदीयतैत्तिरीयोपनिषदि तृतीये भृगुवल्ल्यध्याये द्वितीयोऽनुवाकः।।२।।

'अन्न ब्रह्म है' ऐसा जाना, क्योंकि निश्चय अन्न से ही ये सभी प्राणी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न हुए अन्न से ही जीवित रहते हैं तथा मरणोन्मुख होने पर अन्न में ही लीन हो जाते हैं। ऐसा जान कर फिर भी संशयग्रस्त हो भृगु पिता वरुण के पास आया। भगवन्! मुझे ब्रह्म का उपदेश करो! भृगु ने कहा — तप से ब्रह्म को जानने की विशेष इच्छा करो। तप ही ब्रह्म है, तब भृगु ने तप किया और उसने तप करके।।१।।

।।इति द्वितीयोऽनुवाकः।।

अन्नं ब्रह्मेति व्यजानाद्विज्ञातवान्। तद्धि यथोक्तलक्षणोपेतम्। कथम्। अन्नाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। अन्नेन जातानि जीवन्ति। अन्नं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तस्माद्युक्तमन्नस्य ब्रह्मत्वमित्यभिप्रायः। स एवं तपस्तप्त्वाऽन्नं ब्रह्मेति विज्ञाय [२]लक्षणे-

---

स च तपस्तप्त्वेति। [३]कुत्रेदं पित्रोक्तं लक्षणं क्वेदं लक्षणं वर्तते परिपूर्णं भवतीत्येकाग्रेण चेतसा पर्यालोच्यान्नं ब्रह्मेति व्यजानात्। अद्यते भुज्यत उपलभ्यते सर्वैरिति सर्वप्रतिपत्तृसाधारणं

में तप ही श्रेष्ठतम साधन प्रसिद्ध है। अतः ब्रह्मविज्ञान के साधन रूप से पिता के द्वारा अनुपदिष्ट तप को भी भृगु ने ब्रह्मज्ञान के साधनरूप में समझा। बाह्य और आभ्यन्तर करण को समाहित करना ही यहाँ तप है क्योंकि ब्रह्मज्ञान का वह साधन "मन और इन्द्रियों की एकाग्रता ही श्रेष्ठ तप है। यह सभी धर्मों में परमोत्कृष्ट धर्म कहा गया है" ऐसी स्मृति भी है। उस भृगु ने तपकर।।१।।

अन्य को ब्रह्मरूप से जानकर पिता की आज्ञा से भृगु का पुनः तप करना

"अन्न ब्रह्म है" ऐसा भृगु ने जाना क्योंकि वह अन्न ब्रह्म के पूर्वोक्त लक्षण से युक्त है। कैसे? अन्न से ही ये सभी भूत उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न हुए ये प्राणी अन्न से जीवित रहते हैं और अन्ततः अन्न में ही लीन हो जाते हैं। इसलिये अन्न को ब्रह्म कहना ठीक ही है, यह अभिप्राय है। इस प्रकार

---

१. तपो ब्रह्मेति — तपसो ब्रह्मप्राप्तिसाधनत्वादभेदोपचारः। २. लक्षणेनोपपत्त्या चेति —लक्षणग्रहणेन तस्य चान्ने समन्वयकरणेनेत्यर्थः। ३. कुत्रेदं पित्रोक्तं लक्षणं वर्तत इति संबन्धः। क्वेदं लक्षणं परिपूर्णं भवतीति च संबन्धः। तथा च यथोक्तविचारादेवान्ते वर्तमानमपि तत्र परिपूर्णं तन्न भवतीत्यवगमात्प्राणादिषु तत्संचारपरिश्रम इति भावः।

अथ भृगुवल्ल्यध्याये तृतीयोऽनुवाकः।

प्राणो ब्रह्मेति व्यजानात्। प्राणाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। प्राणेन जातानि जीवन्ति। प्राणं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति । तद्विज्ञाय। पुनरेव वरुणं

प्राण ब्रह्म है, ऐसा भृगु ने जाना, क्योंकि निश्चय प्राण से ही ये प्राणी जन्मते हैं, उत्पन्न हुए प्राण से ही जीते रहते हैं और मरणोन्मुख होने पर प्राण में ही लीन हो जाते हैं। ऐसा जानकर संशय ग्रस्त होकर फिर भी पिता वरुण के पास आया। भगवन्! मुझे ब्रह्म का उपदेश करें! भृगु से वरुण

नोपपत्त्या च पुनरेव संशयमापन्नो वरुणं पितरमुपससार। अधीहि भगवो ब्रह्मेति। कः पुनः संशयहेतुरस्येत्युच्यते। [१]अन्नस्योत्पत्तिदर्शनात्। तपसः पुनः पुनरुपदेशः साधनातिशयत्वावधारणार्थः। यावद्ब्रह्मणो लक्षणं निरतिशयं न भवति यावच्च जिज्ञासा न निवर्तते तावत्तप एव ते साधनम्। तपसैव ब्रह्म विजिज्ञासस्वेत्यर्थः। ऋज्वन्यत्।।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ तैत्तिरीयोपनिषदि तृतीयभृगुवल्ल्यध्यायभाष्ये द्वितीयोऽनुवाकः।।२।।

स्थूलदेहकारणं भूतपञ्चकं विराट्संज्ञकमन्नशब्देनोच्यते। तस्य स्थूलभौतिककारणत्वाद्यतो वा इमानि भूतानीतिलक्षणस्य तत्र योजयितुं शक्यत्वात्तद्ब्रह्मेति प्रतिपन्नवानित्यर्थः।।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छुद्धानन्दपूज्यपादशिष्यानन्दज्ञानविरचितायां तैत्तिरीयोपनिषच्छांकरभाष्यटीकायां तृतीये भृगुवल्ल्यध्याये द्वितीयोऽनुवाकः।।२।।

[२]विराज उत्पत्तिदर्शनाच्छ्रुतिस्मृतिषु लक्षणं तत्र संपूर्णं न भवतीति पुनस्तपोऽतप्यत। विचार्य

तप करके 'अन्नं ब्रह्म' ऐसा लक्षण और युक्ति द्वारा जानकर पुनः संशय ग्रस्त हुआ भृगु अपने पिता वरुण के पास गया और कहा 'अधीहि भगवो ब्रह्मेति' उस भृगु के संशय का कारण क्या है? ऐसी आशंका होने पर कहते हैं कि अन्न की उत्पत्ति देखी जाती है। साधनों में श्रेष्ठता का निश्चय कराने के लिये तप का उपदेश बार-बार किया है। जब तक ब्रह्म का लक्षण निरतिशय रूप से ज्ञात नहीं हो जाता और जब तक तुम्हारी जिज्ञासा निवृत्त नहीं हो जाती तब तक तुम्हारे लिये ब्रह्मज्ञान का साधन तप ही है। उस तप से ही ब्रह्म की विशेष रूप से जिज्ञासा करो। यह इसका अभिप्राय है। शेष मन्त्र भाग सरल है।

---

१. अन्नस्योत्पत्तिदर्शनादिति—अन्नस्यापि भूतान्तर्भावात्स्वस्माच्च स्वोत्पत्त्यसंभवाद्भूतसंकोचेनैवात्र लक्षणं वर्तत न त्वशेषभूतान्तर्भावेनेति नात्र निरतिशयतां याति लक्षणं तस्मात्क्वेदं निरतिशयं संपद्यत इति संशय इति भावः।

२. अन्नस्योत्पत्तिदर्शनादिति भाष्यं व्याचष्टे—विराज उत्पत्तिदर्शनाच्छ्रुतिस्मृतिष्विति। ततो विराडजायतेत्याद्या श्रुतिः। स्मृतिश्च "द्विधाकृत्वात्मनो देहमर्धेन पुरुषोऽभवत्। अर्धेन नारी तस्यां स विराजमसृजत् प्रभुः"। मनु० १-३२। स प्रभुर्हिरण्यगर्भः। इत्येवमाद्या द्रष्टव्या। ३. न हि विराट्कार्येण विराडुत्पत्तिः शक्या द्रष्टुमित्यतो व्याचष्टे—श्रुतिस्मृतिषु दर्शनादिति। तत्र तच्छ्रवणादित्यर्थः।

पितरमुपससार। अधीहि भगवो ब्रह्मेति। तꣳ होवाच। तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व। तपो ब्रह्मेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा।

इति कृष्णयजुर्वेदीयतैत्तिरीयोपनिषदि तृतीये भृगुवल्ल्यध्याये तृतीयोऽनुवाकः।।३।।

अथ भृगुवल्ल्यां चतुर्थोऽनुवाकः।

मनो ब्रह्मेति व्यजानात्। मनसो ह्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। मनसा जातानि जीवन्ति। मनः प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तद्विज्ञाय। पुनरेव वरुणं पितरमुपससार। अधीहि भगवो ब्रह्मेति। तꣳ होवाच। तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व। तपो ब्रह्मेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा।

इति कृष्णयजुर्वेदीयतैत्तिरीयोपनिषदि तृतीये भृगुवल्ल्यध्याये चतुर्थोऽनुवाकः।।४।।

ने कहा — तू तप से ब्रह्म को विशेष रूप से जानने की इच्छा कर, क्योंकि तप ही ब्रह्म है, तब भृगु ने (इन्द्रिय और मन की एकाग्रता रूप) तप किया और उसने तप करके।।१।।

।।इति तृतीयोऽनुवाकः।।

मन ब्रह्म है ऐसा जाना, क्योंकि निश्चय मन से ही ये सभी प्राणी उत्पन्न हुए, मन से ही जीवित रहते हैं और मरणोन्मुख होने पर मन में ही लीन होते हैं। ऐसा जान कर भृगु फिर भी अपने पिता वरुण के पास गया। भगवन्! मुझे ब्रह्म का बोध कराओ! वरुण ने भृगु से कहा — तप से ब्रह्म को जानने की इच्छा करो। तप ही ब्रह्म है, तब भृगु ने तप किया और उसने तप करके।।१।।

।।इति चतुर्थोऽनुवाकः।।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ तैत्तिरीयोपनिषद्भाष्ये तृतीये भृगुवल्ल्यध्याये तृतीयोऽनुवाकः।।३।।

च तत्कारणं क्रियाशक्तिविशिष्टतया [१]प्राणशब्दलक्ष्यं हिरण्यगर्भं संकल्पाध्यवसायशक्तिविशिष्टतया च मनोविज्ञानशब्दलक्ष्यं ब्रह्मेति व्यजानात्।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छुद्धानन्दपूज्यपादशिष्यानन्दज्ञानविरचितायां तैत्तिरीयोपनिषच्छांकरभाष्यटीकायां भृगुवल्ल्यध्याये तृतीयोऽनुवाकः।।३।।

---

१. आध्यात्मिकवायावेव प्राणशब्दरूढेराह — प्राणशब्दलक्ष्यमिति। एवमग्रेऽपि द्रष्टव्यम्।

अथ भृगुवल्ल्यां पञ्चमोऽनुवाकः।

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्। विज्ञानाद्ध्येव खल्वि-
मानि भूतानि जायन्ते। विज्ञानेन जातानि जीवन्ति।
विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तद्विज्ञाय। पुनरेव
वरुणं पितरमुपससार। अधीहि भगवो ब्रह्मेति।
तꣳ होवाच। तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व। तपो
ब्रह्मेति। स तपोऽतप्यत। तपस्तप्त्वा।

इति कृष्णयजुर्वेदीयतैत्तिरीयोपनिषदि तृतीये भृगुवल्ल्यध्याये
पञ्चमोऽनुवाकः।।५।।

अथ भृगुवल्ल्यध्याये षष्ठोऽनुवाकः।

आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्। आनन्दाद्ध्येव खल्वि-
मानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि

विज्ञान ब्रह्म है ऐसा जाना, क्योंकि विज्ञान से ही ये सभी प्राणी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न हुए विज्ञान से ही प्राण धारण करते हैं और मरणोन्मुख होने पर विज्ञान में लीन हो जाते हैं। ऐसा जानकर भृगु फिर अपने पिता वरुण के निकट आया। हे भगवन्! मुझे ब्रह्म का बोध करावें! वरुण ने भृगु ने तप किया और तप करके।।१।।

।।इति पञ्चमोऽनुवाकः।।

आनन्द ब्रह्म है ऐसा जाना, क्योंकि आनन्द से ही ये सभी प्राणी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न हुए

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ तैत्तिरीयोपनिषदि तृतीये भृगुवल्ल्यध्यायभाष्ये चतुर्थपञ्चमावनुवाकौ।।४।।५।।

एवं तपसा [1]विशुद्धात्मा प्राणादिषु साकल्येन ब्रह्मलक्षणमपश्यञ्शनैः शनैरन्तरनु-प्रविश्यान्तरतममानन्दं ब्रह्म विज्ञातवांस्तपसैव साधनेन भृगुस्तस्माद्ब्रह्म विजिज्ञासुना

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छुद्धानन्दपूज्यपादशिष्यानन्दज्ञानविरचितायां तैत्तिरी-योपनिषच्छांकरभाष्यटीकायां तृतीये भृगुवल्ल्यध्याये चतुर्थपञ्चमावनुवाकौ।।४।।५।।

आनन्द को ब्रह्म रूप से निश्चय करना तथा भार्गवी विद्या की महिमा एवं फल

इस प्रकार तप के द्वारा विशुद्ध अन्तःकरण वाले उस भृगु ने प्राणादि में सम्पूर्णतया ब्रह्म का लक्षण न देखते हुए धीरे-धीरे भीतर प्रवेश कर सर्वान्तर आनन्दरूप ब्रह्म को तप रूप साधन के

---

१. विशुद्धात्मा विसंशयः।

जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। सैषा भार्गवी वारुणी विद्या। परमे व्योमन्प्रतिष्ठिता। स य एवं वेद प्रतितिष्ठति। अन्नवानन्नादो भवति। महान्भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन। महान्कीर्त्या।।

इति कृष्णयजुर्वेदीयतैत्तिरीयोपनिषदि तृतीये भृगुवल्ल्यध्याये षष्ठोऽनुवाकः।।६।।

आनन्द से जीवित रहते हैं और विनाशोन्मुख हुए आनन्द में ही प्रविष्ट हो जाते हैं। वह यह वरुण से उपदिष्ट और भृगु से ज्ञात ब्रह्मविद्या हृदयाकाश के भीतर (अद्वैत परमानन्दरूप में) स्थित है। जो ऐसा जानता है वह परब्रह्म में स्थिति प्राप्त करता है, यानी ब्रह्म ही हो जाता है। वह अन्नवान् और अन्न का भोक्ता (प्रदीप्ताग्नि) हो जाता है। वह प्रजा, पशु और शमदमादि ज्ञान के साधन रूप ब्रह्मतेज से युक्त हो महान् होता है तथा (शुभाचरण के कारण होने वाली) ख्याति से भी महान् होता है।।१।।

।।इति षष्ठोऽनुवाकः।।

बाह्यान्तःकरणसमाधानलक्षणं परमं तपःसाधनमनुष्ठेयमिति प्रकरणार्थः।

अधुनाऽऽख्यायिकातोऽपसृत्य श्रुतिः स्वेन वचनेनाऽऽख्यायिकानिर्वृत्तमर्थमाचष्टे —

सैषा भार्गवी भृगुणा विदिता वरुणेन प्रोक्ता वारुणी विद्या परमे व्योमन्[१]हृदयाकाशगुहायां परम आनन्देऽद्वैते प्रतिष्ठिता परिसमाप्ताऽन्नमयादात्मनो[२]ऽधिप्रवृत्ता। य एव-

---

[३]तस्यापि [४]कार्यत्वाल्लक्षणं परिपूर्णं न भवतीति विचार्य तत्कारणं [५]स्वातन्त्र्येण निश्चित्य सर्वैः प्रार्थ्यमानतयाऽऽनन्दशब्दवाच्यं मायाविशिष्टं ब्रह्मेति विज्ञाय [६]विशिष्टस्य विशिष्टान्तरात्मत्वानुपपत्तेः [७]कारणत्वोपलक्षितं विशुद्धानन्दं ब्रह्मेति विज्ञातवानित्यर्थः।

द्वारा ही जाना। इसीलिये ब्रह्मजिज्ञासु को बाह्य तथा आभ्यन्तर करणों का समाधान रूप श्रेष्ठ साधन तप का ही अनुष्ठान करना चाहिये। यही प्रकारण का अर्थ है।

अब आख्यायिका का उपसंहार कर आख्यायिका से निष्पन्न अर्थ को श्रुति अपने वाक्य से कहती है।

वरुण से कही गयी और भृगु द्वारा जानी गयी वही यह विद्या भार्गवी वारुणी विद्या सर्व उत्कृष्ट हृदयाकाश रूप गुहा में स्थित अद्वैत परमानन्द में प्रतिष्ठित जो अन्नमय आत्मा से आरम्भ कर

---

१. हृदयगुहायां वर्तमाने इति शेषः। २. अधि उपरि प्रवृत्तेत्यर्थः। ३. तस्यापीति — प्राणमनोविज्ञान-शब्दलक्ष्यस्य हिरण्यगर्भस्यापीत्यर्थः। ४. कार्यत्वादिति — तथा च श्रुतिः "हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे" इत्याद्या। स्मृतिश्च — "त दण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम्। तस्मिञ्जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः" मनु० १।९। इत्याद्या। ५. स्वातन्त्र्येणेति — अन्नं प्राणमित्यादिपितृवाक्येऽनुक्तत्वादानन्दस्येति भावः। ६. विशिष्टस्य विशिष्टान्त-रात्मत्वानुपपत्तेरिति — न हि विशिष्टमेव विशिष्टस्य अन्तरात्मा संभवति यस्मात्तस्मादित्यर्थः। ७. कारण-त्वोपलक्षितमिति न तु तद्विशिष्टमिति भावः।

मन्योऽपि तपसैव साधनेनानेनैव क्रमेणानुप्रविश्याऽऽनन्दं ब्रह्म वेद स एवं विद्याप्रतिष्ठानात्प्रतितिष्ठत्यानन्दे परमे ब्रह्मणि, [1]ब्रह्मैव भवतीत्यर्थः।

दृष्टं व फलं तस्योच्यते —

अन्नवान्प्रभूतमन्नमस्य विद्यत इत्यन्नवान्। सत्तामात्रेण तु सर्वो ह्यन्नवानिति विद्याया विशेषो न स्यात्। एवमन्नमतीत्यन्नादो दीप्ताग्निर्भवतीत्यर्थः। महान्भवति। केन महत्त्वमित्यत आह — प्रजया पुत्रादिना पशुभिर्गवाश्वादिभिर्ब्रह्मवर्चसेन शमदमज्ञानादिनिमित्तेन [2]तेजसा। महान्भवति कीर्त्या ख्यात्या [3]शुभप्रचारनिमित्तया।।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ तैत्तिरीयोपनिषदि तृतीयभृगुवल्ल्यध्यायभाष्ये षष्ठोऽनुवाकः।।६।।

प्रभूतत्वविशेषण[4]मश्रुतं कथं निक्षिप्यत इत्याशङ्क्याऽऽह — सत्तामात्रेणेति। अन्नसत्तामात्रे विवक्षिते श्वसूकरादिरपि शरीरस्थित्याक्षिप्तान्नेनान्नवानिति विद्यायाः फलविशेषो नोक्तः स्यादतस्[5]तद्बलात्प्रभूतत्वविशेषणं निक्षिप्तमित्यर्थः। एतच्च दृष्टफलं ब्रह्मविदो जीवन्मुक्तस्याप्यविद्यालेशवशाद्द्वैताभासं पश्यतो नानुपपन्नं यस्येश्वरस्यानुग्रहादविदुषामप्यन्नादिसमृद्धिर्दृश्यते किमुत [6]तदात्मतत्त्वं साक्षादनुभवतामिति।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छुद्धानन्दपूज्यपादशिष्यानन्दज्ञानविरचितायां तैत्तिरीयोपनिषच्छांकरभाष्यटीकायां तृतीये भृगुवल्ल्यध्याये षष्ठोऽनुवाकः।।६।।

यहाँ पर परिसमाप्त हुई। इस प्रकार जो अन्य भी साधक इसी क्रम से तपरूप साधन के द्वारा ही अनुप्रविष्ट हो आनन्द ब्रह्म को जानता है, वह ऐसी विद्या में प्रतिष्ठित होने के कारण आनन्द स्वरूप परब्रह्म में प्रतिष्ठा प्राप्त करता है; ब्रह्म ही हो जाता है।

इसके अतिरिक्त उसका दृष्टफल भी कहा जाता है उसके पास पर्याप्त अन्न होने के कारण अन्नवान् हो जाता है। अन्न की सत्तामात्र से अन्न वाले सभी हो सकते हैं, फिर विद्या का विशेष क्या हुआ? इसे बतलाते हैं कि इस प्रकार न केवल अन्न वाला होता है, अपितु अन्न खाने वाला, प्रदीप्ताग्नि वाला भी हो जाता है तथा पुत्रादि प्रजा गवाश्वादि पशु और शम-दम ज्ञानादि निमित्तक ब्रह्मतेज के कारण भी वह महान् हो जाता है। इतना ही नहीं बल्कि शुभाचरण से होने वाली ख्यातिरूप कीर्ति के कारण भी वह महान् हो जाता है।

---

१. ब्रह्मणि तिष्ठतीत्युक्त्या शङ्कितमाधाराधेयभावेन भेदमपवदति — ब्रह्मैव भवतीति। तथा च तादात्म्यमाश्रित्यैव तथोक्तिरिति भावः। २. तेजसा — त्वग्दीप्तया। ३. शुभेति — शुभस्यात्मज्ञानस्योपदेशेन शिष्यादिषु प्रचारः। शुभो वा शास्त्रीय आचारस्तन्निमित्तयेत्यर्थः। ४. अश्रुतमिति — तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुबित्यस्तित्वमात्रे मतुपो विधानादिति भावः ५. तद्बलादिति — तथा चैवमादिसामर्थ्याक्षिप्ते ष्वर्थविशेषे ष्वपि मतुबिष्टो च सत्तामात्र एव। यथाहुः — "भूमनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने। संबन्धेऽस्तिविवक्षायां भवन्ति मतुबादय" इति। इति भावः। ६. तदात्मतत्त्वमिति — तस्येश्वरात्मनस्तत्त्वं याथात्म्यं प्रत्यगभिन्नत्वमित्यर्थः।

अथ भृगुवल्ल्यध्याये सप्तमोऽनुवाकः।

अन्नं न निन्द्यात्। तद्व्रतम्। प्राणो वा अन्नम्। शरीरमन्नादम्। प्राणे शरीरं प्रतिष्ठितम्। शरीरे प्राणः प्रतिष्ठितः। तदेतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम्। स य एतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितं वेद प्रतितिष्ठति। अन्न-वानन्नादो भवति। महान्भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्म-वर्चसेन। महान्कीर्त्या।

इति कृष्णयजुर्वेदीयतैत्तिरीयोपनिषदि तृतीये भृगुवल्ल्यध्याये सप्तमोऽनुवाकः।।७।।

(गुरु के समान ही) अन्न की भी निन्दा न करे, यह ब्रह्मवेत्ता के लिये व्रत है। (शरीर के भीतर रहने के कारण) प्राण ही अन्न है और शरीर अन्नाद है। प्राण में शरीर स्थित है और शरीर में प्राण प्रतिष्ठित है। इस प्रकार (परस्पर एक दूसरे के आश्रित होने से) दोनों अन्न ही अन्न में प्रतिष्ठित हैं (अर्थात् आश्रित होने से अन्न है और आधार होने से अन्नाद है) जो इस प्रकार अन्न को अन्न में स्थित जानता है वह प्रख्यात होता है। अन्नवान् और अन्न का भोक्ता होता है। प्रजा, पशु तथा ब्रह्मतेज के कारण महान् होता है एवं ख्याति के कारण भी महान् होता है।।१।।

।।इति सप्तमोऽनुवाकः।।

किंचान्नेन द्वारभूतेन ब्रह्म विज्ञातं यस्मात्तस्माद्गुरुमिवान्नं न निन्द्यात्तदस्यैवं ब्रह्मविदो [1]व्रतमुपदिश्यते। व्रतोपदेशोऽन्नस्तुतये, स्तुतिभाक्त्वं चान्नस्य ब्रह्मोपलब्ध्युपाय-त्वात्। प्राणो वा अन्नम्। शरीरान्तर्भावात्प्राणस्य। यद्यस्यान्तः प्रतिष्ठितं भवति

अन्नमपकृष्टं प्राप्तं न निन्द्यात्। "यदृच्छया चोपपन्नमद्याच्छ्रेष्ठमुतावरम्" इत्युक्तत्वात्। [2]ब्रह्मविदो नियमाभिधानं [3]साधकस्या[4]नुष्ठानार्थम्। एवं वाक्यार्थज्ञाने लक्ष्यपदार्थानुसंधानं मुख्यं साधनं तत्फलं चोपसंहृत्याधुना विचारासमर्थस्य मन्दाधिकारिणोऽन्नान्नादरूपेण प्राणाद्युपासनं गौणं साधनं विधत्ते – प्राणो वा अन्नमित्यादिना।

अन्न की अनिन्दा रूप व्रत तथा शरीरादि अन्न ब्रह्म की उपासना का फल

क्योंकि ब्रह्म उपलब्धि के द्वाररूप अन्न से ब्रह्म जाना गया, इसलिये गुरु की भाँति अन्न की निन्दा न करें। इस प्रकार इस ब्रह्मज्ञानी के उस व्रत का उपदेश किया गया। व्रत उपदेश अन्न की स्तुति के लिये है। ब्रह्मप्राप्ति के साधन होने से अन्न स्तुति योग्य है। जो जिसके भीतर प्रतिष्ठित होता है, वह भीतर रहने वाला पदार्थ उसका अन्न हो जाता है। निःसन्देह शरीरन्तर्वर्ती होने के कारण

---

१. व्रतं नियमः। २. ब्रह्मविद इत्यादि – "न ततो विजुगुप्सत" इति ब्रह्मविदो निन्दाकर्तृत्वाप्रसङ्गादेव तन्निषेधायो-गादिति भावः। ३. साधकस्येति – यथोक्तज्ञानसाधनान्यनुतिष्ठत इत्यर्थः। यथोक्तेति वस्तुतस्तु प्राणशरीरयोरन्नान्नादगुणत्वेनोपासकस्येत्येवार्थः। ४. अनुष्ठानार्थं प्रयत्नसंपाद्यम्। सिद्धस्य स्वभावभूतमिति भावः।

अथ भृगुवल्ल्यध्यायेऽष्टमोऽनुवाकः।

अन्नं न परिचक्षीत। तद्व्रतम्। आपो वा अन्नम्। ज्योतिरन्नादम्। अप्सु ज्योतिः प्रतिष्ठितम्। ज्योतिष्यापः प्रतिष्ठिताः। तदेतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम्। स य एतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितं वेद प्रति-

अन्न का प्रत्याख्यान न करे, यह व्रत है। जल ही अन्न है, ज्योति अन्नाद है। जल में ज्योति स्थित है और ज्योति में जल स्थित है। इस प्रकार ये दोनों अन्न ही अन्न में प्रतिष्ठित हैं। जो इस प्रकार अन्न को अन्य में प्रतिष्ठित जानता है वह प्रतिष्ठित होता है, वह अन्नवान् और अन्न का

तत्तस्यान्नं भवतीति। शरीरे च प्राणः प्रतिष्ठितस्तस्मात्प्राणोऽन्नं शरीरमन्नादम्। तथा शरीरमप्यन्नं प्राणोऽन्नादः। कस्मात्प्राणे शरीरं प्रतिष्ठितम्। तन्निमित्तत्वाच्छरीरस्थितेः। तस्मात्तदेतदुभयं शरीरं प्राणाश्चान्नमन्नादश्च। येनान्योन्यस्मिन्प्रतिष्ठितं तेनान्नम्। येनान्योन्यस्य प्रतिष्ठा तेनान्नादः। तस्मात्प्राणः शरीरं चोभयमन्नमन्नादं च।

स य एवमेतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितं वेद प्रतितिष्ठत्य[१]न्नान्नादात्मनैव। किंचान्नवानन्नादो भवतीत्यादि पूर्ववत्।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ तैत्तिरीयोपनिषदि तृतीये भृगुवल्ल्यध्याये सप्तमोऽनुवाकः।।७।।

अन्नं न परिचक्षीत [२]न च परिहरेत् तद्व्रतं पूर्ववत्स्तुत्यर्थम्। तदेव [३]शुभाशुभकल्पनयाऽपरिगृह्यमाणं स्तुतं महीकृतमन्नं स्यादेवं यथोक्तमुत्तरेष्वप्यापो वा

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छुद्धानन्दपूज्यपादशिष्यानन्दज्ञानविरचितायां तैत्तिरीयोपनिषच्छांकरभाष्यटीकायां तृतीये भृगुवल्ल्यध्याये सप्तमोऽनुवाकः।।७।।

प्राण भी अन्न है क्योंकि शरीर में प्राण प्रतिष्ठित है। इसलिये प्राण अन्न है और शरीर अन्नाद (अन्न का भोक्ता) है। वैसे ही शरीर भी अन्न है और प्राण अन्नाद है क्योंकि प्राणारूप अन्न के कारण से ही शरीर की स्थिति बनी रहती है। इसलिये प्राण में शरीर प्रतिष्ठित है। अतः ये शरीर और प्राण दोनों ही अन्न एवं अन्नाद हैं। अन्योऽन्य में प्रतिष्ठित होने के कारण वह अन्न है और प्रतिष्ठा के कारण परस्पर अन्नाद भी है। इसलिये प्राण और शरीर दोनों अन्न एवं अन्नाद हैं।

इस प्रकार वह जो भी कोई साधक इस अन्न को अन्न में प्रतिष्ठित जानता है, वह अन्न और अन्नादरूप से ही प्रतिष्ठा प्राप्त करता है। इतना ही नहीं, पूर्व मन्त्रोक्त फल की भाँति इस मन्त्र में कही गई साधना का फल भी 'अन्नवान्नादो भवति' इत्यादि पहले की भाँति ही है।

---

१. अन्नान्नादात्मनेति — प्राणशरीरात्मनेत्यर्थः। तदात्मना प्रतिष्ठायाश्च स्वतः सिद्धत्वात्तदात्मना चिरं तिष्ठति जीवतीति। सामर्थ्यादवगम्यते। २. न च परिहरेदिति — न निन्द्यादिति पूर्वविहितव्रतसमुच्चयार्थश्चकारः। तथा च प्राणशरीरयोरन्नान्नादगुणत्वेनोपासकस्येदं व्रतद्वयमिति फलतीत्यवधेयम्। ३. शुभाशुभेति — अत्र शुभाशुभाऽकल्पनया परिगृह्यमाणमित्येव साधीयान् पाठः।

तिष्ठति। अन्नवानन्नादो भवति। महान्भवति
प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन। महान्कीर्त्या।
इति कृष्णयजुर्वेदीयतैत्तिरीयोपनिषदि तृतीये भृगुवल्ल्यध्याये-
ऽष्टमोऽनुवाकः।।८।।

अथ भृगुवल्ल्यध्याये नवमोऽनुवाकः।

अन्नं बहु कुर्वीत। तद्व्रतम्। पृथिवी वा अन्नम्।
आकाशोऽन्नादः। पृथिव्यामाकाशः प्रतिष्ठितः।
आकाशे पृथिवी प्रतिष्ठिता। तदेतदन्नमन्ने प्रति-
ष्ठितम्। स य एतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितं वेद प्रति-
तिष्ठति। अन्नवानन्नादो भवति। महान्भवति प्रजया
पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन। महान्कीर्त्या।।

भोक्ता होता है। प्रजा पशु और ब्रह्मतेज के कारण महान् होता है। तथा ख्याति के कारण भी महान् होता है।।१।।

।।इत्यष्टमोऽनुवाकः।।

बहुत अन्न उपजावे, यह व्रत है। पृथिवी ही अन्न है, आकाश अन्नाद है। पृथिवी में आकाश प्रतिष्ठित है और आकाश में पृथिवी प्रतिष्ठित है। इस प्रकार ये दोनों अन्न में प्रतिष्ठित है। जो इस प्रकार अन्न को अन्न में स्थित जानता है वह प्रतिष्ठित होता है, अन्नवान् और अन्न का भोक्ता होता

अन्नमित्यादिषु योजयेत्। अप्सु ज्योतिरित्यब्ज्योतिषोरन्नान्नादगुणत्वेनोपासकस्यान्नस्य बहुकरणं व्रतम्।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ तैत्तिरीयोपनिषदि तृतीये भृगुवल्ल्यध्यायेऽष्टमोऽनुवाकः।।८।।

तथा पृथिव्याकाशोपासकस्य वसतौ वसतिनिमित्तं कंचन कंचिदपि न प्रत्या-

---

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छुद्धानन्दपूज्यपादशिष्यानन्दज्ञानविरचितायां तैत्तिरी-
योपनिषच्छांकरभाष्यटीकायां तृतीये भृगुवल्ल्यध्यायेऽष्टमोऽनुवाकः।।८।।

अन्न का परिहार न करे। इस साधक के लिये वह व्रत है यह प्रसङ्ग भी पूर्व के समान ही अन्न की स्तुति के लिये है। इस प्रकार शुभाशुभ कल्पना से परिहार न करने योग्य अन्न की स्तुति हो जाती है और वह महिमान्वित होता है। इस प्रकार पूर्वोक्त प्रसङ्ग की भाँति आगे भी 'आपो वा अन्नम्' इत्यादि योजना कर लेनी चाहिये। 'अप्सु ज्योतिः प्रतिष्ठितम्' इत्यादि वाक्य द्वारा जल और अग्नि में परस्पर अन्न अन्नादरूप गुण होने के कारण उपासक प्रभूत अन्य का संग्रहरूप व्रत लेना चाहिये (शेष मन्त्र भाग अतिसरल होने के कारण भाष्यकार ने उसकी व्याख्या नहीं की। ऐसे सभी स्थलों के मूल मन्त्र की व्याख्या विद्यानन्दी मिताक्षरा में देखें)

इति कृष्णयजुर्वेदीयतैत्तिरीयोपनिषदि तृतीये भृगुवल्ल्यध्याये नवमोऽनुवाकः।।९।।

अथ भृगुवल्ल्यध्याये दशमोऽनुवाकः।

न कंचन वसतौ प्रत्याचक्षीत। तद्व्रतम्। तस्माद्यया कया च विधया बह्वन्नं प्राप्नुयात्। अराध्यस्मा अन्नमित्याचक्षते। एतद्वै मुखतोऽन्नꣳ राद्धम्। मुखतोऽस्मा अन्नꣳ राध्यते। एतद्वै मध्यतोऽन्नꣳ राद्धम्। मध्यतोऽस्मा अन्नꣳ राध्यते। एतद्वा अन्ततोऽन्नꣳराद्धम् अन्ततोऽस्मा अन्नꣳराध्यते (१)।

है। प्रजा, पशु और ब्रह्मतेज से महान् होता है तथा कीर्ति से भी महान् होता है।।१।।

।।इति नवमोऽनुवाकः।।

निवास के लिए घर पर आये हुए किसी का भी (अतिथि का) परित्याग न करें, (पृथिवी और आकाश की उपासना करने वालों के लिये) यह व्रत है। इसलिये गृहागत अतिथिसत्कार के लिये किसी न किसी प्रकार खूब अन्न प्राप्त करें (क्योंकि अन्नउपासक गृहागत) उस अतिथि से "मैंने अन्न तैयार किया है" ऐसा कह कर परित्याग नहीं करते। जो गृहस्थ सत्कारपूर्वक सिद्ध किया हुआ अन्न अतिथि को देता है उसे मुख्यवृत्ति से ही अन्न प्राप्त होता है। जो मध्यमवृत्ति से सिद्ध किया हुआ अन्न है उसे मध्यमवृत्ति से ही अन्न प्राप्त होता है और जो निकृष्टवृत्ति से (तिरस्कार पूर्वक) सिद्ध किया हुआ अन्न देता है उसे निकृष्टवृत्ति से अन्न प्राप्त होता है।।१।। जो इस प्रकार जानता

चक्षीत वसत्यर्थमागतं न निवारयेदित्यर्थः। वासे च दत्तेऽवश्यं ह्यशनं दातव्यम्। तस्माद्यया कया च विधया येन केन च प्रकारेण बह्वन्नं प्राप्नुयाद्बह्वन्नसंग्रहं कुर्यादित्यर्थः। यस्मादन्नवन्तो विद्वांसोऽभ्यागतान्नार्थिनेऽराधि संसिद्धमस्मा अन्नमित्या-चक्षते न नास्तीति प्रत्याख्यानं कुर्वन्ति तस्माच्च हेतोर्बह्वन्नं प्राप्नुयादिति पूर्वेण संबन्धः। अपि चान्नदानस्य माहात्म्यमुच्यते। यथा यत्कालं प्रयच्छत्यन्नं तथा तत्कालमेव

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छुद्धानन्दपूज्यपादशिष्यानन्दज्ञानविरचितायां तैत्तिरी-योपनिषच्छांकरभाष्यटीकायां तृतीये भृगुवल्ल्यध्याये नवमोऽनुवाकः।।९।।

अतिथि सत्कार का विधान और फल एवं प्रकारान्तर से ब्रह्म की उपासना

निवास के लिये घर पर आये हुए किसी भी अभ्यागत का तिरस्कार न करे; ऐसा पृथिवी एवं आकाश की उपासना करने वाले साधक का व्रत होना चाहिये। (पृथिवी आश्रय देती है और आकाश सबको अवकाश देता है, इन दोनों की उपासना करने वाले का यह व्रत होना चाहिये कि उसके निवास स्थान पर आने वाले अभ्यागत को निवास देवें) वास देने पर उसे भोजन भी अवश्य

य एवं वेद। क्षेम इति वाचि। योगक्षेम

इति प्राणापानयोः। कर्मेति हस्तयोः। गतिरिति

है (उसे पूर्वोक्त फल की प्राप्ति होती है। अब प्रकारान्तर से ब्रह्मोपासना बतलाते हैं।) ब्रह्म वाणी में क्षेमरूप से, योगक्षेमरूप से प्राण और अपान में, कर्मरूप से हाथों में, गतिरूप से चरणों में और विसर्गरूप से गुदा में (उपासनीय है), यह मनुष्य सम्बन्धी उपासना बतलायी गयी है। अब

---

[1]प्रत्युपनमते।

कथमिति तदेतदाह —

एतद्वा अन्नं मुखतो मुख्ये प्रथमे वयसि मुख्यया वा वृत्त्या पूजापुरःसरमभ्यागतायान्नार्थिने राद्धं संसिद्धं प्रयच्छतीति वाक्यशेषः। तस्य किं फलं स्यादित्युच्यते — मुखतः पूर्वे वयसि मुख्यया वा वृत्त्याऽस्मा अन्नदायान्नं राध्यते यथादत्तमुपतिष्ठत इत्यर्थः। एवं मध्यतो मध्यमे वयसि मध्यमेन चोपचारेण। तथाऽन्ततोऽन्ते वयसि जघन्येन चोपचारेण परिभवेन तथैवास्मै राध्यते संसिध्यत्यन्नम्। य एवं वेद य एवमन्नस्य यथोक्तं माहात्म्यं वेद [2]तद्दानस्य यथोक्तं फलमु[3]पनयेत्।

इदानीं ब्रह्मण उपासनप्रकार उच्यते —

क्षेम इति वाचि। क्षेमो नामोपात्तपरिरक्षणम्। ब्रह्म वाचि क्षेमरूपेण प्रतिष्ठितमित्युपास्यम्। योगक्षेम इति, योगोऽनुपात्तस्योपादानम्। तौ हि योगक्षेमौ प्राणापानयोः

देना चाहिये। अतः जिस किसी प्रकार से अधिकाधिक अन्न का संग्रह करे क्योंकि अन्न वाले उपासक के घर में आये हुए इस अन्नार्थी अभ्यागत के लिए अन्न पका हुआ है, ऐसा कहते हैं; अन्न नहीं है, इस प्रकार कहकर उस अन्नार्थी का तिरस्कार नहीं करते। इसी कारण से वह उपासक बहुत अन्न संग्रह करे। ऐसा पूर्व के साथ सम्बन्ध है और अन्नदान का माहात्म्य भी कहा जाता है। यथा जिस काल में अन्न देता है; वैसे ही उस काल में अन्न प्राप्त करता भी है।

कैसे? इस पर श्रुति कहती है।

जीवन के प्रथम वय अथवा मुख्य वृत्ति को मुखतः शब्द से कहा गया है। अतः यह उपासक प्रथम अवस्था में अथवा आदर पूर्वक मुख्यवृत्ति से अन्नार्थी अभ्यागत को अन्न देता है, यह वाक्य शेष है। उसका क्या फल मिलेगा? इसे श्रुति बतलाती है कि जीवन की प्रथमावस्था में अथवा मुख्यवृत्ति से ही उस अन्नदाता को अन्न प्राप्त होता है; अर्थात् जैसे देता है, वैसे ही उसको मिलता है। ऐसे ही मध्यम अवस्था में अथवा मध्यम उपचार से अन्न देने वाले को उसके अनुरूप ही फल मिलता है। वैसे ही अन्तिमावस्था और तिरस्कार पूर्वक अन्न देने वाले को तदनुरूप ही अन्न मिलता है। इस प्रकार जो अन्न के यथोक्त माहात्म्य को और उसके दान से होने वाले पूर्वोक्त फल को जानता है, उसे यथोक्त फल प्राप्त होता है। यह बतलाया गया है।

---

१. प्रत्युपनमते प्राप्नोति। २. तद्दानस्येति — स इत्यादिः। ३. उपनयेत् प्राप्नुयात्। यद्यपि माहात्म्यमजानानस्यापि दानं न विफलं तथापि माहात्म्यज्ञानपूर्वकं क्रियमाणस्य फलेऽतिशय इति सामर्थ्यादवगम्यते। फलेऽतिशय इति माहात्म्यवेदने श्रद्धातिशयसंभवात्फलातिशयो न्याय्य इत्यवधेयम्।

पादयोः। विमुक्तिरिति पायौ। इति मानुषीः समाज्ञाः। अथ दैवीः। तृप्तिरिति वृष्टौ। बलमिति

देवताओं में होने वाली उपासना कही जाती है—तृप्तिरूप से ब्रह्म ही वृष्टि में, बलरूप से विद्युत् में उपासनीय है।।२।। यशरूप से पशुओं में, ज्योतिरूप से नक्षत्रों में, पुत्रादि प्रजा, पितृ ऋण से मुक्त

सतोर्भवतो यद्यपि तथाऽपि न प्राणापाननिमित्तावेव किं तर्हि ब्रह्मनिमित्तौ। तस्माद्ब्रह्म योगक्षेमात्मना प्राणापानयोः प्रतिष्ठितमित्युपास्यम्। एवमुत्तरेष्वन्येषु तेन तेनाऽऽत्मना ब्रह्मैवोपास्यम्। कर्मणो ब्रह्मनिर्वर्त्यत्वाद्धस्तयोः कर्मात्मना ब्रह्म प्रतिष्ठितमित्युपास्यम्। गतिरिति पादयोः विमुक्तिरिति पायौ। इत्येता मानुषीर्मनुष्येषु भवा [१]मानुष्यः [२]समाज्ञाः, आध्यात्मिक्यः समाज्ञा ज्ञानानि विज्ञानान्युपासनानीत्यर्थः।

अथानन्तरं दैवीर्दैव्यो देवेषु भवाः समाज्ञा उच्यन्ते। तृप्तिरिति वृष्टौ। वृष्टेरन्नादिद्वारेण तृप्तिहेतुत्वाद्ब्रह्मैव तृप्त्यात्मना वृष्टौ व्यवस्थितमित्युपास्यम्। तथाऽन्येषु तेन तेनाऽऽत्मना ब्रह्मैवोपास्यम्। तथा बलरूपेण विद्युति। यशोरूपेण पशुषु। ज्योतीरूपेण नक्षत्रेषु। प्रजातिरमृतममृतत्वप्राप्तिः पुत्रेण ऋणविमोक्षद्वारेणाऽऽनन्दः सुखमित्येतत्सर्वमुपस्थनिमित्तं ब्रह्मैवानेनाऽऽत्मनोपस्थे प्रतिष्ठितमित्युपास्यम्। सर्वं ह्याकाशे प्रतिष्ठितमतो यत्सर्वमाकाशे तद्ब्रह्मैवेत्युपास्यम्। तच्चाऽऽकाशं ब्रह्मैव। तस्मात्तत्सर्वस्य प्रतिष्ठेत्युपासीत। प्रतिष्ठागुणोपासनात्प्रतिष्ठावान्भवति। एवं पूर्वेष्वपि यद्यत्तदधीनं फलं

उपासनमपि फलानभिसंधिनाऽनुष्ठितं बुद्धिशुद्धिद्वारेण ब्रह्मज्ञानायोपकरोतीत[३]युक्तं मुख्याधि-

---

अब ब्रह्म उपासना का प्रकार 'क्षेम इति वाचि' इत्यादि वाक्य से बतलाया जाता है। प्राप्त की परिरक्षा का नाम क्षेम है। वाणी में क्षेमरूप से ब्रह्म प्रतिष्ठित है। इस प्रकार उपासना करनी चाहिये। अप्राप्त की प्राप्ति का नाम योग है। वे योग और क्षेम प्राणापान की विद्यमानता में ही यद्यपि होते हैं; फिर भी प्राणापान के निमित्त ही योगक्षेम नहीं होते। तो फिर कैसे होते हैं? ब्रह्म निमित्तक होते हैं। इसलिये प्राणापान में योगक्षेम रूप से ब्रह्म प्रतिष्ठित है। इस प्रकार उपासना करनी चाहिये। ऐसे ही आगे के दूसरे स्थलों में तत्तद्रूप से ब्रह्म ही उपास्य है। कर्म ब्रह्म से ही निष्पन्न होता है। इसलिये हाथों में कर्मरूप से ब्रह्म प्रतिष्ठित है, गतिरूप से ब्रह्म चरणों में प्रतिष्ठित है और विमुक्तिरूप से वही ब्रह्म गुदा में प्रतिष्ठित है। इस प्रकार उपासना करनी चाहिये। मनुष्यों में होने के कारण यह सब मानुषी समाज्ञा अर्थात् आध्यात्मिक उपासनाएँ कही जाती हैं।

अब इसके आगे दैवी समाज्ञा बतला दी जाती हैं। देवताओं में होने वाली दैवी समाज्ञा 'तृप्तिरिति वृष्टौ' इत्यादि वाक्य से कही जाती है। अन्नादि के द्वारा वृष्टि तृप्ति का कारण है। अतः तृप्तिरूप से वृष्टि में ब्रह्म ही व्यवस्थित है, इस रूप में उपासना करनी चाहिये। वैसे ही अन्य स्थलों में भी उस-उसरूप से ब्रह्म ही उपास्य है। विद्युत् में बलरूप से ब्रह्म उपासना योग्य है। यशरूप से पशुओं में,

---

१. प्रथमार्थैव च्छान्दसी द्वितीयेत्याशयेनाह — मानुष्य इति। २. समाज्ञा उक्त इति शेषः। ३. इत्युक्तमिति — इत्यभिप्रायेणैव ज्ञानकाण्डेऽत्रोपासनमुक्तमित्यर्थः।

विद्युति (२)। यश इति पशुषु। ज्योतिरिति नक्षत्रेषु। प्रजातिरमृतमानन्द इत्युपस्थे। सर्वमित्याकाशे। तत्प्रतिष्ठेत्युपासीत। प्रतिष्ठावान्भवति। तन्मह इत्युपासीत। महान्भवति। तन्मन इत्युपासीत। मानवान्भवति (३) तन्नम इत्युपासीत। नम्यन्तेऽस्मै कामाः। तद्ब्रह्मेत्युपासीत। ब्रह्मवान्भवति।

होनारूप अमरत्व और आनन्दरूप से उपस्थ में, (स्थित ब्रह्म की उपासना करें) वह ब्रह्म सबका आधार है — ऐसा समझ कर उसकी उपासना करें, इसमें उपासक प्रतिष्ठावान् होता है। वह ब्रह्म महत्त्व गुण वाला है इस भाव से उसकी उपासना करें, इससे उपासक महान् होता है। वह मन ब्रह्म है इस प्रकार उपासना करें, इससे उपासक मनन करने में समर्थ होता है।।३।। वह 'नमः' है इस प्रकार ब्रह्म की उपासना करें, इससे सम्पूर्ण भोग्यपदार्थ उपासक के पास विनम्र होकर जाते हैं। वह

तद्ब्रह्मैव तदुपासनात्तद्वान्भवतीति द्रष्टव्यम्। श्रुत्यन्तराच्च — "तं यथा यथोपासते तदेव भवति" (शतपथब्रा. १०-५-२-२०) इति

तन्मह इत्युपासीत। महो महत्त्वगुणवत्तदुपासीत। महान्भवति। तन्मन इत्युपासीत। मननं मनः। मानवान्भवति मननसमर्थो भवति। तन्नम इत्युपासीत। नमनं नमो नमनगुणवत्तदुपासीत। नम्यन्ते प्रह्वी भवन्त्यस्मा उपासित्रे कामाः काम्यन्त इति भोग्या विषया इत्यर्थः। तद्ब्रह्मेत्युपासीत। ब्रह्म [1]परिवृढतममित्युपासीत। ब्रह्मवांस्तद्गुणो भवति। तद्ब्रह्मणः परिमर इत्युपासीत। ब्रह्मणः परिमरः परिम्रियन्तेऽस्मिन्पञ्च देवता विद्युद्वृष्टिश्चन्द्रमा आदित्योऽग्निरित्येताः। अतो वायुः

कारिणस्त्व[2]पवादायोपकरिष्यति। यत्र वागादौ यत्फलं कार्यं क्षेमादीत्यर्थः।

ज्योतिरूप से नक्षत्रों में, पितृऋण मुक्ति के कारणभूत पुत्ररूप से आपेक्षिक अमृतत्व प्राप्ति को प्रजातिः कहते हैं। वह आनन्द यानी सुख यह सब उपस्थ निमित्तक है। अतः उपस्थ में ब्रह्म ही उस रूप से प्रतिष्ठित है, ऐसी उपासना करे। सभी आकाश में प्रतिष्ठित हैं, वह आकाश में सर्वरूप ब्रह्म ही उपास्य है और वह आकाश भी ब्रह्म ही है। इसीलिये वह सबकी प्रतिष्ठा है, ऐसी उपासना करे। प्रतिष्ठा गुण वाले की उपासना से उपासक प्रतिष्ठा वाला हो जाता है। ऐसे ही पहले भी जो फल जहाँ प्राप्त हुआ, वह ब्रह्म ही उस उपासना से तद्वान् उस गुण वाला होता है, ऐसा समझना चाहिये। "जिस - जिस प्रकार से उसकी उपासना करता है, उस उपासना के फलस्वरूप उपासक उपास्य के अनुरूप गुण वाला ही होता है" ऐसी अन्य श्रुति भी है।

वह ब्रह्म महत्त्व गुण वाला है, इस रूप में उसकी उपासना करे। उसके फलस्वरूप भी महान्

---

१. परिवृढतमं प्रभुतममित्यर्थः। "प्रभौ परिवृढ" इति सूत्रात्। २. अपवादायेति — अन्नान्नादत्वादिनिखिलोऽप्ययं प्रपञ्चः प्राणशरीराद्यनात्मनिष्ठ एवात्मन्यविद्यया भातीति मिथ्यैवेत्येवमात्मनि तदबाधसिद्ध्यर्थं भविष्यतीत्यर्थः। अनुपदमेव चैतद्भाष्ये स्पष्टी भविष्यति।

तद्ब्रह्मणः परिमर इत्युपासीत। पर्येणं म्रियन्ते द्विषन्तः सपत्नाः। परि येऽप्रिया भ्रातृव्याः। स यश्चायं पुरुषे। यश्चासावादित्ये। स एकः (४)

ब्रह्म सबसे बड़ा है, इस प्रकार उपासना करें। इससे वह ब्रह्म के समान गुण वाला होता है। वह ब्रह्म का परिमर (विद्युत्, वृष्टि, चन्द्रमा, आदित्य और अग्नि ये पाँच देवता जिसमें मरते हैं, ऐसा आकाश) है, इस प्रकार उसकी उपासना करें, इससे उस उपासक से द्वेष करने वाले प्रतिपक्षी मर जाते हैं तथा जो अप्रिय भाई के पुत्र होते हैं वे भी मर जाते हैं। वह जो इस पुरुष में है तथा जो उस आदित्य में है — एक ही है।।४।।

परिमरः श्रुत्यन्तरप्रसिद्धेः। स एष एवायं [१]वायुराकाशेनानन्य इत्याकाशो ब्रह्मणः परिमरस्त-माकाशं वाय्वात्मानं ब्रह्मणः परिमर इत्युपासीत। पर्येनमेवंविदं प्रतिस्पर्धिनो द्विषन्तोऽद्विषन्तोऽपि सपत्ना यतो भवन्त्यतो विशेष्यन्ते द्विषन्तः सपत्ना इति। य एनं द्विषन्तः सपत्नास्ते परिम्रियन्ते प्राणाञ्जहति। किंच ये चाप्रिया अस्य [२]भ्रातृव्या अद्विषन्तोऽपि [३]ते च परिम्रियन्ते।

प्राणो वा अन्नं शरीरमन्नादमित्यारभ्या[४]ऽऽकाशान्तस्य कार्यस्यैवान्नान्नादत्वमुक्तम्। उक्तं नाम किं तेन, तेनैतत्सिद्धं भवति, कार्यविषय एव भोज्यभोक्तृत्वकृतः संसारो न त्वात्मनीति। आत्मनि तु भ्रान्त्योपचर्यते।

महानिति। प्रजादिभिः। ब्रह्मवानिति। स्थूलभोगसाधनवान्विराडिवेत्यर्थः। श्रुत्यन्तरप्रसिद्धेरिति। [३]य एवमेताः पञ्च देवता वायुर्वाव संवर्ग इत्यादिश्रुत्यन्तराद्ब्रह्मणः संहर्तृत्वं वायुद्वारकमिति वायुर्ब्रह्मणः परिमरः। संहारसाधनमित्यर्थः। तत्कथं परिमरगुणतयाऽऽकाशोपासनं सिध्यतीत्यत आह — स एष इति।

हो जाता है। वह ब्रह्म मननात्मक मन है, इस रूप में उसकी उपासना करे तो इस उपासना के फल-स्वरूप उपासक मनन करने में समर्थ हो जाता है। नमन गुण वाले को 'नमः' शव्द से कहा गया है। अतः उस ब्रह्म की उपासना 'नमः' इस रूप में करे,। इससे उस उपासक के लिये सभी योग्य वस्तुएँ उपस्थित हो जाती हैं। अत्यन्त बढ़े हुए को ब्रह्म कहते हैं, ब्रह्मरूप से उसकी उपासना करे तो तदनुरूप वह उपासक ब्रह्मवान् हो जाता है। उस ब्रह्म की उपासना 'परिमर' इसरूप से करे। ब्रह्म में विद्युत् वृष्टि, चन्द्रमा, आदित्य और अग्नि ये सब मरते हैं, इसलिये ब्रह्म को परिमर नाम से कहा गया है। अतः वायु परिमर है, ऐसी दूसरी श्रुतियों में भी प्रसिद्ध है, वही यह वायु आकाश के साथ अभिन्न है। इसलिये आकाश भी ब्रह्म का परिमर है। अतः ब्रह्म के परिमररूप से आकाश और वायु की उपासना करे। ऐसी उपासना करने वाले के प्रतिस्पर्धी द्वेषी मर जाते हैं। कभी - कभी शत्रु द्वेषी नहीं भी होते हैं। इसलिये 'सपत्नाः' इसका विशेषण 'द्विषन्तः' है। जो उस ब्रह्मज्ञानी से द्वेष रखने वाले शत्रु

---

१. वायुराकाशेनानन्य इति - वायोराकाशकार्यत्वात्कार्यकारणयोश्च तादात्म्यादिति भावः। २. भ्रातृव्याः शत्रवः "भ्रातुर्व्यन्त्सपत्ने" इति सूत्रात्। ३. य एवमेताः पञ्चदेवता इत्येतन्मृग्यं वचः। ४. आकाशेति - पृथिवी वा अन्नमाकाशोऽन्नाद इत्युक्ताकाशेत्यर्थः।

नन्वात्माऽपि परमात्मनः [१]कार्यं ततो युक्तस्तस्य संसार इति। न। असंसारिण एव प्रवेशश्रुतेः। "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्" इत्याकाशादिकारणस्य ह्यसंसारिण एव परमात्मनः कार्येऽनुप्रवेशः श्रूयते। तस्मात्कार्यानुप्रविष्टो [२]जीव आत्मा पर एवासंसारी। सृष्ट्वाऽनुप्राविशदिति समानकर्तृ (क) त्वोपपत्तेश्च। सर्गप्रवेशक्रिययोश्चैकश्चेत्कर्ता ततः क्त्वाप्रत्ययो युक्तः। प्रविष्टस्य तु [३]भावान्तरापत्तिरिति चेत्। न। प्रवेशस्या[४]न्यार्थत्वेन प्रत्याख्यातत्वात्। "अनेन जीवेने"ति (छा.उ. ६-३-२) [५]विशेषश्रुतेर्धर्मान्तरेणानुप्रवेश इति चेत्। न।

एवं मन्दाधिकारिगोचरमुपासनजातमध्यारोपावस्थायामुपदिश्या[६]पवाददृष्टिमभिप्रेत्याऽऽह — प्राणो वा अन्नमित्यादिना।

भोक्तृत्वादिलक्षणः संसारः कार्यगोचर इति वदतैव जीवस्यादनौपाधिकं संसारित्वमिष्टं तस्यापि कार्यत्वादिति [७]भागवतानां मतमुद्भाव्य दूषयति — नन्वात्माऽपीत्यादिना। छान्दोग्यश्रुत्यनुसारेण विकारात्मना प्रवेशमाशङ्क्य वाक्यशेषविरोधमाह - अनेन जीवेनेत्यादिना। भ्रान्त्या देहादिभावमापन्नस्य ब्रह्मव्यतिरिक्तस्यैव ब्रह्मदृष्टिरुपदिश्यते संसारित्वापोहार्था। मातृबुद्धिरिव परयोषिति [८]रागापोहार्था।

हैं, वे मर जाते हैं, अर्थात् प्राण छोड़ बैठते हैं और जो उसके अप्रिय शत्रु द्वेष नहीं भी करते हैं, वे भी मर जाते हैं।

'प्राणो वा अन्नं शरीरमन्नादम्' आकाश पर्यन्त कार्य जगत् को ही अन्न और अन्न का भोक्ता कहा गया है। कहा तो है पर इससे लाभ क्या हुआ? इससे यह सिद्ध होता है कि भोज्य और भोक्तृत्व कृत संसार कार्य जगत् में ही है, आत्मा में नहीं। आत्मा में तो भ्रम से औपचारिक रूप से प्रतीत होता है।

जब जीवात्मा भी परमात्मा का कार्य है तो उस जीवात्मा में संसार धर्म का रहना उचित ही है। ऐसा कहना ठीक नहीं; असंसारी चेतन तत्त्व का ही प्रवेश सुना जाता है ' 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्" यहाँ पर आकाशादि प्रपञ्च के कारण असंसारी परमात्मा का ही कार्य में अनुप्रवेश सुना जाता है। अतः "सृष्ट्वानुप्राविशत्" इस वाक्य में सर्ग और उसमें प्रवेश क्रिया का कर्ता यदि एक हो तभी क्त्वा प्रत्यय का प्रयोग करना उचित होगा। "समानकर्तृकयोः पूर्वकाले" इस पाणिनीय सूत्र से सर्ग और प्रवेश क्रिया में एककर्तृकत्व सिद्ध होता है। यदि कहो कि प्रविष्ट हुए की पदार्थान्तरापत्ति हो जाती है तो ऐसा कहना ठीक नहीं; प्रवेश बतलाने वाले श्रुति वाक्य का प्रयोजन कुछ भिन्न ही है,

---

१. कार्यमिति — यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। यथा सुदीप्तात्पावकात्। सर्व आत्मानो व्युच्चरन्तीत्यादिवचनेभ्य इति भावः। २. जीव आत्मा पर एवेति — तथा च कार्यत्वव्यवहारस्तत्र तत्रौपाधिक एवेति भावः। ३. भावान्तरेति — तत्त्वतः संसारिरूपान्तरेत्यर्थः। ४. अन्यार्थत्वेनेति एतच्च ११३ इति पृष्ठे भाष्ये द्रष्टव्यम्। ५. विशेषेति — जीवेनेति विशेषश्रुतेरेव बलवत्त्वात्तदेवानुप्राविशदिति सर्वनाम्ना सामान्यश्रुतेस्तदनुगुणत्वेनैव नेतव्यत्वादिति भावः। ६.अपवाददृष्टिमिति — उत्तमाधिकार्युपयोगिनीमिति भावः। ७. भागवतानां वैष्णवानामित्यर्थः। ८. रागापोहार्थेति — रागो भोगाभिलाषः।

"तत्त्वमसी"ति (छा.उ. ६-८-७) पुनस्तद्भावोक्तेः। भावान्तरापन्नस्यैव तदपोहार्था [1]संपदिति चेत्। न। "तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसी"ति (छा.उ. ६-८-७) सामानाधिकरण्यात्। दृष्टं जीवस्य संसारित्वमिति चेत्। न। [2]उपलब्धुरनुपलभ्यत्वात्। संसारधर्मैविशिष्ट आत्मोपलभ्यत इति चेत्। न। धर्माणां धर्मिणोऽव्यतिरेकात्कर्मत्वानुपपत्तेः उष्णप्रकाशयोर्दाह्यप्रकाश्यत्वानुपपत्तिवत्त्रासादिदर्शनाद्दुःखित्वाद्यनुमीयत इति चेत्। न। त्रासादेर्दुःखस्य

अतस्तत्त्वमसीत्युपदेशस्यान्यार्थत्वान्न जीवस्य पारमार्थिकमसंसारिब्रह्मात्मत्वमित्याशङ्क्य तद्दूषयति-भावान्तरापन्नस्येत्यादिना। [3]अबाधिततत्पद[4]मुख्यसामानाधिकरण्यविरोधादब्रह्मणि जीवे ब्रह्मत्वसंपादनार्थत्वं कल्पयितुं न शक्यत इत्यर्थः। संसारित्वग्राहकप्रत्यक्षविरोधादबाधितत्वमसिद्धमित्याह-दृष्टमिति। सर्वप्रमाणानामनुग्राहकस्तर्क इष्यते। आत्मनश्च संसारधर्मवत्त्वस्य तर्कापरिशुद्धत्वात्तत्प्रत्यक्षस्य भ्रान्तत्वान्न शास्त्रज्ञानबाधकत्वं संभवतीत्याह — नेति। सुखादेरुपलभ्यत्वान्नोपलब्धृधर्मत्वं संभवति रूपादिवदित्यर्थः। संसारित्वग्राहकं यद्यपि प्रत्यक्षप्रमाणं न भवति तथाऽपि संसारधर्मविशिष्ट आत्मा स्वचैतन्येनोपलभ्यत इति स्वानुभवविरोधान्न शाब्दमसंसारित्वज्ञानं प्रमाणमिति चेन्नैतदपि युक्तं कर्मत्वकर्तृत्वविरोधादित्यर्थः। प्रत्यक्षविरोधाभावेऽप्यनुमानविरोधो भविष्यतीत्याह — त्रासादीति। त्रासादि साश्रयं कार्यत्वाद्घटवदन्यस्याऽऽश्रयस्यासंभवादात्मैव तदाश्रयो[5]ऽनुमीयत इति न वाच्यमुपलभ्यो नोपलब्धुर्धर्मो रूपादिवदिति व्याप्यन्तरविरोधाद[6]ध्यासादपि कार्यदर्शनसंभवा-

---

ऐसा कहकर हमने आपके इस पूर्वोक्त पक्ष का खण्डन कर दिया। "अनेन जीवेन" ऐसी विशेष श्रुति से धर्मान्तर रूप से परमात्मा का अनुप्रवेश माना जाय तो? ऐसा कहना भी ठीक नहीं क्योंकि "तत्त्वमसि" इत्यादि श्रुति वाक्य से ब्रह्मभावापत्ति कही गयी है, अन्य भाव को प्राप्त हुए जीव के भावान्तरापन्न को हटाने के लिये ही तदभावापत्ति कही गयी है, ऐसा यदि माना जाय तो? ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि 'तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि' इत्यादि स्थलों में जीव ब्रह्म की एकता बोधक महावाक्य में सामानाधिकरण्य सुना जाता है। यदि कहो कि जीवात्मा में संसारित्व दीखता ही है तो ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि जीव में संसारित्व देखने वाला उपलब्ध नहीं होता है। संसार धर्म विशिष्ट

---

१. संपदिति — संपदुपास्तिरित्यर्थः। वस्तुतोऽन्यस्य सतोऽन्यात्मना संपादनं ध्यानबलात्। २. उपलब्धुः संसारधर्मवत्तया प्रमाणागोचरत्वादित्यर्थः। ३. अबाधितेत्यादि — अबाधितत्वादेव मुख्यं यत् तत्पदसामानाधिकरण्यं तद्विरोधात्तस्य संपत्तावनुपपन्नत्वादित्यर्थः। न हि "उषा वा अश्वस्य मेध्यस्य शिर" इत्यादिसंपत्तौ मुख्यं पदसामानाधिकरण्यं भवति बाधितत्वादिह तु नवकृत्व उक्तेरबाधितं तन्मुख्यमेवेति भावः। ४ मुख्यसामानाधिकरण्येति — सोऽयमित्यादाविवैक्यविषयकसामानाधिकरण्येत्यर्थः। चतुर्धा हि पदसामानाधिकरण्यं यथाहुः — "बाधाध्यासविशेषणैक्यविषयं नाम्नोश्चतुर्धा मतं सामानाधिकरण्यमाद्यमिह न व्यर्थोद्यमा स्याच्छ्रुतिः। ध्यानाद्यश्रवणादनित्यफलतादोषाच्च नाध्यासधीस्तादात्म्यं न विरुद्धयोरिति बलाद्वस्त्वैक्यपक्षस्थिति"रिति। स्वा० सि० २ प्र० ३८ श्लो०। ५. अनुमीयत इति — इदमत्र परिशेषानुमानं त्रासाद्यात्माश्रयम् आत्मातिरिक्तानाश्रयत्वे सति साश्रयत्वात्। आकाशातिरिक्तानाश्रयत्वे सति साश्रयत्वेनाकाशाश्रितशब्दवदिति। सामान्यमुखे वात्र व्याप्तिर्द्रष्टव्या। ६. सत्प्रतिपक्षस्थले उभयोरेव प्रतिबद्धत्वसाम्यमाशङ्क्याऽऽह — अध्यासादपीत्यादि। अनुकूलतर्कविरहात्पूर्वस्यैवाप्रयोजकत्वमिति भावः। अनुकूलतर्कविरहादिति। आत्मातिरिक्तानाश्रितत्वानभ्युपगमे दोषस्य परेण वक्तुमशक्यत्वादिति भावः।

एवंवित्। अस्माल्लोकात्प्रेत्य। एतमन्नमयमात्मान-

जो इस प्रकार जानने वाला है वह इस दृष्टादृष्टलोक से निवृत्त होकर इस अन्नमय आत्मा को

चोपलभ्यमानत्वान्नोपलब्धृधर्मत्वम्। कापिलकाणादादितर्कशास्त्रविरोध इति चेत्। न। तेषां मूलाभावे[1] वेदविरोधे च भ्रान्तत्वोपपत्तेः। श्रुत्युपपत्तिभ्यां च सिद्धमात्मनोऽसंसारित्वमेकत्वाच्च।

कथमेकत्वमित्युच्यते —

स यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये स एक इत्येवमादि पूर्ववत्सर्वम्। अन्नमयादि-

---

दित्यर्थः। जीवस्य ब्रह्मात्मत्वं प्रतिपादयतः शास्त्रस्य तर्कशास्त्रविरोधादप्रामाण्यमाशङ्क्य दूषयति — कापिलेत्यादिना। [2]तर्कशास्त्रस्य श्रुतेश्च विरुद्धाव्यभिचारित्वेन प्रामाण्यसंशयोऽपि नाऽऽशङ्कनीय इत्याह — श्रुत्युपपत्तिभ्यां चेति। किंच तार्किकेणापीश्वराधीनं जीवस्य सुखित्वं दुःखित्वं च निरूपणीयं न तन्निरूपयितुं शक्यते। स्वात्मनीश्वरस्य सुखदुःखहेतुत्वासंभवादित्यभिप्रेत्याऽऽह — एकत्वाच्चेति।

आत्मा तो उपलब्ध होता ही है; ऐसा कहना भी ठीक नहीं। अधर्म को धर्मी से अभिन्न मानने पर अधर्म में कर्मत्व सिद्ध नहीं होगा। जैसे उष्ण में दाह्यत्व नहीं और प्रकाश में प्रकाश्यत्व नहीं सिद्ध होता, वैसे ही त्रासादि देखने से दुःखित्वादि का अनुमान होता, है ऐसा माना जाय तो? ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि त्रासादि और दुःख में उपलभ्यमानत्व रहने के कारण वे उपलब्धा के धर्म नहीं हैं। यदि कहो कि अद्वैत सिद्धान्त में कपिल-कणाद के तर्क शास्त्र से विरोध आता है तो ऐसा कहना भी ठीक नहीं, उन शास्त्रों में मौलिकता न होने के कारण और वेद के साथ विरोध होने के कारण भ्रान्तत्व सिद्ध होता है। दूसरी ओर श्रुति और युक्ति से आत्मा में असंसारित्व सिद्ध होता है। साथ ही एक होने के कारण ही आत्मा में संसारित्व नहीं है।

एकत्व किस प्रकार है? इस पर कहते हैं—

---

१. ननु मूलाभावोऽसिद्धिः "अजामेकामि"त्यादिवेदस्यैव मूलत्वात्। प्रत्यक्षमूलानुपलम्भे तु स्मृत्या मूलवेदानुमानाच्चेत्याशङ्क्याऽऽह — वेदविरोधे चेति। अजामित्यादिवेदस्य कापिलाभिमतविरुद्धार्थकत्वस्य निर्णयेन तन्मूलत्वासंभवात् प्रत्यक्षवेदविरोधे च मूलानुमानानुपपत्तेर्मैवमित्यर्थः। यद्वा मूलाभावेऽपि शिष्टाचारवदेव स्मृतेः स्वतः प्रामाण्यं किं न स्यादित्याशङ्क्याऽऽह — वेदविरोधे चेति। तथा च प्रत्यक्षवेदविरोधाभावे सत्येव निर्मूलस्यापि शिष्टाचारवत्संभवति प्रामाण्यम्। इह तु प्रत्यक्षवेदविरोधादेव न तदुपपद्यत इति भावः। २. भ्रान्तप्रत्ययेनाप्रमात्वनिश्चयाभावेऽपि प्रमात्वसंशय एवास्तु तथादर्शनादित्याशङ्क्याऽऽह — तर्कशास्त्रस्येत्यादि। तर्कशास्त्रस्वश्रुतेश्च परस्परं विरुद्धत्वस्य नियतत्वेनेत्यर्थः। तर्कशास्त्रे श्रुतिविरुद्धत्वनिश्चयेन भ्रान्तिमूलकत्वावधारणान्न तत्र प्रामाण्यसंशयः संभवतीति भावः। इति प्राञ्चः। तर्कशास्त्रस्य विरुद्धत्वेन श्रुतेश्चाव्यभिचारित्वेनेत्यर्थः। तर्कशास्त्रं स्वप्रतिपाद्यसंसारित्वाभावेन व्याप्त यत्राऽऽत्मनि प्रतिपादकत्वेन तद्वर्तते तत्र संसारित्वाभावादिति तद्विरुद्धं श्रुतिश्चाव्यभिचारिणी स्वप्रतिपाद्यासंसारित्वाभाववदवृत्तित्वात्। तथा च विरुद्धेन अव्यभिचारिणि प्रामाण्यसंशयो नोपपद्यत एव। न हि शब्दो नित्यः कृतकत्वादित्यनेन शब्दोऽनित्यः कार्यत्वादित्यत्र प्रामाण्यसंशयो युज्यत इति भावः। वस्तुतस्तु विरुद्धेनाव्यभिचारित्वेनेत्येव विग्रहः। न ह्येकस्मिन् विरुद्धयोर्द्वयोरप्यव्यभिचारित्वं यथार्थत्वमविरुद्धं भवति ततश्चैकस्य व्यभिचारित्वावश्यकत्वे तर्कापरिशुद्धत्वेन तर्कशास्त्रस्यैव तथात्वौचित्यान्न तेन व्यभिचारिणाऽव्यभिचारिण्यां श्रुतौ प्रामाण्यसंशयो न्याय्यः। नहि वह्न्यभाववान् पर्वतो द्रव्यत्वादित्यनेन वह्निमान् धूमादित्यत्र प्रामाण्यं संदिह्यत इति भावः।

मुपसंक्रम्य। एतं प्राणमयमात्मानमुपसंक्रम्य। एतं मनोमयमात्मानमुपसंक्रम्य। एतं विज्ञानमयमात्मानमुपसंक्रम्य। एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रम्य। इमाँल्लोकान्कामान्नी कामरूप्यनुसंचरन्। एतत्साम गायन्नास्ते। हा३वु हा३वु हा३वु (५)।

प्राप्त कर इस प्राण में आत्मा के प्रति संक्रमण कर, इस मनोमय आत्मा के प्रति संक्रमण कर, इस विज्ञानमय आत्मा को प्राप्त कर तथा इस आनन्दमय आत्मा के प्रति संक्रमण कर इन लोकों में यथेच्छ भोगों को भोगता हुआ इच्छानुसार रूप धारण कर विचरता हुआ इस साम का गान करता है हा३वु, हा३वु, हा३वु।।५।।

क्रमेणाऽऽनन्दमयमात्मानमुपसंक्रम्यैतत्साम गायन्नास्ते। सत्यं ज्ञानमित्[1]यस्या ऋचोऽर्थो व्याख्यातो विस्तरेण तद्विवरणभूतयाऽऽनन्दवल्ल्या सोऽश्नुते सर्वान्कामान्सह ब्रह्मणा विपश्चितेति [2]तस्य फलवचनस्यार्थविस्तारो नोक्तः। के ते [3]किंविषया वा सर्वे कामाः कथं वा ब्रह्मणा सह समश्नुत इत्येतद्वक्तव्यमितीदमिदानीमारभ्यते। [4]तत्र पितापुत्राख्यायिकायां पूर्वविद्याशेषभूतायां तपो ब्रह्मविद्यासाधनमुक्तम्। प्राणादेराकाशान्तस्य च

स य इत्यादिपदव्याख्यानमुपेक्ष्यो[5]पसंक्रमणसामगानयोरेककर्तृ(क)त्वमन्वयप्रदर्शनेन दर्शित-[6]मिदानीं वल्लीसमाप्तिपर्यन्तस्य ग्रन्थस्य तात्पर्यं वृत्तकीर्तनेनाऽऽह — सत्यं ज्ञानमित्यादिना। अविद्या-

---

आदित्य और देह में स्थित चेतन की अभेद उपासना का फल

जो यह पुरुष में है और जो वह आदित्य में है, वह एक ही है इत्यादि सभी बात पहले की भाँति है। अन्नमयादि क्रम से आनन्दमय आत्मा में उपसंक्रमण कर वह ज्ञानी इस साम का गान करता रहता है। 'सत्यं ज्ञानम्' इस ऋचा का अर्थ उसकी व्याख्यारूप आनन्द वल्ली के द्वारा विस्तार से कहा गया है; किन्तु "सोऽश्नुते सर्वान्कामान्सह ब्रह्मणा विपश्चिता" चैतन्य ब्रह्म के साथ ही वह तत्त्वज्ञानी सम्पूर्ण भोगों को प्राप्त कर लेता है उस फल वचन के अर्थ का विस्तार नहीं किया गया। वे

---

१. इत्यस्या ऋच इति — ऋक्पूर्वार्धस्येति यावत्। अन्यथा फलवचनस्य अर्थविस्तारो नोक्त इति वक्ष्यमाणं विरुध्येतेति। २. तस्य — ऋगुक्तब्रह्मवेदनस्येति यावत्। यद्वा इति तस्य इत्यस्येत्यर्थः। तस्य विदुष इति वा। तस्येति अत्र तस्या इत्यपि संभाव्यते पाठस्तदा यथोक्तर्ग्घटकस्येत्यर्थः। ३. किंविषयाः किंनिष्ठाः। ४. किं तत्रेति के ते किं विषया इत्यादिनोक्तेष्वर्थेष्वित्यर्थः। निर्धारणे सप्तमी। एते कामादर्शिता इति संबन्धः।॰ कामदर्शनप्रकारं वक्तुमेव भृगुवल्लीवृत्तं कीर्तयति — पितापुत्रेत्यादिना। ५. उपसंक्रमणसामगानयोरेककर्तृकत्वमन्वयप्रदर्शनेन दर्शितमिति — सामगानं हि विदुषः कृतार्थत्वख्यापन तस्य यथोक्तोपसंक्रमणप्रयुक्तत्वख्यापनार्थमेवान्वयेन तद्दर्शितमिति भावः। अन्यथा ह्युपसंक्रम्य कामान्नी कामरूपी च भवति। तथा च सँल्लोकाननुसंचरति लोकाननुसंचरंश्च साम गायतीत्येवमन्वयस्यापि संभवाद्विवक्षितप्रयोज्यप्रयोजकभावालाभेन वक्ष्यमाणग्रन्थतात्पर्यवचनं नोपपद्येत। तात्पर्यं हि विद्याफलं युगपत्सर्वकामावाप्तिरित्यत्र तस्य च प्रकृतसामगानमेव द्योतकं तच्चेल्लोकानुसंचरणादिप्रयुक्तं तदा यथोक्तोपसंक्रमणात्मकविद्याफलत्वं युगपत्सर्वकामाशनस्य न स्यादिति भावः। ६. तथा चान्वयप्रदर्शनेन तयोरेककर्तृकत्वप्रदर्शनं तात्पर्योक्तावुपयुज्यत इत्यत एव तत्पूर्वं कृतमधुना तात्पर्यमाहेत्याशयवानाह — इदानीमित्यादि।

कार्यस्यान्नान्नादत्वेन [1]विनियोगश्चोक्तः। [2]ब्रह्मविषयोपासनानि च। [3]ये च सर्वे कामाः प्रतिनियतानेकसाधनसाध्या आकाशादिकार्यभेदविषया एते दर्शिताः। [4]एकत्वे पुनः कामकामित्वानुपपत्तिः। भेदजातस्य सर्वस्याऽऽत्मभूतत्वात्। [5]तत्र कथं युगपद्ब्रह्मस्वरूपेण सर्वान्कामानेवंवित्समश्नुत इत्युच्यते। सर्वात्मत्वापत्तेः। कथं सर्वात्मत्वापत्तिरित्याह। पुरुषादित्यस्थात्मैकत्वविज्ञानेनापोह्योत्कर्षापकर्षावन्नमयाद्यात्मनोऽविद्याकल्पितान्क्रमेण [6]संक्रम्याऽऽनन्दमयान्तान्[7]सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मादृश्यादिधर्मकं स्वाभाविकमानन्दमजममृतमभयमद्वैतं फलभूतमापन्न इमाँल्लोकान्भूरादीननुसंचरन्निति व्यवहितेन संबन्धः। कथमनुसंचरन्। कामान्नी कामतोऽन्नमस्येति कामान्नी। तथा कामतो रूपाण्यस्येति कामरूपी। अनुसंचरन्[8]सर्वात्मनेमाँल्लोकाना[9]त्मत्वेनानुभवन्। [10] किम्, एतत्साम गायन्नास्ते। [11]समत्वाद्ब्रह्मैव साम सर्वानन्यरूपं गायञ्शब्दयन्नात्मैकत्वं प्रख्यापयँल्लोकानुग्रहार्थं तद्विज्ञानफलं

लेशवशेन द्वैतावभासमनुभवन्विद्वान्सर्वस्याऽऽत्माऽहमिति मन्यमानोऽणिमाद्यैश्वर्यभुजां योगिनां यत्कामान्नत्वं कामरूपत्वं च [12]ममैवेति पश्यन्युगपत्सर्वान्विषयानन्दानश्नुत इत्युपचर्यत इत्याह – सर्वात्मत्वापत्तेरिति।

कौन हैं, किंविषयक सब कामनाएँ हैं और वह ब्रह्म के साथ कैसे प्राप्त करता है, यह सब कुछ बतलाना है। इसीलिये यह प्रकरण प्रारम्भ हुआ है। वहाँ पर पूर्व विद्या के अङ्गरूप पिता पुत्र की आख्यायिका में ब्रह्मविद्या का साधन तप ही कहा गया है। प्राण से लेकर आकाश पर्यन्त सम्पूर्ण कार्य जगत् का अन्न और अन्नादत्व रूप में विनियोग बतलाया गया और ब्रह्म विषयक उपासनाएँ भी बतलायी गयी। जो ये सभी कामनाएँ हैं, प्रतिनियत अनेक साधन – साध्य वाले हैं, ये आकाशादि कार्य भेद विषयक ही देखे गये हैं क्योंकि अभेद मानने पर काम और कामित्व की सिद्धि नहीं हो सकती, उस स्थिति में सभी भेद समुदाय आत्म स्वरूप हो चुके हैं। फिर भला एक साथ ब्रह्मस्वरूप से ऐसा ब्रह्मज्ञानी वहाँ पर सम्पूर्ण भोगों को कैसे प्राप्त कर सकता है? इस पर कहते हैं कि वह ब्रह्मज्ञानी सर्वात्मा बन गया है। इसीलिये उसमें उक्त फल प्राप्ति सम्भव है। सर्वात्मत्व की सिद्धि कैसे होती है? इस पर कहते हैं पुरुष और आदित्य में स्थित एक आत्मा के विज्ञान से उत्कर्ष अपकर्ष भाव दूर हो जाते हैं। फिर अविद्या कल्पित अन्नमयादि से लेकर आनन्दमय पर्यन्त आत्मा को क्रमशः संक्रमण कर सत्य, ज्ञान, अनन्त ब्रह्म अदृश्यत्वादि धर्म वाला स्वाभाविक आनन्द, अज, अमृत, अभय अद्वैतरूप फल को प्राप्त हो जाता है। फिर तो सर्वात्मभाव को प्राप्त हुआ वह ज्ञानी भूरादि इन सम्पूर्ण लोकों में विचरण करता हुआ (साम गान करता है) कैसे विचरण करता है? इच्छा से जिसे अन्न प्राप्त हो, उसे

---

१. विनियोग उपयोगः। २. ब्रह्मविषयोपासनानि चोक्तानीति संबन्धः। ३. एतावता किमुक्तं भवति तदाह – ये च सर्वे कामा इत्यादिना। ननु कामानां पूर्वत्रैव दर्शितत्वे इत्येतद्वक्तव्यमितीदमिदानीमारभ्यत इत्युक्तं विरुध्यत इति चेन्न पूर्वत्रस्वरूपतो दर्शितत्वेऽपि त इम इत्यस्येदानीमेव वक्तव्यत्वात्। इमाँल्लोकान् कामान्नी कामरूप्यनुसंचरन्नित्याद्युक्तेरेव तथाविधत्वादिति भावः। ४.मूलं व्याख्यातुं पातनिकां चिकीर्षञ्छङ्कते – एकत्वे पुनरित्यादिना। ५. तथा सति। ६.संक्रम्येति – अधिष्ठानयाथात्म्यज्ञानेनापबाध्येति यावत् ७.संक्रम्येत्युक्तं व्याचष्टे – सत्यमित्यादिना। ८. सर्वात्मनेति – सर्वस्यात्माऽऽहमिति बुद्ध्या देवादिसर्वस्वरूपेणेति यावत्। ९. आत्मत्वेन – आत्मीयत्वेनेति यावत्। १०. किं कुरुत इति शेषः। ११. समत्वादिति। तथा चोक्तं – "समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरमि"ति। १२. ममैवेति तदित्यादिः।

अहमन्नमहमन्नमहमन्नम्। अहमन्नादो ऽ ३ हमन्नादो ऽ ३ हमन्नादः। अहꣳ श्लोककृदहꣳ श्लोककृदहꣳश्लोककृत्। अहमस्मि प्रथमजा३ऋता३स्य। पूर्वं देवेभ्यो अमृतस्य ना३भायि। यो मा ददाति स इदेव मा३ऽऽवाः। अहमन्नमन्नमदन्तमा३द्मि। अहं विश्वं भुवनमभ्यभवा३म्। सुवर्न ज्योतीः। य एवं

विशुद्ध होता हुआ भी मैं भोग्य हूँ, मैं अन्न हूँ, मैं अन्न हूँ, मैं ही अन्नाद हूँ, मैं ही अन्न का भोक्ता हूँ, मैं ही अन्नाद हूँ, मैं ही श्लोककृत् (अन्न एवं अन्नाद के संघातकर्ता) हूँ, मैं ही श्लोककृत् हूँ, मैं ही श्लोककृत् हूँ। मैं ही मूर्तामूर्त जगत् के पहले हिरण्यगर्भ से उत्पन्न हुआ हूँ, मैं ही देवताओं से पूर्ववर्ती विराट् एवं अमरत्व का केन्द्र स्थान हूँ। जो अन्नरूप मुझे (अन्नार्थियों को) देता है वह इस प्रकार मेरी रक्षा करता है, किन्तु स्वयं अन्न भक्षण करने वाले को मैं अन्नरूप से भक्षण करता हूँ। मैं इस सम्पूर्ण भुवन का पराभव करता हूँ, हमारी ज्योति सूर्य के समान सदा प्रकाशरूप है, ऐसी यह

चातीव कृतार्थत्वं गायन्नास्ते तिष्ठति।

हा३वु हा३वु हा३वु। [1]अहो इत्येतस्मिन्नर्थेऽत्यन्तविस्मयख्यापनार्थम्। कः पुनरसौ विस्मय इत्युच्यते — अद्वैत आत्मा निरञ्जनोऽपि सन्नहमेवान्नमन्नादश्च। किंचाहमेव श्लोककृत्। [2]श्लोको नामान्नान्नादयोः संघातस्तस्य कर्ता [3]चेतनावान्। अन्नस्यैव वा परार्थस्यान्नादार्थस्य सतोऽनेकात्मकस्य पारार्थ्येन हेतुना संघातकृत्। त्रिरुक्तिर्विस्मयत्वख्यापनार्था। अहमस्मि भवामि। प्रथमजाः प्रथमजः प्रथमोत्पन्नः। ऋतस्य सत्यस्य

प्रथमजो हिरण्यगर्भोऽप्यहम्। [4]प्लुतिस्तावद्गानार्था। देवेभ्यः स्वव्यष्टिरूपेभ्यः पूर्वं विराड्रूपमेवेत्यर्थः।

कामान्नी कहते हैं तथा जिसे यथेच्छरूप प्राप्त होते हों, उसे कामरूपी कहते हैं, अर्थात् सर्वात्मरूप से इन लोकों को आत्मत्वेन अनुभव करता हुआ (सामगान करता है) किस साम का गान करता है? सम होने से वस्तुतः ब्रह्म ही साम है क्योंकि वह सब से अभिन्न है। इस प्रकार आत्म - एकत्व का ख्यापन करता हुआ लोकों पर अनुग्रह करने के लिये ब्रह्म विज्ञान के फल अत्यन्त कृत - कृत्यता का गान करता हुआ स्थित रहता है।

कैसे? 'हा३वु हा३वु हा३वु' अहो इस अर्थ में अत्यन्त आश्चर्य के लिये उक्त साम का प्रयोग किया गया है। फिर वह विस्मय है क्या? इस पर कहते हैं अद्वैत निरञ्जन आत्मा होता हुआ भी मैं ही अन्न और अन्नाद हूँ। इतना ही नहीं बल्कि अन्न और अन्नाद के संघात का कर्ता

---

१. अहो इत्येतस्मिन्नर्थ इति — तथा च हावु इत्येको निपात इत्यवधेयम्। २. मन्त्रकृदित्यर्थे संभवत्यपि तस्यात्रान्नाद-प्रकरणासंगतेः श्लोकृ संघात इति धातुपाठमनुसृत्य व्याचष्टे — श्लोको नामेत्यादिना। ३. चेतनावाञ्जीवः तदधीनत्वात्प्राणशरीराद्यन्नान्नादसंघातस्येति भावः। ४. प्लुतिः — प्रथमज इत्यादिपदेष्वित्यर्थः।

वेद। इत्युपनिषत् (६)।।

इति कृष्णयजुर्वेदीयतैत्तिरीयोपनिषदि तृतीये भृगुवल्ल्यध्याये
दशमोऽनुवाकः।।१०।।

ब्रह्मविद्या है। जो इसे इस प्रकार जानता है, उसे पूर्वोक्त फल मिलता है।।६।।

---

[१]मूर्तामूर्तस्यास्य जगतो देवेभ्यश्च पूर्वम[२]मृतस्य नाभिरमृतत्वस्य नाभिर्मध्यं मत्संस्थम[३]मृतत्वं प्राणिनामित्यर्थः।

यः कश्चिन्मा मामन्नमन्नार्थिभ्यो ददाति प्रयच्छत्य[४]न्नात्मना ब्रवीति स इदि[५]त्थमेवमविनष्टं [६]यथाभूतमावा अवतीत्यर्थः। यः पुनरन्यो मामदत्त्वाऽर्थिभ्यः काले प्राप्तेऽन्नमत्ति तमन्नमदन्तं भक्ष्यन्तं पुरुषमहमन्नमेव [७]संप्रत्यद्मि भक्षयामि। अत्राऽऽहै[८]वं तर्हि बिभेमि सर्वात्मत्वप्राप्तेर्मोक्षादस्तु संसार एव यतो मुक्तोऽप्यहम[९]न्नभूत [१०]आद्यः स्यामन्नस्यैवं मा भैषीः संव्यवहारविषयत्वात्सर्वकामाशनस्यातीत्यायं संव्यवहारविषयमन्नान्नादादिलक्षणमविद्याकृतं विद्यया ब्रह्मत्वमापन्नो विद्वांस्तस्य नैव द्वितीयं वस्त्वन्तर-

---

आवा इति – [११]लोण्मध्यमपुरुषैकवचनम्। [१२]पौनःपुन्येनेत्येवं मत्वाऽऽख्यातेषु निपात्यत इत्यवतीति

चेतनवान् भी मैं ही हूँ। परार्थ अन्न और अन्नादार्थ अनेक आत्मा का पारार्थ्यरूप हेतु से संघात करने वाला मैं ही हूँ। (प्राणियों के कर्म और उसके उचित फल का सम्बन्ध जोड़ने वाला सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् मायोपाधिक समष्टि चैतन्य ईश्वर और जीव में अभेद मानकर तत्त्वज्ञानी अन्न एवं अन्नाद का संघात कर्ता अपने को कह रहा है) विस्मयत्व ख्यापन के लिये तीन बार उच्चारण किया गया। देवताओं से पूर्व इस मूर्तामूर्त सत्य जगत् से प्रथम उत्पन्न होने के कारण प्रथमज मैं ही हूँ। अमृतत्व की नाभि मैं ही हूँ; अर्थात् प्राणियों का अमृतत्व मुझ में स्थित है।

---

१. स्ववाच्यवाचकविशेषवाच्यत्वेन लक्षितलक्षणया, ऋतशब्दार्थमाह – मूर्तामूर्तस्यास्य जगत इति। २. अमृतस्य नाभिरिति – अनेन नाभिरित्यर्थे नाऽभायीति च्छान्दसमिति सूच्यते। ३. अमृतत्वं मोक्षः स चाहमेव सर्वेषामिति भावः। ४. अन्नात्मना ब्रवीति – विद्वदात्मनाऽन्नार्थिभ्यस्तद्दानासंभवादन्नाभेदेन वदतीत्यर्थः। ५. इत्थं – दानेनैवेत्यर्थः। ६. यथाभूतमवतीति – यथादत्तमुपतिष्ठत इति ह्युक्तमधस्तात्। ७. लडर्थमाह – संप्रतीति। अदत्त्वा भुञ्जानो द्राङ्नश्यतीति भावः। नश्यतीति – प्रत्यवायी भवतीति यावत्। ८. एवं तर्हीति – मुक्तस्यान्नान्नादरूपत्वे सतीत्यर्थः। ९. अहमन्नमिति त्रिरुक्तिमनुसंधायाह – अन्नभूत इति। १०. अहमन्नमदन्तमद्मीत्युक्त्यैवादन्मुक्तस्यान्नं भवति तस्याहमाद्यो भक्ष्यः स्यामन्नरूपत्वान्ममेत्याह–आद्यः स्यामन्नस्येति। ११. लोण्मध्यमेति – तथा च आवा इति प्लुत्यैवोच्चारणवैषम्यम्। विसर्गपाठश्च लेखकप्रमादकृत इति गम्यते। १२. "क्रियासमभिहारे लोड्लोटो हिस्वौ वा च तध्वमो"रिति सूत्रेण पौनःपुन्ये लट्प्रसङ्गे लोट् तस्य च हिरादेश इत्यभिप्रायेणाह – पौनःपुन्येनेत्यादि। अत्र च तथाश्रुतपाठस्यालग्नकतया मूलपाठो भ्रष्ट इत्यवगम्यते। स च पौनःपुन्ये चैतत्सर्वाख्यातेषु निपात्यत इत्येवमादिरूपोऽनुमीयते। तस्य च पौनःपुन्येऽर्थे एतल्लोण्मध्यमपुरुषैकवचनं सर्वाख्यातेषु सर्वलकारेषु सर्वेषां च तिङां स्थाने निपात्यते विधीयते यथोक्तसूत्रेणेत्यर्थः। अत्र च क्रियासमभिहारे द्वे वाच्ये यथाविध्यनुप्रयोगश्चेत्येद्द्वयाभावश्छान्दसोऽन्यथा याहि याहीति यातीतिवद् अवावेत्यवतीति स्यादित्यवधेयम्। यैञ्च टीकाकृता मध्यमपुरुषेत्युक्तं तत्सादृश्याभिप्रायकं द्रष्टव्यम्। हेरादेशस्यात्र सर्वपुरुषसर्ववचनसाधारणत्वादित्यलम्।

मस्ति यतो बिभेत्यतो न भेतव्यं मोक्षात्। एवं तर्हि किमिदमाह — अहमन्नमहमन्नाद इत्युच्यते[१] योऽयमन्नान्नादादिलक्षणः संव्यवहारः कार्यभूतः स संव्यवहारमात्रमेव न परमार्थवस्तु। स[२] एवंभूतोऽपि ब्रह्मनिमित्तो ब्रह्मव्यतिरेकेणासन्निति कृत्वा ब्रह्मविद्या-कार्यस्य ब्रह्मभावस्य स्तुत्यर्थमुच्यते अहमन्नमहमन्नमहमन्नम्। अहमन्नादोऽहमन्नादो-ऽहमन्नाद इत्यादि। अतो भयादिदोष[३]गन्धोऽप्यविद्यानिमित्तोऽविद्योच्छेदाद्ब्रह्मभूतस्य नास्तीत्यहं विश्वं समस्तं भुवनं भूतैः संभजनीयं ब्रह्मादिभिर्भवन्तीति[४] वाऽस्मिन्भूतानीति भुवनमभ्यभवाꣳ[५]मभिभवामि परेणे[६]श्वरेण स्वरूपेण।

सुवर्न ज्योतीः सुवरादित्यो नकार उपमार्थे। आदित्य इव [७]सकृद्विभातमस्मदीयं ज्योतीर्ज्योतिः। प्रकाश इत्यर्थः। इति वल्लीद्वयविहितोपनिषत्परमात्मज्ञानं तामेतां

व्याख्यातम्। अभिभवामि, उपसंहरामीत्यर्थः। ईश्वरात्मताज्ञानेनाहंबाधे द्वैतं ततो नास्ति भयकारण-मित्यर्थः।

[८]नकार इवार्थे।।

जो कोई अन्नार्थियों के लिये मुझ अन्न को देता है अर्थात् आत्मरूप से कहता है, वह इस प्रकार यथाभूत मुझ अविनाशी की रक्षा करता है और जो कोई दूसरा समय प्राप्त होने पर अन्नार्थियों के लिये मुझ अन्न को न देखकर स्वयं अन्न खाता है, उस अन्न खाने वाले पुरुष को इस समय अन्न बनकर मैं ही खाता हूँ। इस पर कहते हैं कि सर्वात्मभाव की प्राप्तिरूप मोक्ष से मैं डरता ,हूँ। यह तो संसार ही है क्योंकि मुक्त होता हुआ भी अन्नभूत मैं दूसरे का भक्ष्य हो जाऊँगा? इस प्रकार डरो मत सर्वकाम अशन संव्यवहार विषयक है। अविद्याकृत अन्न और अन्नादरूप संव्यवहार विषय का अति-क्रमण कर जब यह विद्वान् ब्रह्मभाव को प्राप्त कर जाता है, तब उसकी दृष्टि में दूसरी वस्तु है ही नहीं, जिससे वह डरे। अतः मोक्ष से भयभीत होने की आवश्यकता नहीं तो फिर इस प्रकार 'अहमन्नमहमन्नादः' ऐसा कहा क्यों? इस पर कहते हैं कि जब यह अन्न नहीं और अन्नाद आदि रूप संव्यवहार कार्य विषयक है, वह संव्यवहार मात्र ही है; परमार्थ वस्तु नहीं है। वह इस प्रकार ब्रह्म निमित्तक ऐसा व्यवहार होता हुआ भी ब्रह्म से भिन्न उसे असत् समझकर ब्रह्मविद्या के फल ब्रह्मभाव की स्तुति के लिये 'अहमन्नम् अहमन्नम् अहमन्नम् अहमन्नादो अहमन्नादो अहमन्नादः' इत्यादि कहा गया है। अतः अविद्या के नष्ट हो जाने से ब्रह्मरूप ब्रह्मज्ञानी को अविद्या निमित्तक भयादि दोष की गन्ध भी नहीं है। मैं सम्पूर्ण भुवन स्वरूप हूँ और ब्रह्मादि सभी भूतों से सम्भजनीय हूँ। जिसमें सभी भूत होते हैं उसको भुवन कहते हैं। परमेश्वर स्वरूप से भुवन का कर्ता भी मैं ही हूँ।

"सुवर्न ज्योतिः" सुवर् शब्द का अर्थ आदित्य होता है और नकार शब्द उपमा अर्थ में है;

---

१. अन्नान्नादादि बाधायामेव सामानाधिकरण्यमित्याशयेनोत्तरमाह — उच्यते योऽयमित्यादिना। २. स व्यवहारः एवंभूतोऽन्नादिलक्षण इत्यर्थः। ३. गन्धो लेशः। ४. इति वा यद्वेत्यर्थे। ५. अभ्यभवाꣳमिति वर्तमाने लङ् छान्दस इत्याशयेन व्याचष्टे — अभिभवामीति। ६. ईश्वरेणेति — ऐश्वरेणेति यावत्। तथैव वा पाठः। ७. सकृद्विभातमुदयास्तमयरहितमिति यावत्। ८. नकार उपमार्थ इत्युक्तं स्पष्टयति — नकार इवार्थ इति।

सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै। तेजस्वि नावधीतमस्तु मा विद्विषावहै।।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

इति कृष्णयजुर्वेदीयतैत्तिरीयोपनिषदि तृतीयो भृगुवल्ल्यध्यायःसमाप्तः।।३।।

समाप्तेयं कृष्णयजुर्वेदीया तैत्तिरीयोपनिषत्

यथोक्तामुपनिषदं [१]शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वा भृगुवत्तपो महदास्थाय य एवं वेद तस्येदं फलं [२]यथोक्तमो[३]मिति।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ तैत्तिरीयोपनिषदि तृतीयभृगुवल्ल्यध्यायभाष्ये दशमोऽनुवाकः।।१०।।

(भृगुस्तस्मै यतो विशन्ति तद्विजिज्ञासस्व त्रयोदशान्नं प्राणो मनो विज्ञानं द्वादश द्वादशाऽऽनन्दो दशान्नं न निन्द्यादन्नं न परिचक्षीतान्नं बहु कुर्वीतैकादशैकादश) न कंचनैकषष्टिर्दश।।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमद्गोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यस्य शंकरभगवतः कृतौ तैत्तिरीयोपनिषद्भाष्ये तृतीयो भृगुवल्ल्यध्यायः।।३।।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छुद्धानन्दपूज्यपादशिष्यानन्दज्ञानविरचितायां तैत्तिरीयोपनिषच्छाकरभाष्यटीकायां तृतीये भृगुवल्ल्यध्याये दशमोऽनुवाकः।।१०।।

तैत्तिरीयकभाष्यस्य शांकरस्य [४]द्रढीयसः।

[५]स्फुटार्थबोधकामेभ्यो निरमायि सुटिप्पणम्।।१।।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छुद्धानन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमद्भगवदानन्दज्ञानविरचितायां तैत्तिरीयोपनिषच्छांकरभाष्यटीकायां तृतीयो भृगुवल्ल्यध्यायः समाप्तः।।३।।

अर्थात् आदित्य के समान मेरी ही ज्योति अन्य सभी ज्योतियों की प्रकाशक है। इस प्रकार वल्लीद्वय द्वारा विहित उपनिषत् अर्थात् परमात्म ज्ञान को बतलाया गया। उसी यथोक्त इस उपनिषत् को शान्त, दान्त, उपरत, तितिक्षु और समाहित होकर भृगु ने महत्तप का आश्रय लेकर जाना था। जो भी कोई परमात्म ज्ञान को इस प्रकार जानता है उसे यह यथोक्त मोक्षरूप फल प्राप्त होता है।।६।।

इस प्रकार तैत्तिरीयोपनिषद् शांकर भाष्य की श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ कैलासपीठाधीश्वर परमादर्श आचार्य महामण्डलेश्वर स्वामी विद्यानन्द गिरि विरचित "विद्यानन्दीमिताक्षरा" टीका पूर्ण हुई।।

—❀— श्रीशंकरः प्रीयताम् —❀—

---

१. एवमित्येतद्व्याचष्टे — शान्त इत्यादिना। २. यथोक्तमिति — युगपत्सर्वकामाशनादिरूपमित्यर्थः। ३. मङ्गलेन भाष्यं समापयति — ओमितीति। ४. द्रढीयसोऽभेद्यस्य दुःखगाहस्येति यावत्। ५. स्फुटेति — स्फुटं येऽर्थबोधं कामयन्ते तदर्थमित्यर्थः। अधीत्य गुरुपादेभ्यो विष्णुदेवेन भिक्षुणा। स्वमनःशुद्धये साधु टिप्पणं विनिवेशितम्।।

श्री कैलासपीठाधीश्वर अनन्त श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य परमादर्श आचार्य महामण्डलेश्वर

श्रीमत्स्वामी विद्यानन्द गिरि जी महाराज

एवं श्री कैलास आश्रम के पूर्वाचार्यों की अनुपम कृतियां।

श्री कैलास विद्या प्रकाशन के सोपान

१. ईशावास्योपनिषद् (सटिप्पणटीकाद्वय संवलित शाङ्करभाष्योपेता) क्राउन साइज ८ पेजी पृष्ठ ६८ ... ३०.००

२. ईशावास्य प्रवचनसुधा, डिमाई साइज पृष्ठ ३२० ... ५०.००

३. ईशावास्य प्रवचनसुधा (आंग्ल अनुवाद) डिमाई १६ पेजी सजिल्द २००.००

४. केनोपनिषद् (सटिप्पणटीकाद्वय संवलित शाङ्करभाष्ययुता) क्राउन साइज पृष्ठ १३८ ५०.००

आई. एस. बी. एन. ८१९००६२५-७-३

५. कठोपनिषद् (सटिप्पणटीकाद्वय संवलित शाङ्करभाष्योपेता) क्राउन साइज पृष्ठ १४० ५०.००

६. प्रश्नोपनिषद् (सटिप्पणटीकाद्वय-समलंकृत शाङ्करभाष्योपेता) क्राउन साइज पृष्ठ १२० ... ४०.००

७. मुण्डकोपनिषद् (सटिप्पणटीकाद्वय-समलंकृत शाङ्करभाष्योपेता) क्राउन साइज पृष्ठ ९० ... ४०.००

८. माण्डूक्य कारिका (सटिप्पण, हिन्दी, संस्कृत टीका सहित शाङ्करभाष्य) सजिल्द क्राउन साइज ८ पेजी पृष्ठ ३२० २५०.००

आई. एस. बी. एन. ८१-९००६२५-८-१

९. माण्डूक्य कारिका (सानुवाद शाङ्करभाष्ययुता) ... ५०.००

१०. तैत्तिरीयोपनिषद् (सटिप्पण-टीकाद्वय संवलित शाङ्करभाष्य) युता) क्राउन साइज पृष्ठ १७८ ... ५०.००

आई.एस.बी.एन. ८१-९००६२५ – ९-X

११. ऐतरेयोपनिषद् (सटिप्पणटीका-द्वय संवलित शांकरभाष्ययुता क्राउन साइज पृष्ठ ११२ ... ४०.००

१२. छान्दोग्योपनिषद् (सटिप्पणटीकाद्वय संवलित शांकरभाष्ययुता) क्राउन साइज पृष्ठ ७३४ ... २००.००

१३. बृहदारण्यकोपनिषद् (सटिप्पण-टीकाद्वय समलङ्कृत शांकरभाष्ययुता) २ खण्ड, पृष्ठ १६६२ ... ५००.००

१४. ईशादि सप्तोपनिषद् (सटिप्पणटीकाद्वय शांकरभाष्योपेता) क्राउन साइज ... २००.००

१५. ईशादि द्वादशोपनिषद् (विद्यानन्दी मिताक्षरा हिन्दी व्याख्या) सजिल्द डबल डिमाई १६ पेजी पृष्ठ ५३२ ... २००.०० (ओडियो, विडियो कैसेट उपलब्ध हैं)

१६. ब्रह्मसूत्र (सानुवाद-विद्यानन्दवृत्ति) सजिल्द डबल डिमाई १६ पृष्ठ ५२०... २००.०० (ओडियो, विडियो कैसेट उपलब्ध है)

१७. ब्रह्मसूत्र (संस्कृत विद्यानन्दवृत्ति-परीक्षोपयोगी) डबल डिमाई साइज १६ पेजी पृष्ठ २४७ ... २५.००

१८. ब्रह्मसूत्र (शांकरभाष्य सटिप्पण-रत्नप्रभा ललिता व्याख्यायुतम्)
(भाग-१) ... ३००.००
(भाग-२) ... ५००.००

आई. एस. बी. एन. ८१-९००६२५-३-०

१९. ब्रह्मसूत्र (चतुःसूत्री, शांकरभाष्य सटिप्पण ललिता व्याख्यायुतम्) ... १००.००
आई. एस. बी. एन. ८१-९००६२५-०-६

२०. ब्रह्मसूत्र मूलपाठ ... १०.००

२१. वैयासिक न्यायमाला (संस्कृत, हिन्दी, टीकाद्वय सम्वलिता व्याख्यायुता) ... १५०-००

आई. एस. बी. एन. ८०-९००६२५-४-९

२२. वैयासिक न्यायमाला (सानुवाद ललिता व्याख्यायुता) ... १००.००

आई. एस. बी. एन. ८०-९००६२५-४-७

२३. श्रीमद्भगवद्गीता (शांकरभाष्य सटिप्पण आनन्दगिरि टीका ललिता व्याख्यायुतम्) ... ४००.००

आई. एस. बी. एन. ८१-९००६२५-१-४

२४. श्रीमद्भगवद्गीता (शांकरभाष्य ललिता व्याख्यायुतम्) ... २५०.००

आई. एस. बी. एन. ८१-९००६२५-२-२

२५. श्रीमद्भगवद्गीता (अष्टादशाह प्रवचन) ... २५०.००

(ओडियो-विडियो कैसेट उपलब्ध है)

२६. वेदान्त परिभाषा (अर्थदीपिका एवं सानुवाद सुबोधिनी व्याख्या) सजिल्द क्राउन साइज ८ पेजी ... ८०.००

२७. वेदान्त परिभाषा (परीक्षाब्धि-संतरणी) ... २०.००

२८. प्रत्यक्तत्त्व प्रदीपिका चित्सुखी-छात्रताषिणी टीका परीक्षाब्धिसंत-रणी अष्टोत्तरशतन्यायमालायुता) ... १२०.००

२९. प्रत्यक्तत्त्व प्रदीपिका (चित्सुखी) सटिप्पणटीकाद्वय संवलिता भाग १-२ ... १८०.००

३०. प्रत्यक्तत्त्व प्रदीपिका (चित्सुखी परीक्षाब्धि संतरणी) ... ४०.००

३१. चतुःसूत्री (भामती परीक्षाब्धि संतरणी) ... २०.००

३२. व्याप्तिपञ्चकम् (सानुवाद माथुरी छात्रतोषिणी संवलितम्) ... ४०.००

३३. सिद्धान्तलक्षणम् (जागदीशी छात्रतोषिणी हिन्दी व्याख्यात्रय संवलितम्।) ... यन्त्रस्थ

३४. संक्षेप शारीरकं (सानुवाद-मधुसूदनी सटिप्पणं संवलितं) (भाग-१-२) ... ५००.००

३५. संक्षेप शारीरकं (सानुवाद ललिता व्याख्यायुता) ... २००.००

३६. सागरसेतु सजिल्द क्राउन साइज पृष्ठ ३२० ... ५०.००

३७. कैलास आश्रम शताब्दी स्मारिका सजिल्द क्राउन साइज पृष्ठ ४३४ ... ५०.००

३८. यतीन्द्रतिलक सजिल्द क्राउन साइज पृष्ठ ३२४ ... ५०.००

३९. दिव्यस्मृति पृष्ठ ३८८ ... २०.००

४०. आचार संहिता ... ५०.००

आई. एस. बीत्र एन. ८१-९००६२५-६-५

४१. व्यासपूजापद्धति (शङ्खकलशप्रधान-वेदोमण्डलैःसमलङ्कृता) २०.००

४२. चित्राञ्जलिः १२५.००

४३. श्रद्धासुमनाञ्जलिः १५०.००

४४. अमृताञ्जलिः ५०.००

४५. श्रुतिसारसमुद्धरणम् (हिन्दी-टीकायुतम्) क्राउन १६ पेजी पृष्ठ १५२ २०.००

४६. तत्त्वबोध, आत्मबोध सानुवाद पृष्ठ १००	२०.००
४७. वेदान्त रत्नाकर क्राउन १६ पेजी पृष्ठ ११६	२०.००
४८. वेदान्त डिण्डिम घोष (सानुवाद) पृष्ठ ५८	२०.००
४९. वैराग्यपञ्चक (कुञ्जिकाव्याख्या)	यन्त्रस्थ
५०. अद्वैतमुक्तावली (मूल पञ्जाबी का संस्कृत श्लोकों एवं हिन्दी में अनुवाद)	२०.००
५१. अमर संस्मरण (श्री अमरनाथ यात्रा विवरण)	२०.००
५२. नित्यस्वर्णपुष्पोपहार	१२५.००
५३. चैतन्य वचनामृतं	५०.००
५४. सानुवादगङ्गालहरी ...	१०.००
५५. हरिहरतारतम्यस्तोत्र सानुवाद ...	५.००
५६. शिवताण्डवस्तोत्रं सानुवाद ...	५.००
५७. मुक्ति सोपान ...	१०.००
५८. मानस सूक्ति सुधा ...	१०.००
५९. शिवमहिम्नः स्तोत्र सान्वय व्याख्या संहित ...	१०.००
६०. वैदिक दशशान्तिमन्त्र सानुवाद ...	५.००
६१. संक्षेप शारीरक परीक्षाब्धि संतरणी ...	४०.००
६२. अष्टोत्तरशतन्यायमाला ...	२०.००
६३. पाणिनीयाष्टाध्यायी ललिता टीका ...	१००.००
६४. शङ्कर वचनामृतम् सानुवाद ...	५.००

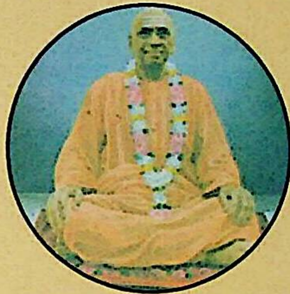
विशेष सूचना — पुस्तक मँगाने वाले सज्जन अग्रिम राशि निम्नांकित कार्यालय में भेजकर मँगावें।
पुस्तक के मूल्यातिरिक्त डाक, रेलवे तथा पोस्टेज व्यय पृथक् लगेगा,
वी. पी. द्वारा पुस्तक भेजने का क्रम नहीं है।
ओडियो वीडियो कैसेटों के लिए प्रधान कार्यालय में सम्पर्क करें।

मुख्य कार्यालय — श्रीकैलास आश्रम ऋषिकेश (उ० प्र०)
पिनः २४९२०१ दूरभाषः (०१३५) ४३०५९८
कैलासविद्या प्रकाशन, श्री कैलास आश्रम, ऋषिकेश (उ० प्र०)

षष्ठ कैलासपीठाधीश्वर विद्यावाचस्पति

अनन्तश्री स्वामी विष्णुदेवानन्द गिरि जी महाराज

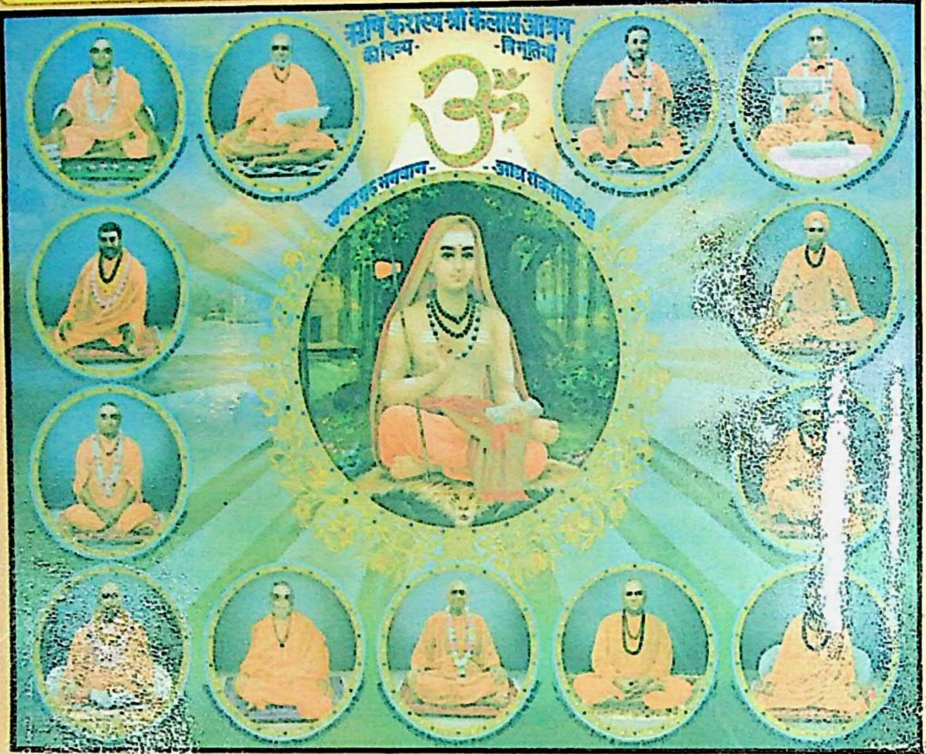
(बड़े महाराज जी)



आपका जन्म धर्मप्रधान सौराष्ट्र प्रदेश के भावनगर मण्डलान्तर्गत तलगाजरडा निवासी वैष्णव परिवार में सन् १८८५ ई. में हुआ। माता पिता ने आपका विष्णु दास हरियाणी नाम रखा। आप बाल्यावस्था से ही विरक्त स्वभाव, धर्म एवं ईश्वर में पूर्ण निष्ठा रखने वाले थे। शिक्षा के लिए पिताजी और बड़े भ्राता श्रीत्रिभुवन दास हरियाणी जी की अनुमति से पहले बड़ौदा गये और वहाँ से भगवान् विश्वनाथ की नगरी काशी पहुँचे जहाँ नव्य व्याकरण, साहित्य तथा दर्शन विषयों को लेकर तीन बार सम्पूर्ण मध्यमा परीक्षा आपने उत्तीर्ण की। वेदान्त अध्ययन की अभिलाषा को लेकर आप ऋषिकेश कैलास आश्रम पहुँचे। तब से सदा-सदा के लिये आप कैलास आश्रम के ही हो गये। वहाँ लघु एवं बृहत् प्रस्थान त्रयी का गम्भीर अध्ययन आपने स्वामी गोविदानन्द गिरि जी महाराज एवं विद्यानिधि स्वामी प्रकाशानन्द पुरी जी महाराज से किया। दोनों गुरुजनों ने अपने जीवन के संजोये सम्पूर्ण विद्याधन का उत्तराधिकारी आपको ही बनाया। कैलास आश्रम के तत्कालीन पीठाचार्य श्री स्वामी जनार्दन गिरि जी महाराज के पवित्र कर कमलों द्वारा आपका संन्यास संस्कार सम्पन्न हुआ और तब से आप का नाम स्वामी विष्णुदेवानन्द गिरि जी पड़ा। आप अनुपम विद्वान् होने के साथ, कुशल कवि, संगीतज्ञ और समस्त दैवी गुणों के भण्डार थे। इच्छा न होते हुये भी गुरुदेव स्वामी गोविन्दानन्द गिरि जी महाराज की आज्ञा शिरोधार्य कर वि. सं. १९९५ में आपने कैलासपीठाधीश्वर के पद को स्वीकार किया।

कैलासपीठ पर आप १२ वर्षों तक विराजमान रहे। तत्पश्चात् स्वाभाविक उदासीनता एवं स्वास्थ्य की शिथिलता के कारण पदभार स्वामी निर्दोषानन्द गिरि जी को सौंप दिया और स्वयं जीवन मुक्ति का आनन्द लेते हुये उत्तर काशी में १२ वर्ष निवास किया। आप वै.कृ. ६ वि. सं. २०२९ को ब्रह्मलीन हो गये। आपकी जन्म शताब्दी १९८५-८६ ई. में वर्ष पर्यन्त बड़े धूम-धाम से मनाई गई जिसमें प्रगति के अनेकों कार्य सम्पन्न हुये। सन् १९९६ में अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त आपके वंशज पौत्र (ज्येष्ठ भ्राता के पौत्र) विश्वसंत श्री मोरारी बापू ने कैलास आश्रम में आपके निर्वाण रजत महोत्सव के पावन प्रसंग पर "गुरुजन समाराधन श्री राम कथा" करके आपको अपनी श्रद्धासुमनाञ्जलि समर्पित की।

देवानुग्रहत्रिदशकमहोत्सवप्रसङ्गे प्रकाशितम्





श्रीकैलासपीठाधीश्वर परमादर्श आ. म. मं.
श्रीमत्स्वामी विद्यानन्द गिरि जी महाराज

आप का जन्म २९ नवम्बर, सन् १९२१ को जिला पटना (बिहार) के गाजी पुर ग्राम में हुआ। आपके पिता श्रीमान् जवाहर शर्मा जी और माता श्रीमती ललिता देवी थीं। आप बाल्यकाल से ही भगवान् की उपासना में रुचि रखते थे। २० वर्ष की आयु में आपने घर गृहस्थी को त्याग कर साधु जीवन अपनाया। आपके गुरुदेव परमहंस स्वामी विज्ञानानन्द गिरि जी महाराज एवं परमगुरुदेव योगीराज स्वामी नित्यानन्द गिरि जी महाराज से आपने परमार्थ पथ की दीक्षा ली। अपनी सारस्वत साधना में आपने काशी में वेदान्त-सर्वदर्शनाचार्य तक अध्ययन कर परीक्षा पास की। तत्पश्चात् आप अध्यापन कार्य में संलग्न हुए। दस वर्षों तक दिल्लीस्थ विश्वनाथ संस्कृत महाविद्यालय के प्रधानाचार्य रहे। वहीं पर निरञ्जनपीठाधीश्वर आचार्य म.मं. स्वामी नृसिंह गिरि जी महाराज एवं निरञ्जनपीठाधीश्वर आचार्य म.मं. स्वामी महेशानन्द गिरि जी महाराज की छत्रछाया में संन्यास दीक्षा ली।

२१ जुलाई सन् १९६९ को आप कैलास ब्रह्मविद्यापीठ ऋषिकेश के महामण्डलेश्वर पद पर आसीन हुये। आपके कार्यकलापों से तव विद्यमान कैलास आश्रम के दो पूर्वाचार्य म.मं. स्वामी विष्णुदेवानन्द गिरि जी महाराज एवं म.मं. स्वामी चैतन्य गिरि जी महाराज अत्यन्त संतुष्ट हुये। आपने ग्रन्थ रचना एवं प्रकाशन में विशेष रुचि ली और अनेकों ग्रन्थों का लोककल्याणार्थ प्रकाशन बड़े धैर्यपूर्वक करवाया। आप भारत के आध्यात्मिक एवं धार्मिक क्षेत्र के आचार्यों में अग्रगण्य हैं। साधु समाज की दृष्टि में आप की क्षमता, शक्ति, लगन, तत्परता, विद्वता तपश्चर्या सहिष्णुता एवं उदारता सभी गगन-चुम्बी और अलौकिक हैं। आध्यात्मिक संस्कृति के सर्वाङ्गीन विकास और जन जीवन को दिव्यालोक प्रदान करने में आपने युगपुरुष की भूमिका निभाई है।

१० दिसम्बर १९९६ को आपके पावन जीवन के ७५ वर्ष पूर्ण होने पर आपका अमृत महोत्सव सन्तों एवं भक्तों ने बड़ी धूमधाम से मनाया और आपके सुदीर्घ स्वस्थ जीवन की आशुतोष भगवान् शंकर से प्रार्थना की। आषाढ़ शु. ७ वि. सं. २०५५ से सवा वर्ष पर्यन्त कैलासाश्रम में आपके पीठासीन हुए तीस वर्ष होने के उपलक्ष्य में "देवानुग्रह त्रिदशक" महोत्सव मनाया जा रहा है।

Price : Rs. 75.00

ISBN 81-900625-9-x